8161

!! श्रीः !!

चौखम्बा आयुर्विज्ञान ग्रन्थमाला
83

प्रैक्टिस ऑफ आयुर्वेदिक मेडिसिन

PRACTICE OF AYURVEDIC MEDICINE

(कायचिकित्सा)

लेखक

प्रो. अरुण कुमार त्रिपाठी

एम. डी. (कायचिकित्सा), पी-एच. डी.
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष : कायचिकित्सा विभाग
राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

प्राक्कथन

प्रो. रामहर्ष सिंह

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

REFERENCE ONLY

प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001
दूरभाष : 0542 2335263
ई-मेल : csp_naveen@yahoo.co.in

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

प्रथम संस्करण 2010 ई.
मूल्य : 275.00

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस

4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली 110002
दूरभाष : 011 23286537
ई-मेल : chaukhamba_neeraj@yahoo.com

❖

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो. बा. नं. 2113
दिल्ली 110007

❖

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069,
वाराणसी 221001

816)

प्राक्कथन

तदेव युक्तं भैषज्यं यदारोग्याय कल्पते।
स चैव भिषजां श्रेष्ठो रोगेभ्यो यः प्रमोचयेत्॥

(च. सू. 1:135)

याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां स्मृतम्॥

(च. सू. 16:34)

प्रो. अरुण कुमार त्रिपाठीकृत 'प्रैक्टिस ऑफ आयुर्वेदिक मेडिसिन' (कायचिकित्सा) ग्रन्थ की प्रीप्रेस प्रति पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ। यह पुस्तक कायचिकित्सा विषय के सैद्धान्तिक व आतुरीय पक्ष को संक्षेप रूप से सरल एवं सुबोध भाषा में प्रस्तुत करती है। लेखक स्वयं एक सफल शिक्षक तथा चिकित्सक हैं और उन्होंने विषय को सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है, जो सर्वथा श्लाघनीय है।

मैं लेखक प्रो. अरुण कुमार त्रिपाठी को वर्षों से व्यक्तिगत रूप से जानता हूँ। वे अपने स्नातकोत्तर अध्ययन काल में मेरे सुयोग्य छात्र रह चुके हैं और उन्होंने अपनी एम. डी. तथा पी-एच.डी. का शोध-प्रबन्ध मेरे निर्देशन में ही प्रस्तुत किया था, जो आज भी प्रचुर मौलिक पठनीय सामग्री प्रस्तुत करते हैं। सम्प्रति वे उत्तराखण्ड के राजकीय गुरुकुल आयुर्वेद महाविद्यालय में प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष पद पर कार्यरत हैं। मैं उन्हें कायचिकित्सा-विषयक नवीन ग्रन्थ की रचना के लिये बधाई देता हूँ। आशा है, यह ग्रन्थ अपने भावी पाठकों के बीच समादृत होगा।

कायचिकित्सा आयुर्वेद का प्रमुख अंग तो है ही, यह आयुर्वेद के अष्टांगों में सबसे पूर्णता-युक्त तथा जीवन्त अंग भी है। वर्षों तक 'कायचिकित्सा' पूर्ण आयुर्वेद का पर्याय बनकर एकछत्र राज करता रहा है। कायचिकित्सकों ने ही अपने आयुर्ज्ञान तथा चिकित्सकीय कौशल एवं अबाध व्यावसायिक साधना के माध्यम से कठिनातिकठिन परिस्थितियों में भी आयुर्वेद को जीवित रखा है। अब तो आयुर्वेद का पुनः उत्थान हो रहा है और आयुर्वेद आचार्य प्रियव्रत शर्मा जी की सोच के अनुरूप अष्टांग से षोडशांग विकास की ओर अग्रसर होता हुआ अपनी संक्रमणकालीन चुनौतियों से जूझ रहा है।

इसीलिये पूर्व में भी अनेक विद्वानों ने कायचिकित्सा-विषयक दर्जनों ग्रन्थ लिखे हैं। मैंने स्वयं भी 'आयुर्वेदीय निदान-चिकित्सा के सिद्धान्त एवं प्रयोग' तथा पुनः 'कायचिकित्सा' नामक दो ग्रन्थों की रचना की है, जो छात्रों तथा शिक्षकों के बीच

REFERENCE ONLY

लोकप्रिय हैं। वस्तुतः एक ही विषय पर कई ग्रन्थों के सृजन का विशेष प्रयोजन है। विषय मूलतः एक ही होते हुये भी उसके प्रस्तुतीकरण तथा स्व-स्व विवेचन के माध्यम से प्रत्येक लेखक कुछ न कुछ नया अवश्य लिखता है, जो सर्वथा मौलिक होता है और अन्य पुस्तकों में नहीं होता। इसलिये आवश्यक है कि विषय-अध्येता तथा छात्रों को चाहिये कि वे प्रत्येक विषय की कई पुस्तकों को पढ़ें और विभिन्न लेखकों के विचारों से अवगत हों।

आयुर्वेद पिण्ड-ब्रह्माण्ड के एकाकार के सिद्धान्त पर आधारित शास्त्र और कौशल-प्रधान विज्ञान है। यह लोक-पुरुष साम्य, स्वभावोपरमवाद तथा साम्य-वैषम्य के सिद्धान्तों के अनुरूप द्रव्यभूत-अद्रव्यभूत विधाओं से रोगनिवारण एवं प्रकृति-स्थापन के प्रति समर्पित शास्त्र है। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु आयुर्वेद में नैष्ठिकी तथा लौकिकी चिकित्सा तथा पुनः दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय तथा सत्त्वावजय चिकित्सा का विकास किया गया था। आदिकालीन आयुर्वेदाचार्यों ने 'शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगरूप' आयु (जीव) के विज्ञान के रूप में आयुर्वेद को नित्य एवं शाश्वत ज्ञान स्वीकार किया है— शाश्वतोऽयमायुर्वेदः। परन्तु कई बार प्रश्न उठाये जाते हैं कि यदि आयुर्वेद नित्य व शाश्वत है तो आज आयुर्वेद की कई ओषधियाँ शास्त्रोक्त प्रभाव क्यों नहीं दिखा पा रही हैं और नित्य-शाश्वत शास्त्र के रहते नव्य अनुसन्धान तथा नवीन आयुर्वेदीय औषधियों के विकास की क्या आवश्यकता है? इस सन्दर्भ में यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि आयुर्वेद को 'नित्य' व 'शाश्वत' विशेषण विशेषतः आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्तों तथा आयुर्वेद की मौलिक दृष्टि को दिया गया है, न कि आयुर्वेद की औषधियों को। मौलिक सिद्धान्त नित्य एवं शाश्वत हैं, उन्हें आज भी आधुनिक विज्ञान नकार नही पाया है; अपितु विज्ञान के बढ़ते कदम के साथ-साथ आयुर्वेद की सत्यता और भी दृढ़ होती जा रही है। स्थूल औषधियाँ और उनकी प्रयोग-विधि नित्य एवं शाश्वत नहीं है, उन्हें तो देश-काल के अनुरूप बराबर बदलते रहने की जरूरत है। पूर्वाचार्यों ने भी ऐसा ही किया है। कोई स्थूल पदार्थ औषधि आहार आदि दिक्जयी-कालजयी भाव नहीं हैं, उनकी योजना के सिद्धान्त भले ही शाश्वत हों। ऐसे में यदि आज के आयुर्वेद चिकित्सक आयुर्वेदिक औषधियों को भी नित्य व शाश्वत मान कर हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं तो यह उनकी भूल है। आयुर्वेदाचार्यों को भी अपने अस्त्र-शस्त्र-औषधादि को निरन्तर देश-कालानुसार परिमार्जित-परिवर्धित करते रहना चाहिये। यही तात्पर्य है वाग्भट की उस उक्ति का जहाँ आयुर्वेद को युगानुरूप बनाते रहने का आग्रह किया गया है— युगानुरूप सन्दर्भो विभागेन करिष्यते। (अ. सं. सू. 1/10)।

इसीलिये आज आयुर्वेद में अनुसन्धान परम आवश्यक है। इसके अभाव में ही आयुर्वेद पिछड़ता गया है और आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान अपनी तकनालॉजी के सहारे बढ़ता जा रहा है, यद्यपि कि आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान के मूलभूत सिद्धान्त उतने सुस्थिर नहीं हैं, फिर भी उसका वर्चस्व बना हुआ है।

आयुर्वेद का मूल सिद्धान्त शरीर-सत्त्व-आत्मा के एकत्व पर केन्द्रित है— 'सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्' (च. सू. 1/46)। आजकल इसी भाव को 'इन्टिग्रेटिव मेडिसिन' कहा जाने लगा है जहाँ शरीर, मन तथा आत्मा के एकाकार को जीव तथा जीवनी विधा का मूल आधार स्वीकार किया गया है। शब्दतः, शब्दार्थतः, सिद्धान्ततः तथा व्यवहारतः सच्चे अर्थ में आयुर्वेद ही 'इन्टिग्रेटिव मेडिसिन' है। यहाँ 'आयु' अर्थात् जीव की उपरोक्त कल्पना के अनुरूप ही 'स्वास्थ्य' को भी पारिभाषित किया जाता है। चरकोक्त 'शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्' तथा 'सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्' के अनुरूप ही महर्षि सुश्रुत ने 'समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः, प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते' द्वारा स्वास्थ्य की सर्वथा पूर्ण परिभाषा दी है, जो आज विश्व स्वास्थ्य संगठन (W.H.O.) द्वारा स्वीकृत स्वास्थ्य/हेल्थ (Health) की परिभाषा के समकक्ष खड़ी है। यही है—आयुर्वेद की नित्य व शाश्वत दृष्टि का प्रमाण।

इसी प्रकार व्याधि तथा व्याधि-हेतुओं के आख्यान में भी इन्टिग्रेटिव दृष्टि अपनायी गयी है। आयुर्वेद प्रत्येक रोग में शरीरेन्द्रियसत्त्वात्म पक्ष की भूमिका इंगित करता है। दुःखानुभूति सहित निजागन्तु मानसादि व्याधियों में काल-बुद्धि-इन्द्रियार्थ के अयोग-अतियोग-मिथ्या योग (काल-परिणाम, प्रज्ञापराध, असात्म्य-इन्द्रियार्थ-संयोग) के कारणत्व तथा उनके आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक आदि भेद-प्रभेद उसी सिद्धान्त की ओर संकेत करते हैं।

कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च।
द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसंग्रहः ॥

(च. सू. 1/54)

स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा तथा आतुर के विकार का प्रशमन—यही आयुर्वेद के दो मूल उद्देश्य हैं—'स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनम्' (चरक)। स्वास्थ्य-परिरक्षण मूलतः स्वस्थवृत्त-विज्ञान का विषय है। आतुर विकार-प्रशमन काय-चिकित्सा का क्षेत्र है। कायचिकित्सक 'भिषक्कर्मसिद्धि' हेतु रोगी-रोग-परीक्षापूर्वक रोग-निदान करके निदानपरिवर्जन तथा संशोधन-संशमन द्वारा सम्प्राप्ति-विघटन के माध्यम से रोगनिवारण करने का प्रयास करता है। आयुर्वेदीय निदान-पद्धति में रोगी तथा रोग को अलग-अलग करके परीक्षण करने की अवधारणा तथा रोगी की प्रकृति तथा उसके स्वास्थ्यांश के मूल्यांकन की आयुर्वेदीय सोच अत्यन्त मौलिक है। रोगी में मात्र रोग पर ही दृष्टि न लगाकर आयुर्वेद रुग्ण व्यक्ति की प्रकृति तथा उसके अवशिष्ट स्वास्थ्यांश के परीक्षण पर अधिक बल देता है, क्योंकि रोगी के रोगमुक्त होकर स्वास्थ्य-लाभ करने में केवल रोग की औषधीय चिकित्सामात्र का योगदान न होकर रोगी की नैसर्गिक प्रकृति तथा उसके बचे हुये स्वास्थ्यांश का भी भारी योगदान होता है। इस प्रकार आयुर्वेद एक सकारात्मक होलिस्टिक डायग्नास्टिक्स की अवधारणा प्रस्तुत करता है, जो अद्वितीय है।

आयुर्वेद में रोग की चिकित्सा का प्रथम सूत्र है—निदान परिवर्जन—'संक्षेपत: क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्' (सुश्रुत)। निदान-परिवर्जन कर देने से अधिकांश रोग स्वत: शान्त हो जाते हैं, क्योंकि रोगी के शरीर में व्याधिक्षमत्व नैसर्गिक रूप से प्रदत्त है, जो 'स्वभावोपरमवाद' के सिद्धान्तानुसार रोगमुक्ति में स्वत: सहायक होता है। अन्य दशाओं में स्थापित रोग का 'सम्प्राप्ति विघटन' करके 'प्रकृतिस्थापन' करने का निर्देश है। व्याधि-सम्प्राप्ति में दोष-दूष्य-अधिष्ठान/स्रोतस् घटकस्वरूप उपस्थित होते हैं, इनके विघटन के लिये संशोधन-संशमन की प्रक्रिया की जाती है। पंचकर्मादि संशोधन क्रियाओं से स्रोतोप्रसादन हो जाने से दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छना स्वयं रुक जाती है; क्योंकि 'खवैगुण्य' (स्रोतोदृष्टि) ही दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छना को प्रेरित करता है।

इसीलिये आयुर्वेदीय चिकित्सा में पंचकर्मादि संशोधन विधाओं का विशेष महत्त्व है। तदनन्तर औषधि, अन्न (आहार), विहार योजना (युक्ति) द्वारा 'धातुसाम्य' पुन:स्थापित किया जाता है और फिर 'प्रकृतिस्थापन' होता है। प्रकृतिस्थापन चिकित्सा का पर्याय शब्द है। इस प्रकार रोग समूल नष्ट हो जाता है और उसका पुनर्भव नहीं होता। इस उद्देश्य-पूर्ति हेतु षोडशकलायुक्त चिकित्सा चतुष्पादपूर्वक युक्ति-युक्त कर्म निर्दिष्ट है।

भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्।
गुणवत् कारणं ज्ञेयं विकारव्युपशान्तये ॥

(च. सू. 9/3)

मात्राकालाश्रया युक्तिः सिद्धिर्युक्तौ प्रतिष्ठिता।
तिष्ठत्युपरि युक्तिज्ञो द्रव्यज्ञानवतां सदा ॥

(च. सू. 2/16)

आयुर्वेदीय चिकित्सा में रोगमुक्ति एवं स्वास्थ्यलाभ अर्थात् हिलिंग की जैविक प्रक्रिया में मूलभूत रूप से दो सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण हैं—प्रथम 'स्वभावोपरमवाद' तथा सामान्य-विशेष सिद्धान्त के अनुरूप साम्य-वैषम्य नियमन और 'धातुसाम्य' का पुन: स्थापन। चरकसंहिताकार ने सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय में उल्लेख करके संकेत दिया है कि सामान्य-विशेष सिद्धान्त तथा स्वभावोपरमवाद प्रकृति के नियम हैं और आद्य आयुर्वेदाचार्यों ने प्रकृति में घटित हो रहे परिवर्तनों के गम्भीर अध्ययन के उपरान्त ही इन सिद्धान्तों को आयुर्वेदीय चिकित्सा का मूलाधार बनाया है।

सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्।
ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु ॥

(च. सू. 1/44)

जायन्ते हेतुवैषम्याद्विषमा देहधातवः।
हेतुसाम्यात् समास्तेषां स्वभावोपरमः सदा ॥

(च. सू. 16/27)

आयुर्वेदीय स्वस्थवृत्त एवं चिकित्सा की मूल दृष्टि के पूर्णत्व की कल्पना त्रिसूत्र आयुर्वेद के माध्यम से की गयी है—'हेतुलिंगौषधिज्ञानं त्रिसूत्रमयमायुर्वेदः' (च. सू. 1)।

वस्तुत: आयुर्वेद का त्रिसूत्र व्याधिहेतु, लिंग तथा औषधि मात्र तक सीमित नहीं है। इसमें आयुर्त्रिदण्ड, त्रिगुण, त्रिदोष, त्रिदेश, त्रिकाल, त्रिविध हेतु (असात्म्य काल-बुद्धि-इन्द्रियार्थ), निजागन्तु-मानसादि व्याधिभेद तथा तत्सम विविध जीवनीय तथा चिकित्सकीय भाव निहित हैं। इन सबका सम्पूर्णात्म ज्ञान और क्रियाकौशल ही त्रिसूत्र आयुर्वेद है। त्रिसूत्र आयुर्वेद मात्र हेतु-लिंग-औषधि का सतही ज्ञान नहीं है। इसमें आधाररूप से उपरोक्त सभी मूलभूत भाव समाहित हैं। यही है भावना त्रिसूत्र आयुर्वेद की। यदि इस भावना से आयुर्वेद को पूर्णतापूर्वक समझ लिया जाय और तदनुरूप चिकित्सा-कर्म किया जाय तो इस क्षेत्र की सभी शंकाओं तथा सिद्धि बाधाओं का निवारण हो जायेगा और आयुर्वेद अपने सहज व्यापक स्वरूप में एक शाश्वत शास्त्र के रूप में पुन: अवतरित हो सकेगा, जो अवश्य ही दिक्जयी व कालजयी विज्ञान है। दुर्भाग्य से हम सभी आज आयुर्वेद को तोड़-मरोड़ कर टुकड़े-टुकड़े में देखने का प्रयास करते हैं, जिससे आयुर्वेद का आयुर्वेदत्व समाप्त हो जाता है।

आज एक बार पुन: आयुर्वेद को इसके मौलिक स्वरूप में उपस्थापित करने की आवश्यकता है, ताकि यह सही अर्थों में विश्वायतन चिकित्सा-पद्धति बन सके।

जाठरः प्राणिनामग्निः काय इत्यभिधीयते।
यस्तं चिकित्सेद्विकृतं स वै कायचिकित्सकः ॥

लेखक, प्रकाशक तथा प्रिय पाठकों को शुभकामनाओं सहित।

धन्वन्तरि जयन्ती, 2009
वाराणसी

प्रो. रामहर्ष सिंह
इमेरिटस प्रोफेसर, कायचिकित्सा विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, कायचिकित्सा
डीन, आयुर्वेद संकाय, का.हि.वि.वि.
कुलपति, राजस्थान आयुर्वेद विश्वविद्यालय, जोधपुर

भूमिका

आयुर्वेद विश्व की प्राचीनतम चिकित्सा-पद्धति है। यह एक सम्पूर्ण चिकित्सा विज्ञान है। इसमें कोई शक नहीं कि एक समय आयुर्वेद के आठो अङ्ग (अष्टाङ्ग आयुर्वेद) पूर्ण विकसित एवं आयुर्वेद के मूल उद्देश्य को परिपूर्ण बनाने में सहायक रहे होंगे; परन्तु वर्त्तमान में आयुर्वेद का जो स्वरूप हम सबके सामने है, वह सम्पूर्ण आयुर्वेद का न होकर मात्र उसके एक अङ्ग—कायचिकित्सा/प्रैक्टिस ऑफ आयुर्वेदिक मेडिसिन का ही स्वरूप है।

आयुर्वेद अब मात्र भारत देश तक ही सीमित न रहकर विश्वव्यापी स्वरूप को प्राप्त कर रहा है तथा विश्व स्वास्थ्य को समृद्ध कर रहा है। जितनी तेजी से आयुर्वेद का वैश्वीकरण हो रहा है, उतनी ही तेजी से आयुर्वेद के पठन-पाठन पर भी ध्यान देने की जरूरत है। संहिताग्रन्थों की भाषा तथा ज्ञानगूढ़ता को आधुनिक परिवेश में विद्यार्थियों के लिये ग्राह्य बनाना एक चुनौती है। इसीलिये कायचिकित्सा से सम्बन्धित अनेकानेक पुस्तकें दिनोंदिन प्रकाशित हो रही हैं।

मैंने अपने डेढ़ दशक से ज्यादा के अध्यापन एवं चिकित्सा-काल में यह अनुभव किया है कि विद्यार्थियों को वैज्ञानिकतापूर्ण तरीके से विषय-ज्ञान एवं पाठन-सामग्री उपलब्ध कराने की अभी भी आवश्यकता है। छात्र मूल ग्रन्थ (Text Book) को पढ़ना तो चाहता है; परन्तु अध्ययन-काल में इस प्रकार का गूढ़ एवं विस्तृत अध्ययन कई बार असम्भव-सा प्रतीत होता है। इसीलिये छात्र हमेशा एक ऐसी कायचिकित्सा-विषयक सहायक पुस्तक की खोज में रहता है, जिसमें मानकपूर्ण तरीके से, संक्षेप में तथा सरल भाषा में सम्पूर्ण पाठ्यक्रम की सामग्री उपलब्ध हो। मैंने अद्यावधि उपलब्ध सभी कायचिकित्सा-विषयक सहायक ग्रन्थों का अवलोकन किया; परन्तु मुझे इस प्रकार की पुस्तक की अनुपलब्धता ही लगी। इसी कारण से उपरोक्त सभी बातों को ध्यान में रखकर इस पुस्तक की रचना करने के लिये मैं प्रेरित हुआ। प्रस्तुत पुस्तक में भारतीय केन्द्रीय चिकित्सा परिषद् (C.C.I.M.) द्वारा निर्धारित कायचिकित्सा-विषयक पाठ्यक्रम में निर्दिष्ट समस्त विषयों को समाहित किया गया है। विषय को 'नातिसंक्षेपेण विस्तारयति' के सिद्धान्त तथा पर्याप्त ग्राह्यता को ध्यान में रखकर वर्णित किया गया है। छात्रों की ग्राह्यता को ध्यान में रखते हुये बहुत अधिक श्लोक आदि से विषय को मुक्त रखा गया है; परन्तु आवश्यकतानुसार श्लोक को बीच-बीच में या नीचे फुटनोट के रूप में उल्लिखित भी किया गया है, जिससे कि विषय की गम्भीरता तथा ग्राह्यता बनी रहे। आधुनिक दृष्टि से विद्यार्थियों में विषय-ग्राह्यता बढ़ाने के लिये यथास्थान

सारिणी, रेखाचित्र आदि के प्रयोग द्वारा विषय को सुस्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। मात्र एक पुस्तक में ही परीक्षोपयोगी समस्त सामग्री विद्यार्थियों को सुगमतया उपलब्ध हो—यही इस पुस्तक का मूल उद्देश्य है।

वर्त्तमान समय के आयुर्वेद-पाठ्यक्रम में निदान तथा चिकित्सा विषय अलग-अलग पढ़ाये जाते हैं; परन्तु मेरा मानना है कि मूल रूप से ये दोनों ही विषय पृथक्-पृथक् न होकर एक-दूसरे के पूरक हैं तथा आयुर्वेद विद्या में इन दोनों ही विषयों का समन्वित ज्ञान कराना समीचीन प्रतीत होता है। इसी दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक में निदान तथा चिकित्सा—दोनों पक्षों पर बराबर ध्यान दिया गया है। विषय का वर्णन बिन्दुओं के आधार पर किया गया है, जिससे विषय नीरस न बने। यथावश्यक विषयों का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया है तथा चिकित्सा का वर्णन करते समय सामान्य चिकित्सा के साथ-साथ व्यवस्थापत्र का भी वर्णन किया गया है, जिससे छात्र को चिकित्साक्षेत्र में प्रवृत्त होते समय किसी भी प्रकार की कठिनाई का सामना न करना पड़े।

इस ग्रन्थ-लेखन के प्रेरणास्रोत अपने पूज्य गुरुवर ख्यातिप्राप्त चिकित्सक, शिक्षक एवं शोधकर्ता प्रो० रामहर्ष सिंह, पूर्व कुलपति—राजस्थान आयुर्वेद विश्वविद्यालय, जोधपुर का मैं हृदय से ऋणी हूँ, जिनका उपयोगी मार्गदर्शन मुझे हमेशा प्राप्त होता रहा है तथा जिन्होंने स्वलिखित प्राक्कथन के द्वारा हमारी इस कृति को गौरवान्वित भी किया है। इसके अतिरिक्त मैं आभार-प्रदर्शन करता हूँ—प्रो. बी. एन. उपाध्याय, विभागाध्यक्ष-कायचिकित्सा, चिकित्सा विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी का, जो सदैव ही अपने पावन स्नेह से मुझे सिञ्चित करते रहे हैं।

पुस्तक के संकलन में मेरे कई छात्रों ने मुझे अनथक सहयोग प्रदान किया है, जिसके लिये उनको भी धन्यवाद प्रदान करना मैं अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ।

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी का मैं हृदय से आभारी हूँ, जिनके अथक प्रयास से ही प्रकृत पुस्तक प्रकाशित होकर मूर्त्त स्वरूप ग्रहण कर सकी है।

मैं अपने पाठकों का आभारी हूँ, जिनके सुझाव व दिशानिर्देश हमें प्राप्त होते रहे हैं तथा उनके अनुसार प्रस्तुत ग्रन्थ में यथासम्भव सुधार करने का भी मैंने प्रयास किया है। आगे भी मैं अपने सुधी पाठकों के आवश्यक सुझावों को हृदय से आत्मसात् करने का प्रयास करूँगा। सम्मानित पाठकों के रचनात्मक सुझावों का मैं सतत आकांक्षी हूँ।

हरिद्वार

प्रो. अरुण कुमार त्रिपाठी

।। श्रीः ।।

विषयानुक्रम

प्रथमखण्ड : सैद्धान्तिक पक्ष

विषय	पृष्ठ
1. विषय-प्रवेश	**3-59**
✦ कायचिकित्सा की परिभाषा एवं लक्षण	3
✦ 'काय' का विशेष अर्थ	4
✦ 'चिकित्सा' का विशेष अर्थ	4
✦ आयुर्वेद के उद्देश्य	4
✦ (क) रोगनिवारक चिकित्सा	5
✦ दैवव्यपाश्रय	5
✦ युक्तिव्यपाश्रय	5
✦ सत्त्वावजय	5
✦ (ख) रोगनिरोधक चिकित्सा	5
✦ चिकित्सा के पर्याय	5
✦ चिकित्सा-पाद	5
✦ भिषक् के गुण	6
✦ औषध के गुण	6
✦ उपस्थाता (परिचारक) के गुण	6
✦ रोगी के गुण	7
✦ चिकित्सा के भेद	7
✦ द्विविध भेषज या चिकित्सा	7
✦ त्रिविध एवं अन्य चिकित्सा	8
✦ आयुर्वेद चिकित्सा के सिद्धान्त	9
✦ द्विविध उपक्रम	11
✦ सन्तर्पण	11
✦ सन्तर्पणोत्कल्पन	11
✦ अपतर्पण	12
✦ लंघन	12
✦ लंघन-पाचन	12
✦ दोषावसेचन	12
✦ वाग्भटकृत अपतर्पण-भेद	13
✦ षडुपक्रम	14
✦ बृंहण	15
✦ स्नेहन	16
✦ स्तम्भन	16
✦ लंघन	17
✦ रूक्षण	17
✦ स्वेदन	18
✦ दोषोपक्रम	18
✦ वात के उपक्रम	18
✦ पित्त के उपक्रम	18
✦ कफ के उपक्रम	19
✦ व्याधिभेदानुरूप चिकित्सा	19
✦ स्थानानुरूप चिकित्सा	19
✦ लक्षणानुरूप चिकित्सा	20
✦ दूष्य-देशाद्यनुरूप चिकित्सा	20
✦ दूष्य	20
✦ धातुओं की चिकित्सा में विशेष व्यवस्था	21
✦ दोषों का कोष्ठ से शाखागमन	21
✦ दोषों का शाखा से कोष्ठ में गमन	21
✦ देश	22

विषय	पृष्ठ
✦ काल	22
✦ बल	22
✦ अनल	22
✦ प्रकृति	22
✦ वय	22
✦ सात्म्य	22
✦ सत्त्व	23
✦ आहार	23
✦ स्रोतोनुरूप चिकित्सा	24
✦ आवरण-चिकित्सा	24
✦ भेषज (औषध)-प्रयोग	25
✦ भेषज की विपरीत गुणता	27
✦ भेषज-प्रयोग में अवधेय	27
✦ औषध-सेवन काल	28
✦ प्रमाण	30
✦ सात्म्यासात्म्य	31
✦ भेषज का विपरीतार्थकारी स्वरूप	31
✦ व्याधिक्षमत्व	32
✦ सहज व्याधिक्षमता	32
✦ जन्मोत्तर व्याधि क्षमता	33
✦ युक्तिकृत्	34
✦ सात्म्यज	35
✦ पथ्यापथ्य	35
✦ आहारयोजना	36
✦ आहारविधि-विशेषायतन	37
✦ असम्यक् प्रयुक्त आहार	38
✦ द्वादश अशन विचार	38
✦ विरुद्धाहार या वैरोधिक आहार के घटक	38
✦ विहार का पथ्यत्व एवं अपथ्यत्व	39
✦ वातादि रोगों में पथ्यापथ्य	40
✦ अनुपान	42
✦ अनुपान-सिद्धान्त	43
✦ दोषानुसार अनुपान	43
✦ रोगानुसार अनुपान	43
✦ स्नेहानुसार अनुपान	44
✦ अनुपान में वर्ज्य	44
✦ दोषों के वृद्धि-क्षय के लक्षण	44
✦ धातुओं के क्षय-वृद्धि के लक्षण	46
✦ मलों के क्षय-वृद्धि के लक्षण	48
✦ क्रियाकाल	50
✦ व्यापन्न ऋतु	51
✦ व्यापन्न ऋतुओं में रोग का कारण	52
✦ वात	52
✦ पित्त	53
✦ कफ	53
✦ दोष-दूष्य का आश्रयाश्रयीभाव	54
✦ आम	54
✦ आम दोष के कार्य	55
✦ आमवात	55
✦ आमवात की तीव्र अवस्था	56
✦ आमवात की जीर्णावस्था	56
✦ आमवात का पूर्वरूप	56
✦ आमवात का सामान्य लक्षण	57
✦ आमवात के भेद	57
✦ आमवात का उपद्रव	57
✦ आमवात की साध्यासाध्यता	58
✦ चिकित्सा-सिद्धान्त	58
✦ आवृत वात की चिकित्सा	59
2. व्याधि-वर्गीकरण	**60-70**
✦ आदिबलप्रवृत्त व्याधि	60
✦ जन्मबलप्रवृत्त व्याधि	60
✦ दोषबलप्रवृत्त व्याधि	60
✦ संघातबलप्रवृत्त व्याधि	60
✦ कालबलप्रवृत्त व्याधि	61
✦ दैवबलप्रवृत्त व्याधि	61
✦ स्वभावबलप्रवृत्त व्याधि	61

विषय	पृष्ठ
✦ प्राकृत-विकृत भेद से व्याधि	61
✦ अनुबन्ध्यनुबन्धभेद से व्याधि	61
✦ प्रभावभेद से व्याधि	62
✦ अधिष्ठानभेद से व्याधि	62
✦ बलभेद से व्याधि	62
✦ कारण भेद से व्याधि	62
✦ अव्याधिक्षम	62
✦ व्याधिक्षम शरीर	62
✦ आठ निन्दित पुरुष	63
✦ अष्टौ महागदाः	63
✦ मार्गाश्रित रोग	64
✦ दोषगति-निरूपण	65
✦ कुपित दोषों के कर्म	66
✦ रोग एवं रोगमार्ग	67
✦ वातादिभेद से व्याधिभेद	68
✦ दूष्यभेद से व्याधिभेद	68
✦ प्राकृत-वैकृत व्याधिभेद	69
✦ अनुबन्ध्यनुबन्ध भेद से व्याधिभेद	69
✦ दश रोगानीकम्	69
✦ औपसर्गिकादि भेद से त्रिधा व्याधि	70
✦ दोषज-कर्मज-दोषकर्मजभेद त्रिधा व्याधि	70
✦ सुखसाध्य व्याधि	70
3. रोगी-रोगपरीक्षा	**71-114**
✦ परीक्षा का प्रयोजन	71
✦ रोगी-रोग परीक्षा	71
✦ रोग-परीक्षा	72
✦ निदानपञ्चक	72
✦ निदान	72
✦ पूर्वरूप	73
✦ रूप	73
✦ उपशय	74
✦ सम्प्राप्ति	75
✦ त्रिविध परीक्षा	76

विषय	पृष्ठ
✦ चतुर्विध परीक्षा	77
✦ आप्तोपदेश	78
✦ प्रत्यक्ष	79
✦ अनुमान परीक्षा	80
✦ युक्तिपरीक्षा	81
✦ षड्विध परीक्षा	82
✦ श्रोत्रविज्ञेय	82
✦ स्पर्शनेन्द्रिय-विज्ञेय	83
✦ शोथ, ग्रन्थि, अर्बुद आदि की स्पर्श-परीक्षा	84
✦ स्पर्श द्वारा चलता-अचलता की परीक्षा	85
✦ अंगुलिताड़न-परीक्षा	86
✦ नेत्रेन्द्रियविज्ञेय	86
✦ जिह्वेन्द्रियविज्ञेय	86
✦ घ्राणेन्द्रियविज्ञेय	86
✦ प्रश्न द्वारा विज्ञेय	87
✦ रोगी-परीक्षा	87
✦ दर्शनादि त्रिविध परीक्षा	87
✦ दर्शन-परीक्षा	87
✦ स्पार्शन परीक्षा	88
✦ प्रश्नपरीक्षा	88
✦ आतुरबल प्रमाण-विज्ञानीय परीक्षा	90
✦ दशविध परीक्षा	90
✦ प्रकृति-परीक्षा	90
✦ विकृति-परीक्षा	92
✦ सार-परीक्षा	92
✦ संहनन-परीक्षा	94
✦ प्रमाण-परीक्षा	94
✦ सात्म्य-परीक्षा	94
✦ सत्त्व-परीक्षा	95
✦ आहारशक्ति-परीक्षा	95
✦ व्यायामशक्ति-परीक्षा	96
✦ वय-परीक्षा	96

विषय	पृष्ठ
✦ अष्टविध-परीक्षा	96
✦ नाड़ी-परीक्षा	97
✦ मूत्र-परीक्षा	101
✦ परीक्षणार्थ मूत्र-संग्रह विधि	101
✦ तैलबिन्दु द्वारा मूत्र-परीक्षा	102
✦ आकृति के आधार पर परीक्षा	103
✦ मल-परीक्षा	104
✦ साम-निराम मल की परीक्षा	105
✦ जिह्वा-परीक्षा	107
✦ शब्द-परीक्षा	108
✦ स्पर्श-परीक्षा	108
✦ दृक्-परीक्षा	109
✦ आकृति-परीक्षा	110
✦ षडङ्ग-परीक्षा	114

द्वितीय खण्ड : चिकित्सकीय-पक्ष

विषय	पृष्ठ
1. ज्वर	**117-127**
✦ ज्वर-परिचय	117
✦ ज्वर के भेद	119
✦ सामान्य निदान	119
✦ सम्प्राप्ति	119
✦ ज्वर का पूर्वरूप	119
✦ सामान्य लक्षण	120
✦ भेद एवं रूप	120
✦ सन्निपातज ज्वर	121
✦ आगन्तुज ज्वर	122
✦ पुनरावर्तक ज्वर	122
✦ विषम ज्वर	122
✦ विषम ज्वर का वर्गीकरण	123
✦ धातुगत ज्वरों के रूप	124
✦ ज्वर के उपद्रव	125
✦ साध्य-असाध्य ज्वर	125
✦ ज्वरमोक्ष के पूर्वरूप-रूप	125
✦ चिकित्सा-सिद्धान्त	125
✦ पथ्यापथ्य	126
✦ औषध-प्रयोग	126
✦ व्यवस्था-पत्र	126
2. रक्तपित्त	**128-134**
✦ रक्तपित्त की निरुक्ति	130
✦ पूर्वरूप	130
✦ उपद्रव	131
✦ साध्यासाध्यता	131
✦ चिकित्सा-सूत्र	131
✦ व्यवस्था-पत्र	133
3. पाण्डु रोग	**135-139**
✦ निदान	136
✦ लक्षण	136
✦ मृत्तिका-भक्षणजन्य पाण्डु	137
✦ चिकित्सा-सूत्र	137
✦ व्यवस्था-पत्र	138
✦ चिकित्सा सूत्र (अन्य पाण्डुरोगों में)	138
✦ व्यवस्था-पत्र	139
4. कामला	**140-147**
✦ निदान	140
✦ सम्प्राप्ति	141
✦ सम्प्राप्ति घटक	141
✦ लक्षण	141
✦ शाखाश्रित कामला	141
✦ कोष्ठशाखाश्रित कामला	142
✦ कुम्भकामला	143
✦ हलीमक	144

विषय	पृष्ठ
✦ शाखाश्रित कामला	144
✦ कोष्ठ शाखाश्रित कामला	145
✦ व्यवस्था-पत्र	147
5. कास	**148-155**
✦ निदान	149
✦ सम्प्राप्ति	149
✦ वातज कास-चिकित्सा	150
✦ पैत्तिक कास-चिकित्सा	150
✦ कफज कास-चिकित्सा	151
✦ क्षयज कास-चिकित्सा	151
✦ क्षतज कास-चिकित्सा	151
✦ सामान्य चिकित्सा-सिद्धान्त	151
✦ कास की सामान्य मुख्य औषधियाँ	152
✦ व्यवस्था-पत्र	152
6. श्वास रोग	**155-160**
✦ श्वास शब्द की निरुक्ति	155
✦ निदान व सम्प्राप्ति	156
✦ पूर्वरूप	156
✦ लक्षण	157
✦ चिकित्सा-सिद्धान्त	157
✦ व्यवस्था-पत्र	159
7. हिक्का	**161-165**
✦ निरुक्ति	161
✦ निदान व सम्प्राप्ति	162
✦ पूर्वरूप	162
✦ सामान्य रूप	163
✦ हिक्का के भेद	163
✦ हिक्का की असाध्यता	163
✦ चिकित्सा सिद्धान्त	164
✦ व्यवस्था-पत्र	165

विषय	पृष्ठ
8. राजयक्ष्मा	**166-173**
✦ राजयक्ष्मा शब्द की निरुक्ति	166
✦ निदान व सम्प्राप्ति	168
✦ पूर्वरूप	168
✦ निदानदृष्टि	169
✦ त्रिरूप राजयक्ष्मा	169
✦ षड्रूप राजयक्ष्मा	170
✦ एकादशरूप राजयक्ष्मा	170
✦ चिकित्सा-सूत्र	170
✦ व्यवस्था-पत्र	172
9. हृदय रोग	**174-183**
✦ निदान	175
✦ सम्प्राप्ति	175
✦ लक्षण	176
✦ वातिक हृद्रोग	176
✦ चिकित्सा सिद्धान्त	177
✦ व्यवस्था-पत्र	177
✦ पैत्तिक हृद्रोग	178
✦ चिकित्सा-सिद्धान्त	178
✦ व्यवस्था-पत्र	179
✦ कफज हृद्रोग	179
✦ चिकित्सा-सिद्धान्त	180
✦ व्यवस्था-पत्र	180
✦ त्रिदोषज हृद्रोग	180
✦ चिकित्सा-सिद्धान्त	180
✦ व्यवस्था-पत्र	181
✦ कृमिज हृद्रोग	181
✦ चिकित्सा-सिद्धान्त	182
✦ व्यवस्था-पत्र	182
✦ हृद्रोग में पथ्य-अपथ्य	183
10. अग्निमांद्य	**184-186**
✦ निदान	185

विषय	पृष्ठ
✦ लक्षण	185
✦ सम्प्राप्ति	185
✦ चिकित्सा सूत्र	185
✦ व्यवस्था-पत्र	186
11. अजीर्ण	**187-192**
✦ निदान	189
✦ सम्प्राप्ति	189
✦ सामान्य लक्षण	189
✦ अजीर्ण भेद	190
✦ चिकित्सा सूत्र	191
✦ व्यवस्था-पत्र	192
12. विसूचिका	**193-198**
✦ निदान	194
✦ सम्प्राप्ति घटक	194
✦ लक्षण	194
✦ असाध्यता के लक्षण	195
✦ चिकित्सा सूत्र	195
✦ औषध-प्रयोग	196
✦ व्यवस्था-पत्र	197
✦ पथ्य	197
✦ अपथ्य	198
13. अलसक/विलम्बिका	**199-202**
✦ निदान	199
✦ सम्प्राप्ति	200
✦ लक्षण	200
✦ दण्डालसक	201
✦ अलसक/विसूचिका का चिकित्सा-सूत्र	201
✦ औषध-प्रयोग	201
✦ पथ्य	202
✦ अपथ्य	202
✦ व्यवस्था-पत्र	202

विषय	पृष्ठ
14. अतिसार	**203-209**
✦ निरुक्ति	204
✦ निदान	204
✦ सम्प्राप्ति	205
✦ पूर्वरूप	205
✦ भेद	205
✦ लक्षण	206
✦ आमातिसार	206
✦ आम मल/पक्व मल का लक्षण	206
✦ आगन्तुज आमातिसार	207
✦ शोकजातिसार, रक्तातिसार और रक्तपित्त का सापेक्ष निदान	207
✦ अतिसार-प्रवाहिका-ग्रहणी का सापेक्ष निदान	207
✦ अतिसार के असाध्य लक्षण	208
✦ चिकित्सा-सूत्र	208
✦ व्यवस्था-पत्र	209
✦ पथ्यापथ्य	209
15. प्रवाहिका	**210-213**
✦ निदान	210
✦ सामान्य सम्प्राप्ति	211
✦ भेद और लक्षण	211
✦ अतिसार-प्रवाहिका का सापेक्ष निदान	211
✦ चिकित्सा-सूत्र	212
✦ व्यवस्था-पत्र	213
16. ग्रहणी	**214-219**
✦ सम्प्राप्ति	215
✦ पूर्वरूप	215
✦ सामान्य लक्षण	215
✦ ग्रहणी रोग के भेद	215
✦ तीन विशेष प्रकार के ग्रहणी रोग	216

विषय	पृष्ठ
✦ सापेक्ष निदान	217
✦ ग्रहणी की साध्यता एवं असाध्यता	218
✦ चिकित्सा-सूत्र	218
✦ व्यवस्था-पत्र	219
17. आमवात	**220-225**
✦ निदान	221
✦ सम्प्राप्ति चक्र	221
✦ दोष-दूष्य अधिष्ठान	222
✦ आमवात का सामान्य लक्षण	222
✦ आमवात की तीव्रावस्था के लक्षण	222
✦ दोषज विशेष लक्षण	222
✦ चिकित्सा-सूत्र	223
✦ व्यवस्था-पत्र	224
✦ पथ्यापथ्य	225
18. वातरक्त	**226-232**
✦ निदान	226
✦ सम्प्राप्ति	227
✦ दोष-दूष्य अधिष्ठान	227
✦ पूर्वरूप	228
✦ वातरक्त के भेद	228
✦ लक्षण	228
✦ दोष-प्रधान वातरक्त	229
✦ साध्यासाध्यता	229
✦ उपद्रव	229
✦ वातरक्त की असाध्यता का कारण	230
✦ चिकित्सा-सूत्र	230
✦ पथ्यापथ्य	231
✦ व्यवस्था-पत्र	232
19. आवृत वात	**233-244**
✦ निदान	234
✦ दोष-दूष्य अधिष्ठान	234
✦ दोष-धातु-मलावृत वात-व्याधियाँ	234
✦ दोषावृत वात-व्याधियाँ	236
✦ धातु-मलावृत वात व्याधियाँ	238
✦ अन्योन्यावृत वात-व्याधियाँ	240
✦ शेष आवरणविषयक सिद्धान्त	243
✦ विभिन्न वायु आवरणों का चिकित्सा-सूत्र	243
✦ आवृत वात की साध्यासाध्यता	243
✦ उपेक्षित आवृत वायु के उपद्रव	244
✦ पथ्य	244
✦ अपथ्य	244
20. स्तम्भक रोग	**245-252**
✦ ऐतिहासिक वर्णन	245
✦ मन्यास्तम्भ	246
✦ निदान-लक्षण	246
✦ चिकित्सा-सूत्र	246
✦ व्यवस्था-पत्र	246
✦ जिह्वास्तम्भ	246
✦ निदान-लक्षण	247
✦ चिकित्सा-सूत्र	247
✦ व्यवस्था-पत्र	247
✦ धनु:स्तम्भ	247
✦ निदान-लक्षण	247
✦ चिकित्सा-सूत्र	247
✦ व्यवस्था-पत्र	247
✦ ऊरुस्तम्भ	249
✦ निदान	249
✦ सम्प्राप्ति	250

विषय	पृष्ठ
✦ दोष-दूष्य अधिष्ठान	250
✦ पूर्वरूप-रूप	250
✦ साध्यासाध्यता	251
✦ चिकित्सा-सूत्र	251
✦ व्यवस्था-पत्र	252
✦ सापेक्ष निदान	252
21. आक्षेपक रोग	**253-256**
✦ परिभाषा	253
✦ निदान	254
✦ सम्प्राप्ति	254
✦ भेद	254
✦ अपतन्त्रक के लक्षण	254
✦ अपतानक के लक्षण	255
✦ अपतानक के भेद	255
✦ दण्डापतानक के लक्षण	255
✦ अन्तरायाम के लक्षण	255
✦ बाह्यायाम के लक्षण	255
✦ अभिघातज आक्षेपक के लक्षण	256
✦ असाध्य अपतानक के लक्षण	256
✦ चिकित्सा-सूत्र	256
✦ व्यवस्था-पत्र	256
22. वातव्याधि	**257-266**
✦ वातव्याधि की निरुक्ति	258
✦ वातवृद्धि या क्षय	258
✦ वातव्याधि के सामान्य निदान	260
✦ सम्प्राप्ति	260
✦ सम्प्राप्ति घटक	261
✦ पूर्वरूप	261
✦ रूप	261
✦ वातप्रकोप के सामान्य लक्षण	261
✦ वातव्याधियों के विशेष लक्षण	261
✦ वातव्याधि की सामान्य चिकित्सा	261
✦ वातव्याधियों का वर्गीकरण	262
✦ चिकित्सा-सूत्र	266
✦ व्यवस्था-पत्र	266
23. गृध्रसी रोग	**267-269**
✦ परिचय	267
✦ निदान	267
✦ सम्प्राप्ति	268
✦ लक्षण एवं भेद	268
✦ व्यवस्था-पत्र	269
✦ चिकित्सा-सूत्र	269
24. अर्दित	**270-273**
✦ निदान	270
✦ सम्प्राप्ति	271
✦ पूर्वरूप	271
✦ लक्षण	271
✦ चिकित्सा-सूत्र	271
✦ शिरावेध चिकित्सा	272
✦ पथ्य	272
✦ अपथ्य	273
✦ व्यवस्था-पत्र	273
25. पक्षाघात	**274-277**
✦ परिचय	274
✦ निदान	274
✦ वातव्याधि के सामान्य निदान	275
✦ वातप्रकोप के कुछ सामान्य हेतू	275
✦ पक्षाघात रोग के दोष-दूष्य अधिष्ठान	275
✦ पक्षाघात के भेद	275
✦ सम्प्राप्ति	276
✦ लक्षण एवं रूप	276
✦ साध्य-असाध्यता	276
✦ चिकित्सा-सूत्र	277
✦ व्यवस्था-पत्र	277

विषय	पृष्ठ
✦ पथ्य-अपथ्य	277
26. छर्दि	**278-283**
✦ निरुक्ति	278
✦ परिभाषा	279
✦ छर्दि के भेद	279
✦ निदान	279
✦ दोष-दूष्य-अधिष्ठान	280
✦ पूर्वरूप	280
✦ लक्षण	281
✦ छर्दि के उपद्रव	282
✦ चिकित्सा-सूत्र	282
✦ व्यवस्था-पत्र	283
27. अम्लपित्त	**284-286**
✦ निदान	285
✦ सम्प्राप्ति	285
✦ लक्षण	285
✦ अम्लपित्त प्रकार	285
✦ चिकित्सा-सूत्र	285
✦ व्यवस्था-पत्र	286
28. शूल रोग	**287-294**
✦ निरुक्ति	288
✦ भेद	288
✦ वातज शूल	289
✦ निदान	289
✦ सम्प्राप्ति	289
✦ लक्षण	290
✦ पित्तज शूल	290
✦ आहारजन्य निदान	290
✦ सम्प्राप्ति	290
✦ लक्षण	290
✦ कफज शूल	290
✦ निदान	290

विषय	पृष्ठ
✦ सम्प्राप्ति	291
✦ लक्षण	291
✦ द्वन्द्वज शूल के लक्षण	291
✦ सन्निपातज शूल के लक्षण	291
✦ आमज शूल के लक्षण	291
✦ शूल की साध्यासाध्यता	291
✦ शूल के उपद्रव	292
✦ परिणाम शूल	292
✦ अन्नद्रव शूल	292
✦ परिणाम शूल और अन्नद्रव शूल का आपेक्ष निदान	292
✦ चिकित्सा-सूत्र	293
✦ व्यवस्था-पत्र	293
29. उदर रोग	**295-326**
✦ निदान	295
✦ सामान्य सम्प्राप्ति	296
✦ सामान्य पूर्वरूप	296
✦ सामान्य लक्षण	296
✦ निदान-सम्प्राप्ति	296
✦ लक्षण	297
✦ चिकित्सा-सूत्र	299
✦ पथ्य	300
✦ अपथ्य	300
✦ उदावर्त, आनाह, आध्मान, आटोप	300
✦ उदावर्त की निरुक्ति	300
✦ निदान	300
✦ उदावर्त-भेद	301
✦ उदावर्त के सामान्य लक्षण	301
✦ उदावर्त की सम्प्राप्ति	302
✦ उदावर्त के असाध्य लक्षण	303
✦ चिकित्सा-सिद्धान्त	303
✦ आनाह	303

विषय	पृष्ठ
✦ निदान	304
✦ भेद	304
✦ लक्षण	304
✦ सम्प्राप्ति	304
✦ आमज आनाह चिकित्सा-सूत्र	304
✦ व्यवस्था-पत्र	305
✦ पुरीषज आनाह चिकित्सा-सूत्र	305
✦ व्यवस्था-पत्र	306
✦ पथ्य	306
✦ अपथ्य	306
✦ आध्मान	306
✦ चिकित्सा-सूत्र	306
✦ व्यवस्था-पत्र	307
✦ प्रत्याध्मान	307
✦ चिकित्सा-सूत्र	307
✦ व्यवस्था-पत्र	307
✦ सापेक्ष निदान	308
✦ आटोप	308
✦ चिकित्सा	308
✦ गुल्म	309
✦ गुल्म की निरुक्ति	310
✦ गुल्म के कारण	310
✦ गुल्म के पूर्वरूप	310
✦ गुल्म रोग के सामान्य लक्षण	310
✦ गुल्म की सम्प्राप्ति	312
✦ गुल्म के प्रकार	312
✦ गुल्म की चिकित्सा	312
✦ व्यवस्था-पत्र	313
✦ पथ्य	313
✦ अपथ्य	313
✦ अर्श	313
✦ अर्शोंकुर या गुदांकुर	314
✦ अर्श के निदान	315
✦ अर्श के भेद	317

विषय	पृष्ठ
✦ अर्श के सामान्य लक्षण	317
✦ अर्श के विशिष्ट लक्षण	318
✦ रक्तार्श	319
✦ सहज अर्श	319
✦ दोषज अर्शों का स्वरूप	320
✦ गुदवलित्रय का वर्णन	320
✦ सम्प्राप्ति	321
✦ दोष-दूष्य-अधिष्ठान	321
✦ सापेक्ष निदान	321
✦ अर्श-चिकित्सा	322
✦ चिकित्सा-सूत्र	322
✦ शुष्कार्श-चिकित्सा	323
✦ व्यवस्था-पत्र	323
✦ रक्तार्श-चिकित्सा	324
✦ व्यवस्था-पत्र	325
✦ अर्श के उपशय एवं अनुपशय	325
✦ अर्श की साध्यता/असाध्यता	326
✦ अर्श के उपद्रव	326
30. मेदोरोग	**327-330**
✦ निदान	327
✦ पूर्वरूप	328
✦ लक्षण	328
✦ सम्प्राप्ति	328
✦ चिकित्सा-सिद्धान्त	329
✦ चिकित्सा-सूत्र	329
✦ मेदोरोग चिकित्सार्थ विशिष्ट द्रव्य	330
✦ व्यवस्था-पत्र	330
31. तृष्णा रोग	**331-335**
✦ तृष्णा के निदान	331
✦ तृष्णा के भेद	332
✦ पूर्वरूप	332
✦ रूप	332

विषय	पृष्ठ
✦ संप्राप्ति	333
✦ दोष, दूष्य व अधिष्ठान	333
✦ असाध्यता के लक्षण	333
✦ उपद्रव	333
✦ चिकित्सा-सूत्र	333
✦ सामान्य चिकित्सा	334
✦ विशिष्ट चिकित्सा	334
✦ व्यवस्था-पत्र	335
✦ पथ्य	335
32. प्रमेह	**336-343**
✦ निरुक्ति	337
✦ सामान्य निदान	337
✦ सामान्य सम्प्राप्ति	337
✦ दोष-दूष्य-अधिष्ठान	338
✦ पूर्वरूप	338
✦ भेद	339
✦ प्रमेह के लक्षण	340
✦ उपद्रव	341
✦ प्रमेह पीडिका	341
✦ साध्यासाध्यता	342
✦ चिकित्सा-सूत्र	342
✦ मधुमेह की चिकित्सा	343
✦ व्यवस्था-पत्र	343
33. मूत्रकृच्छ्र	**344-350**
✦ मूत्रकृच्छ्र-निरुक्ति	344
✦ निदान	345
✦ मूत्रकृच्छ्र के भेद	346
✦ मूत्रकृच्छ्र और मूत्राघात में भेद	346
✦ चिकित्सा-सूत्र	347
✦ वातज मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा	347
✦ व्यवस्था-पत्र	347
✦ पित्तज मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा	347
✦ व्यवस्था-पत्र	348

विषय	पृष्ठ
✦ कफज मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा	348
✦ व्यवस्था-पत्र	348
✦ त्रिदोषज मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा	348
✦ व्यवस्था-पत्र	349
✦ शल्याभिघातज मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा	349
✦ शकृद विघातज मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा	349
✦ अश्मरी-शर्करज मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा	349
✦ शुक्रज मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा	350
✦ रक्त-मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा	350
✦ मूत्रकृच्छ्रता में पथ्य-अपथ्य सेवन	350
34. मूत्राघात	**351-355**
✦ परिभाषा	351
✦ निदान	351
✦ सम्प्राप्ति	352
✦ लक्षण	352
✦ मूत्राघात का चिकित्सा-सूत्र	353
✦ सापेक्ष निदान	355
✦ व्यवस्था-पत्र	355
✦ पथ्य	355
✦ अपथ्य	355
35. कृमि रोग	**356-364**
✦ सामान्य निदान	357
✦ विशिष्ट निदान	357
✦ सामान्य लक्षण	357
✦ चिकित्सा-सूत्र	360
✦ त्रिसूत्री सिद्धान्त	360
✦ रक्त, त्वचा, श्लैष्मिक, कला और लसीका ग्रन्थियों में स्थित कृमियों की औषध	361
✦ कृमिघ्न तथा कृमिविकार-नाशक औषधियाँ	361

विषय	पृष्ठ
✦ कृमिघ्न और रेचक द्रव्य	361
✦ कफज और पुरीषज कृमिनाशक एकल द्रव्य	362
✦ प्रसिद्ध सिद्ध औषध योग	362
✦ कृमिज पाचन विकार	362
✦ कोष्ठबद्धता	362
✦ कृमिज ज्वर	362
✦ विबन्ध	362
✦ कृमिज पाण्डु	362
✦ कृमि उत्पत्ति एवं विकार-शमनार्थ	363
✦ कृमिज जीर्ण ज्वर	363
✦ संक्रमण निरोधार्थ औषधियाँ	363
✦ दुर्गन्धनाशक औषधियाँ	363
✦ पुन: संक्रमण निवारण औषधियाँ	363
✦ रक्तज कृमिनाशक विशिष्ट औषध	363
✦ बाह्य कृमिनाशक औषधी	363
✦ व्यवस्था-पत्र	364
36. कुष्ठ रोग	**365-376**
✦ निदान	366
✦ दोष, दूष्य, अधिष्ठान, सम्प्राप्ति	367
✦ भेद	367
✦ महाकुष्ठ	367
✦ पूर्वरूप	368
✦ महाकुष्ठों के लक्षण	368
✦ क्षुद्रकुष्ठों के लक्षण	369
✦ वातज आदि कुष्ठ	370
✦ सप्तधातुगत कुष्ठ	370
✦ साध्यासाध्यता	371
✦ किलास या श्वित्र	372
✦ पर्याय	372
✦ निरुक्ति	372
✦ श्वित्र तथा किलास कुष्ठ के लक्षण	372

विषय	पृष्ठ
✦ निदान	373
✦ साध्यासाध्यता	373
✦ सापेक्ष निदान	373
✦ चिकित्सा-सिद्धान्त	374
✦ पथ्य	376
✦ अपथ्य	376
37. विसर्प	**377-385**
✦ निरुक्ति	377
✦ परिभाषा	378
✦ दोष, दूष्य, अधिष्ठान	378
✦ सामान्य निदान	378
✦ सम्प्राप्ति	379
✦ विसर्प भेद के लक्षण (अ)	380
✦ आभ्यन्तराश्रित विसर्प	380
✦ बाह्याश्रित विसर्प	380
✦ विसर्पभेद के लक्षण (ब)	380
✦ वातज	380
✦ पित्तज	380
✦ कफज	381
✦ वातपित्तज	381
✦ कफवातज	381
✦ कफपित्तज	382
✦ क्षतज विसर्प	382
✦ सन्निपातज	383
✦ साध्यासाध्यता	383
✦ चिकित्सा-सूत्र	384
✦ व्यवस्था-पत्र	384
✦ पथ्य	384
✦ अपथ्य	385
38. शीतपित्त	**386-388**
✦ निदान	386
✦ पूर्वरूप	387
✦ लक्षण	387

विषय	पृष्ठ
✦ सापेक्ष निदान	387
✦ चिकित्सा-सूत्र	387
39. मसूरिका	**389-393**
✦ निदान	389
✦ पूर्वरूप	390
✦ सम्प्राप्ति	390
✦ लक्षण	390
✦ मसूरिका के प्रकार	390
✦ उपद्रव	391
✦ गोमसूरिका तथा वैक्सीनिया	391
✦ वैक्सीन की उत्पत्ति	391
✦ चिकित्सा-सूत्र	391
✦ सापेक्ष निदान	391
✦ औषध-व्यवस्था	392
✦ व्यवस्था-पत्र	393
✦ पथ्य	393
40. उन्माद	**394-398**
✦ निरुक्ति	395
✦ निदान	395
✦ सम्प्राप्ति	395
✦ दोष, दूष्य, अधिष्ठान, स्रोतस्, विशेष	395
✦ पूर्वरूप	396
✦ सामान्य लक्षण	396
✦ भेद	396
✦ मानस उन्माद	397
✦ विषज उन्माद	397
✦ भेद तथा विशेष लक्षण	397
✦ चिकित्सा-सूत्र	398
✦ व्यवस्था-पत्र	398
41. अपस्मार	**399-405**
✦ निरुक्ति	399

विषय	पृष्ठ
✦ निदान	400
✦ सम्प्राप्ति	400
✦ दोष, दूष्य, अधिष्ठान, स्रोतस्	400
✦ पूर्वरूप	401
✦ सामान्य रूप	401
✦ अपस्मार के भेद	401
✦ अपस्मार के वेग हेतु	402
✦ सापेक्ष निदान	402
✦ चिकित्सा-सूत्र	403
✦ अतत्त्वाभिनिवेश	404
✦ लक्षण	405
✦ चिकित्सा-सूत्र	405
✦ व्यवस्था-पत्र	405
42. मदात्यय	**406-412**
✦ निरुक्ति	407
✦ मद्य के गुण	407
✦ मद्य का प्रभाव	408
✦ मदात्यय लक्षण	408
✦ मदात्यय से होने वाले विकार	409
✦ मद्य एवं ओज के गुण	409
✦ अधिक मद्यपान का प्रभाव	409
✦ मद्यपान का उपद्रव	409
✦ ध्वंसक के लक्षण	409
✦ विक्षेपक लक्षण	410
✦ चिकित्सा-सूत्र	410
✦ मद्य की अवस्थायें	411
43. मूर्च्छा	**413-415**
✦ मूर्च्छा	413
✦ निदान	413
✦ सम्प्राप्ति	414
✦ पूर्वरूप	414
✦ भेद एवं रूप	414
✦ चिकित्सा-सूत्र	414

विषय	पृष्ठ
✦ अपथ्य	415
44. संन्यास	**416-419**
✦ मूर्च्छा-भ्रम-तन्द्रा	416
✦ निद्रा-क्लम-ग्लानि	417
✦ संन्यास-निदान-सम्प्राप्ति-रूप	419
✦ चिकित्सा	419
45. फिरंग	**420-424**
✦ मैथुन-गात्रसंस्पर्श-मातृसंस्पर्श फिरंग	420
✦ निरुक्ति	421
✦ पर्याय	421
✦ निदान	421
✦ सम्प्राप्ति	421
✦ भेद	421
✦ उपद्रव	422
✦ साध्यासाध्यता	422
✦ लक्षण	422
✦ चिकित्सा-सूत्र	423
✦ चिकित्सा व्यवस्था-पत्र	423
✦ पथ्य	424
✦ अपथ्य	424
46. उपदंश	**425-428**
✦ निदान	425
✦ सम्प्राप्ति	426

विषय	पृष्ठ
✦ व्रणस्थान	426
✦ सामान्य उपद्रव	426
✦ उपद्रव	426
✦ उपदंश के भेद	426
✦ पथ्य, अपथ्य	427
✦ चिकित्सा-सूत्र	427
✦ व्यवस्था-पत्र	428
47. श्लीपद	**429-433**
✦ परिभाषा	430
✦ निरुक्ति	430
✦ निदान	430
✦ उत्पत्ति	430
✦ पूर्वरूप	430
✦ सम्प्राप्ति	430
✦ दोष-दूष्य अधिष्ठान	430
✦ सामान्य लक्षण	431
✦ चिकित्सा-सूत्र	431
✦ व्यवस्था-पत्र	432
✦ पथ्य	433
✦ अपथ्य	433
48. स्नायुक	**434-435**
✦ निदान	434
✦ सम्प्राप्ति	434
✦ भेद व लक्षण	435
✦ चिकित्सा-सूत्र	435

प्रैक्टिस ऑफ आयुर्वेदिक मेडिसिन

(कायचिकित्सा)

प्रथम खण्ड : सैद्धान्तिक पक्ष

॥ श्रीः ॥

॥ ॐ धन्वन्तरये नमः ॥

1 विषय-प्रवेश

'आयुस्' और 'वेद' शब्द से आयुर्वेद बनता है। इसका अर्थ है—आयु का ज्ञान। शरीर, इन्द्रिय, सत्त्व और आत्मा का संयोग ही आयु है।[1] अतः आयु का सम्पूर्ण ज्ञान ही आयुर्वेद कहलाता है।

आयुर्वेद को परिभाषित करते समय निम्नलिखित तथ्यों को ध्यान में रखा जाता है—

- हितायु
- अहितायु
- सुखायु
- दुःखायु

उपरोक्त चारो का हिताहितत्व एवं आयु के मान का जहाँ वर्णन किया जाता है, वही आयुर्वेद कहलाता है।[2]

जिसमें आयु हो तथा जिसके द्वारा आयु जानी जाती हो या जिसके द्वारा आयु का विचार किया जाता हो, वह आयुर्वेद है या आयु जिससे प्राप्त होती हो, वह आयुर्वेद है (सुश्रुत)।

कायचिकित्सा—व्यापकता एवं उपयोगिता की दृष्टि से आयुर्वेद के आठ अंगों में कायचिकित्सा का स्थान प्रथम है। वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य अङ्गों में वर्णित रोगों की चिकित्सा भी कायचिकित्सा का ही बृहत्तर रूप है।

कायचिकित्सा की परिभाषा एवं लक्षण—ज्वर, रक्तपित्त, शोष (यक्ष्मा), उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ, प्रमेह, अतिसार आदि प्रथमतः आमाशय और पक्वाशय में उत्पन्न होकर सर्वशरीर में फैलकर संश्रित हो पीड़ित करने वाले रोगों के निदान, लक्षण और चिकित्सा का निर्देश आयुर्वेद के जिस अंग में होता है, उसे 'कायचिकित्सा' कहते हैं।

---

1. शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्। (च. सू. 1/42)
2. हिताहितं सुखं दुःखमायुष्यस्य हिताहितम्।
   मानं च तच्च यत्रोक्तं आयुर्वेदः स उच्यते।। (च. सू. 1/41)

कायचिकित्सा के दो विभाग किये गये हैं—

1. निदान—जिसमें रोगों के कारण, पूर्वरूप, लक्षण आदि का विचार किया जाता है।

2. चिकित्सा—जिसमें रोगों के शमन के उपायों का वर्णन होता है।

'काय' शब्द का विशेष अर्थ—कायाग्नि—काय शब्द 'चिञ् चयने' धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ होता है—चयन या संग्रह। चयन शब्द अन्न या आहार-सूचक है—'चीयते अन्नादिभिः' अर्थात् काय आहार लेता है, उसे पचाता है तथा उसके शोषण के बाद चयापचय करता है; अतः आहार द्वारा शरीर के विकसित होने की प्रक्रिया ही कायसूचक है।

काय शब्द जठराग्नि (अन्तरग्नि, कायाग्नि) इस विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[1]

मन्द हुई कायाग्नि की जो चिकित्सा करे अर्थात् लंघन, दीपन, पाचन आदि उपचारों द्वारा उसे प्रदीप्त करके, संशोधनों द्वारा अग्नि को आवृत्त करने वाले दोषों का निर्हरण कर एवं अग्नि की मन्दता के कारणों को हटाकर उसे साम्यावस्था में लाना 'कायचिकित्सा' कहा जाता है और जो यह कर्म करता है, उसे 'कायचिकित्सक' कहते हैं।[2]

'काय' शब्द शरीर (शीर्यते अनेन इति शरीरम्—अपचयसूचक) तथा 'दिह्-घञ्' धातु से निष्पन्न 'देह' शब्द (चय या वृद्धिसूचक) दोनों को अपने में समाहित करता हुआ अर्थात् चय + अपचय (Anabolism + Catabolism) से बृहत्तर सूचक—चयापचय (Metabolism) को इंगित करता है।

चिकित्सा—'कित् रोगापनयने' नामक धातु से निष्पन्न 'चिकित्सा' शब्द एक विशेष अर्थ को वहन करता है अर्थात् ऐसे उपाय, जिनसे रोग और रोग के कारणों का अपनयन (दूर करना) होता है, वह 'चिकित्सा' है।[3] आयुर्वेद में धातुओं का वैषम्य होना 'रोग' कहा जाता है तथा इन्हें जिन क्रियाओं द्वारा साम्यावस्था में लाया जाता है, उन्हें 'चिकित्सा' कहा जाता है।

आयुर्वेद के उद्देश्य

स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा तथा आतुर के विकार का प्रशमन करना ही आयुर्वेद का प्रमुख उद्देश्य है। इन दोनों के ही कायचिकित्सा के आधारभूत अंग होने के कारण चिकित्सा को दो भागों में बाँटा जा सकता है—

(क) रोगनिवारक चिकित्सा (ख) रोगनिरोधक चिकित्सा

1. कायस्यान्तरग्नेश्चिकित्सा कायचिकित्सा। (च. सू. 30/28 पर चक्रपाणि)
2. जाठरः प्राणिनामग्निः काय इत्यभिधीयते।
यस्तं चिकित्सेत्सीदन्ते स वै कायचिकित्सकः।। (भोज-वचन)
3. याभिर्क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः। सा चिकित्सा। (च. सू. 16/34)

(क) रोगनिवारक चिकित्सा—रोगनिवारक चिकित्सा को आचार्य चरक ने तीन प्रकार का बताया है—

1. दैवव्यपाश्रय 2. युक्तिव्यपाश्रय 3. सत्त्वावजय

दैवव्यपाश्रय चिकित्सा—इस प्रकार की चिकित्सा में दैव या भाग्य के रोगोत्पादक हेतु-स्वरूप को दूर करने के प्रयत्न किये जाते हैं। ऐसे उपायों में मणि, मंगल, बलि, उपहार, मन्त्र, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास, स्वस्त्ययन, देवादि को नमस्कार तथा दूर-स्थित देवस्थानों में विशिष्ट उद्देश्य लेकर धार्मिक यात्रा करना आदि प्रमुख हैं।[1]

युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा—शारीरिक दोषों को रोगोत्पत्ति के प्रधान हेतु मानते हुये उनको साम्य में लाने के लिए जो चिकित्सा की जाती है, वह मुख्य रूप से युक्तिपरक होती है।[2] इसके तीन भेद हैं—

(क) अन्तःपरिमार्जन (वमन-विरेचनादि)
(ख) बहिःपरिमार्जन (प्रलेप-प्रदेहादि)
(ग) शस्त्रप्रणिधान (छेदन-भेदनादि)

सत्त्वावजय चिकित्सा—अहितकर अर्थों से मन का निग्रह करना सत्त्वावजय कहा जाता है। मन का निग्रह धी, समाधि, ज्ञान तथा विज्ञान आदि के द्वारा किया जाता है। सत्त्वावजय चिकित्सा को आधुनिक समय में प्रचलित मनोचिकित्सा माना जा सकता है।[3]

(ख) रोगनिरोधक चिकित्सा—स्वस्थ का अर्थ है—विकाररहित शरीर की स्थिति; अतः इस स्वस्थ के भाव को ही स्वास्थ्य कहा जाता है। ऐसे उपाय, जो स्वस्थ की स्थिति बनाये रखें, उन्हें स्वास्थ्य-संरक्षण या रोगनिरोधक उपाय कहा जाता है। रसायन चिकित्सा ऐसे ही उद्देश्य की पूर्ति करती है।

चिकित्सा के पर्याय—सामान्यतया चिकित्सा के निम्नलिखित पर्याय हैं—

चिकित्सितं व्याधिहरं पथ्यं साधनमौषधम्।
प्रायश्चित्तं प्रशमनं प्रकृतिस्थापनं हितम्।।
(च. चि. 1/2)

चिकित्सित, व्याधिहर, पथ्य, साधन, औषध, हित, प्रायश्चित्त, प्रशमन, प्रकृतिस्थापन, क्रिया-कर्म आदि।

चिकित्सा-पाद—भिषक्, द्रव्य (औषध), उपस्थाता (परिचारक) तथा रोगी—

1. तत्र दैवव्यपाश्रयं मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबल्युपहारहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्ययनप्रणिपातगमनादिः। (च. सू. 11/54)
2. युक्तिव्यपाश्रयं पुनराहारौषधद्रव्याणां योजना। (च. सू. 11/54)
3. सत्त्वावजयः—पुनरहितेभ्योऽर्थेभ्यो मनोनिग्रहः। (च. सू. 11/54)

ये चिकित्सा के चतुष्पाद कहे गये हैं।[1] आचार्य चरक ने चतुष्पाद के प्रत्येक पाद के चार-चार गुण कहे हैं। इस षोडश कलायुक्त चतुष्पाद को ही भेषज कहा है। इनका क्रम भी इनके महत्त्व को देखते हुये रखा गया है। सर्वप्रथम स्थान चिकित्सक का है; क्योंकि वही रोग का निदान करता है और औषध का चयन करता है।

भिषक् के गुण—चिकित्सक के चार गुण हैं—

श्रुते पर्यवदातत्वं बहुशो दृष्टकर्मता।
दाक्ष्यं शौचमिति ज्ञेयं वैद्ये गुणचतुष्टयम्।।
(च.सू. 9/6)

1. शास्त्र का विशुद्ध ज्ञान।
2. चिकित्सा कर्म को प्रायोगिक रूप में अनेक बार देखा हुआ व स्वयं द्वारा किया हुआ।
3. चिकित्सा कर्म में अत्यन्त दक्ष।
4. पूर्ण पवित्रता, स्वयं के जीवन में भी तथा चिकित्सा कर्म में भी।

औषध के गुण—द्रव्य (औषध) के चार गुण हैं—

बहुता तत्र योग्यत्वमनेकविधकल्पना।
सम्पच्चेति चतुष्कोऽयं द्रव्याणां गुण उच्यते।।
(च. सू. 9/7)

1. औषध पर्याप्त मात्रा में होना चाहिये।
2. जिस रोग में उसे प्रयुक्त कर रहे हैं, वहाँ उसकी कार्मुकता होनी आवश्यक है।
3. द्रव्य ऐसा होना चाहिये, जिसकी अनेक कल्पनायें (स्वरस, कल्क आदि) बनाकर दी जा सकती हों।
4. द्रव्य का सम्पत् (गुणयुक्त) होना आवश्यक है।

उपस्थाता (परिचारक) **के गुण**—परिचारक के भी चार गुण हैं—

उपचारज्ञता दाक्ष्यमनुरागश्च भर्तरि।
शौचं चेति चतुष्कोऽयं गुणः परिचरे जने।।
(च. सू. 9/8)

1. उपचारज्ञता अर्थात् सब प्रकार के उपक्रमात्मक उपचार (लेप, अभ्यंग आदि) औषधात्मक उपचार (क्वाथनिर्माण आदि) एवं पथ्यात्मक उपचार (यवागू, मण्ड-निर्माण आदि) में दक्ष तथा इन सबका यथेष्ट ज्ञाता होना चाहिये।
2. अपने सम्पूर्ण कार्यों में दक्ष होना चाहिये।
3. स्वामी (रोगी) में अनुराग होना चाहिये अर्थात् रोगी के किसी भी प्रकार के कार्य के लिए तैयार होना चाहिये।

1. भिषग् द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्।
गुणवत्कारणं ज्ञेयं विकारव्युपशान्तये।। (च. चि. 9/ 3)

4. पूर्ण पवित्रता से युक्त रहना चाहिये।

रोगी के गुण—रोगी के चार गुण हैं—

स्मृतिर्निर्देशकारित्वमभीरुत्वमथापि न्न।
ज्ञापकत्वं च रोगाणामातुरस्य गुणाः स्मृताः।।
(च. सू. 9/9)

1. रोगी की स्मरण शक्ति ठीक होनी चाहिये।
2. चिकित्सक के निर्देश का पालन करने वाला होना चाहिये।
3. रोगी चिकित्सा उपक्रम, पञ्चकर्म या स्वकर्म आदि से अत्यन्त डरने वाला नहीं होना चाहिये।
4. ज्ञापकत्व अर्थात् रोग के शरीरस्थ लक्षणों अथवा अन्य पीड़ा एवं प्रतिक्रियाओं आदि का ठीक-ठीक रूप में वर्णन करने की क्षमता रोगी में आवश्यक है।

चिकित्सा के भेद—चिकित्सा के अनेक भेद बताये गये हैं—

- **एकविध चिकित्सा**—निदान परिवर्जन।
- **द्विविध चिकित्सा**—चिकित्सा के दो भेद अनेक आधार पर किये गये हैं; जैसे—

उपक्रमभेद से—संतर्पण या बृंहण
अपतर्पण या लंघन—संशोधन—पञ्चकर्मादि
संशमन—पाचन, दीपन, भूख, प्यास, व्यायाम, धूपसेवन, वायुसेवन।

संशमन कर्म मूलतः दो प्रकार के होते हैं—

1. **बाह्य संशमन**—आलेप, परिसेक, कवल, गण्डूष आदि।
2. **आभ्यन्तर संशमन**—पाचन, लेखन, बृंहण, विषप्रशमन आदि।

द्विविध भेषज या चिकित्सा

भेषज (द्रव्यभूत/अद्रव्यभूत)
- स्वस्थस्योर्जस्कर चिकित्सा
  - रसायन
  - वाजीकरण
- आर्तस्य रोगनुत् चिकित्सा
  - दैवव्यपाश्रय—मन्त्र मणि मंगल बलि उपहार प्रायश्चित्त
  - युक्तिव्यपाश्रय
  - सत्त्वावजय—अहितकर विषयों से मन का निग्रह

युक्तिव्यपाश्रय

- कार्यभेद से — शोधन शमन निदानपरिवर्जन
- प्रयोगभेद से —
  - उपक्रमभेद से — लंघन बृंहण स्नेहन स्वेदन रूक्षण स्तम्भन
  - हेतु-व्याधिभेद से — हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत, हेतु-व्याधिविपरीत

- अन्त:परिमार्जन —— पञ्चकर्मादि संशोधन कर्म
- बहि:परिमार्जन —— अभ्यंग, स्वेद, प्रदेह, परिषेक, उन्मर्दन आदि
- शस्त्रप्रणिधान —— छेदन, भेदन, वेधन, धारण, उत्पाटन आदि

त्रिविध चिकित्सा—निम्न प्रकार से चिकित्सा के त्रिविध भेद किये गये हैं—

1. दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय, सत्त्वावजय।
2. अन्त:परिमार्जन, बहि:परिमार्जन, शस्त्रप्रणिधान।
3. आसुरी, मानुषी, दैवी।
4. अपकर्षण, प्रकृतिविघात, निदानपरिवर्जन।
5. हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत, उभयविपरीत चिकित्सा।
6. अपतर्पणभेद—लंघन, पाचन, दोषावसेचन।

चतुर्विध चिकित्सा—

धातुसाम्य स्थापन—
1. वृद्ध दोषों का ह्रासन।
2. क्षीण दोषों का वर्धन।
3. प्रकुपित दोषों का प्रशमन।
4. समदोषों का यथावत् पालन।

अन्य भेद—संशोधन, संशमन, आहार, आचार।

पञ्चविध चिकित्सा—वमन, विरेचन, नस्य, निरूह, रक्तमोक्षण।

षड्विध चिकित्सा—लंघन, बृंहण, रूक्षण, स्नेहन, स्वेदन, स्तम्भन।

सप्तविध चिकित्सा—पाचन, दीपन, क्षुधा, पिपासा, वायुसेवन, धूपसेवन।

दशविध चिकित्सा—लंघन चिकित्सा के दस भेद—वमन, विरेचन, निरूह, नस्य, पिपासा, वायुसेवन, धूपसेवन, पाचन, उपवास, व्यायाम।

अष्टादश चिकित्सा—उपशयात्मक चिकित्सा के अट्ठारह भेद—

हेतुविपरीत
व्याधिविपरीत
हेतु-व्याधिविपरीत
हेतुविपरीतार्थकारी
व्याधिविपरीतार्थकारी
हेतु-व्याधिविपरीतार्थकारी
— औषध, अन्न, विहार।

आयुर्वेद चिकित्सा के सिद्धान्त

रोग का नाश करना ही चिकित्सा है। रोग-नाशन-हेतु जिस भी विधि या मार्ग का सहारा एक निश्चित एवं क्रमबद्ध रूप में लिया जाता है, उस मार्ग या विधि को ठीक प्रकार से समझाने के लिये निर्देश जहाँ निहित हों, वे चिकित्सा-सिद्धान्त कहलाते हैं।

ये चिकित्सा-सिद्धान्त अलग-अलग रोगों में अलग-अलग रूप से प्रयोग होते हैं। ये चिकित्सा-सिद्धान्त निम्न हैं—

1. चिकित्सा-चतुष्पाद।
2. निदानपरिवर्जन।
3. अग्निसंरक्षण।
4. धातुवर्द्धन।
5. हृदयरक्षण।
6. रोग-निवारण—इसे पुन: विभक्त किया गया है—
   - (क) त्रिविध चिकित्सा
   - (ख) द्विविध उपक्रम
   - (ग) षड्विध उपक्रम
   - (घ) पंचकर्म का प्राधान्य
   - (ङ) दोषोपक्रम
   - (च) व्याधिभेदानुरूप चिकित्सा
   - (छ) स्थानानुरूप चिकित्सा
   - (ज) लक्षणानुरूप चिकित्सा
   - (झ) दूष्य-देशाद्यनुरूप चिकित्सा
   - (ठ) स्रोतोऽनुरूप चिकित्सा
   - (ड) आवरण चिकित्सा
   - (ढ) भेषज प्रयोग
   - (ण) व्याधिक्षमता
   - (त) पथ्यापथ्य
   - (थ) अनुपान

निदानपरिवर्जन—निदानपरिवर्जन चिकित्सास्वरूप ही है। किसी भी रोग के निवारण में यह पहला कर्तव्य है। यह सभी रोगों में समान रूप से उपयोगी चिकित्सा-सिद्धान्त है। आचार्य सुश्रुत ने कहा है—

संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनः। (सू. उ. 1/25)

अग्निसंरक्षण—रसादि धातुओं का निर्माण आहारपाचन के द्वारा जठराग्नि करती है तथा शरीरस्थ अन्य बारह अग्नियों का मूल आधार भी जठराग्नि ही है। आयु, बल, वर्ण, स्वास्थ्य, उत्साह, उपचय, प्रभा एवं स्वर आदि शरीर के जितने भी महत्त्वपूर्ण कार्य हैं, वे सभी देहाग्नि से ही सम्भव हैं। आहार का सर्वप्रथम पाक तथा रस और मल के रूप में विभाजन भी जठराग्नि से ही होता है; अतः किसी भी रोग में अग्नि का संरक्षण या साम्यता आवश्यक है। अग्नि के व्यवस्थित रहने पर ही दी गयी औषध शीघ्र प्रभावी होती है तथा रोगी का बल क्षीण नहीं होता। पथ्य की विशेष रूप में रोगानुसारिणी व्यवस्था से भी अग्निसंरक्षण होता है।

धातुवर्द्धन—रोगरोधी क्षमता तथा रोगनिवारण क्षमता धातुओं की श्रेष्ठ स्थिति पर निर्भर करती है। धातुवर्द्धन और संवर्धन की एक निश्चित प्रक्रिया है, जो रोगावस्था में बहुत उपयोगी है। अतः आवश्यक यही है कि सम्पूर्ण धातुओं के पोषक आद्य रस धातु की वृद्धि और पोषण रुग्णावस्था में भी होता रहे और अन्य धातुओं के संरक्षण की ओर भी ध्यान दिया जाय। जिस भी धातु की प्रत्यक्ष रूप से क्षति (रक्त आदि की) हो रही हो, उसका सर्वप्रथम निवारण करे तथा उस विशेष धातु की वृद्धि का प्रयास करे। आयुर्वेद में सद्यः सन्तर्पण, रक्तपान, वस्तिप्रयोग आदि का विधान है। आधुनिक समय में ग्लूकोज एवं रक्ताधान का प्रयोग धातुसंर्वधन की ही विधियाँ हैं।

हृदयरक्षण—अधिकांश जीर्ण एवं उग्र स्वरूप की व्याधियों में हृदय पर असर पड़ता है। अतः हृदय की रक्षा-हेतु विभिन्न उपाय करने चाहिये। आधुनिक समय में अति तीक्ष्ण वीर्य औषधियों तथा हानिकारक और शामक औषधियों का प्रयोग अधिक बढ़ा है। इस कारण हृदय की विकृति अल्पमात्र हेतु से भी हो सकती है; अतः वर्तमान काल में आयुर्वेदीय चिकित्सा व्यवस्था में भी हृदयरक्षण की व्यवस्था का होना आवश्यक है। आचार्य चरक ने स्वेदन के प्रसंग में सिद्धान्त रूप से हृदयरक्षण का संकेत दिया है—

वृषणौ हृदयं दृष्टी स्वेदयेन्मृदु नैव वा। (च. सू. 14/10)

अर्थात् हृदय पर स्वेदन या तो मृदु रूप में या बिल्कुल न करे।

रोगनिवारण—उपर्युक्त सिद्धान्त चिकित्सा के सहायक के रूप में प्रयुक्त होते हैं। रोगनिवारण के लिये विभिन्न उपक्रम एवं विधियाँ प्रचलित हैं, जिनका भिन्न-भिन्न रोगों में अनेक प्रकार से प्रयोग प्रचलित है। आचार्यों ने पृथक्-पृथक् प्रकार से इनका

उल्लेख किया है। इन सबको एक साथ पीछे तालिकाबद्ध किया जा चुका है। अब कुछ-एक अत्यावश्यक सिद्धान्तों का संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है।

द्विविध उपक्रम—सभी उपक्रमों को वाग्भट ने दो भागों में विभक्त कर दिया है—

द्विविध उपक्रम

- सन्तर्पण (बृंहण)
  - रोगनिवारणार्थ
  - बलप्राप्त्यर्थ
    - सद्यः सन्तर्पण
    - अभ्यास सन्तर्पण
- अपतर्पण (लंघन)
  - चरककृत भेद
    - लंघन
    - लंघन-पाचन
    - दोषावसेचन (पञ्चकर्म)
  - वाग्भटकृत भेद
    - शोधन (पञ्चकर्म)
    - शमन (सप्तधा)
      - पाचन, दीपन, क्षुधानिग्रह, तृषानिग्रह, व्यायाम, आतप, मारुत

सन्तर्पण (बृंहण)—जो तृप्ति उत्पन्न करे, शरीर को तृप्त करने के साथ-साथ बृहत्ता प्रदान करे, वह सन्तर्पण या बृंहण कहलाता है। सन्तर्पण को यद्यपि लंघन की तरह विभक्त नहीं किया गया है; परन्तु व्यावहारिक रूप से उसे दो भेदों में विभक्त किया जा सकता है—

1. रोगनिवारणार्थ—अपतर्पणजन्य व्याधियों में मुख्य रूप से तथा वात-पित्त प्रकोपजन्य व्याधियों में गौण रूप से सन्तर्पण का प्रयोग करके लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

2. बलप्राप्त्यर्थ—विभिन्न कारणों एवं व्याधियों से बल का क्षय होकर प्राणों का भय हो जाता है। ऐसी दशा में सन्तर्पण का प्रयोग अधिक लाभकारी है। क्षय की सद्यःक्षय तथा चिरक्षय-जैसी दो अवस्थायें होती हैं। इन दोनों ही स्थितियों में सन्तर्पण का प्रयोग दो प्रकार से होता है—

(क) सद्यःसन्तर्पण—सद्यः क्षय की अवस्थाओं (विसूचिका, अतिसार, रक्तपित्त आदि) में सद्यःसन्तर्पण की आवश्यकता पड़ती है; अतः मांसरस-प्रयोग, रक्तपान तथा वस्ति के द्वारा रक्तप्रयोग आदि सद्यःसन्तर्पण किया जाता है। आज के समय में ग्लूकोज और रक्ताधान ऐसी ही सन्तर्पण विधियाँ हैं।

(ख) अभ्यास-सन्तर्पण—चिरक्षीण की अवस्थाओं (ज्वर, पाण्डु, शोष, कास आदि) में निरन्तर सन्तर्पण का अभ्यास कराना पड़ता है।

सन्तर्पणोत्कल्पन—रोगावस्था में दोषों का साम्यापादन जिन द्रव्यों के द्वारा होता है, वे वीर्यप्रधान द्रव्य होते हैं, जिन्हें प्रधानतया औषध कहा जाता है; जबकि स्वास्थ्या-

नुवर्तन करने वाले आरोग्यावस्था में प्रयुक्त द्रव्य रसप्रधान होते हैं तथा प्रायः आहार-द्रव्य कहलाते हैं। सामान्यतया जब कभी भी बृंहण और सन्तर्पण की आवश्यकता होती है तो रसप्रधान आहारद्रव्यों का ही प्रयोग किया जाता है; परन्तु विशेष परिस्थितियों में वीर्यप्रधान भेषज द्रव्यों से भी सन्तर्पण किया जा सकता है। यह रोग और रोगी की अवस्था पर निर्भर करता है कि किस प्रकार के द्रव्यों द्वारा उपकल्पित सन्तर्पण का प्रयोग कराया जाय।

सन्तर्पण में अधिकतर मधुर-अम्ल रसों से युक्त पदार्थ काम में लिये जाते हैं; क्योंकि मधुर रस शरीरसात्म्य होता है तथा रस-रक्तादि सप्त धातु और ओज की अभिवृद्धि करने वाला होने के साथ-साथ तृष्णा-दाह को नष्ट करने वाला, जीवन, तर्पण, बृंहण आदि गुणों से युक्त होता है और अम्ल रस रुचि उत्पन्न करने वाला होता है। अग्नि को प्रदीप्त करते हुये वात का अनुलोमन करता है। इन्द्रियों को दृढ़ करता है तथा हृदय को बल देने वाला होता है।

सन्तर्पणोत्कल्पन के लिए मुख्य रूप से निम्नलिखित द्रव्य प्रयुक्त होते हैं—

ओदन, सक्तु, मन्थ, यूष, मण्ड, पेया और मांसरस, दुग्ध, घृत, रुधिर, पानक, मद्य, फलरस आदि।

अपतर्पण (लंघन)—अपतर्पण का तात्पर्य है—तृप्तिकारक भाव का अभाव। शरीर में पित्त-कफ दोष की अधिकता, अभिष्यन्दावस्था एवं विभिन्न सन्तर्पणात्मक व्याधियों में अपतर्पण चिकित्सा की जाती है। वाग्भट ने अपतर्पण का पर्याय लंघन बतलाया है। अतः अपतर्पण प्रधानतया लंघन ही है। जो शरीर में लघुता उत्पन्न करे, उसे लंघन कहा जाता है अथवा जो शरीर में कृशता उत्पन्न करे और सन्तर्पण का विपरीतक्रम हो, उसे अपतर्पण कहना चाहिये।

वाग्भट और चरक में अपतर्पण के भेद को लेकर मतान्तर है। वाग्भट ने अपतर्पण के लंघन के आधार पर दो भेद किये हैं—शोधन और शमन।

शोधनं शमनञ्चेति द्विधा तत्रापि लंघनम्।
(अ. हृ. सू. 14/4)

चरक ने अपतर्पण के तीन भेद किये हैं—लंघन, लंघन-पाचन, दोषावसेचन।

(1) **लंघन**—जो शरीर में लघुता उत्पन्न करे, वह लंघन है। लंघन के द्वारा अल्प बल दोषों का संशोषण होकर रोगनिवारण होता है।

(2) **लंघन-पाचन**—मध्य बल दोषों के लिये लंघन एवं पाचन दोनों प्रकार के प्रयोग लाभप्रद हैं।

(3) **दोषावसेचन**—अत्यन्त बलवान दोषों का पञ्चकर्म के द्वारा निर्हरण (अवसेचन) करवाना ही लाभप्रद होता है।

विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि वाग्भटकृत शोधन में चरकोक्त दोषावसेचन का तथा शमन में लंघन एवं लंघन-पाचन का समावेश किया जा सकता है। यद्यपि चरक ने सम्पूर्ण अपतर्पण को लंघन में ही आबद्ध कर दिया है। यथा—

चतुष्प्रकारा संशुद्धिः पिपासामारुतातपौ।
पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लंघनम्।।
(च. सू. 22/18)

इस प्रकार के वर्णन में लंघन में लंघन-पाचनादि तीनों का ही समावेश है; अतः लंघन को अपतर्पण का पर्याय कहा जा सकता है।

वाग्भटकृत अपतर्पण-भेद—

(क) शोधन—जो भी औषध या कर्म दोषों को शरीर से बाहर निकाले, उसे 'शोधन' कहा जाता है। वस्तुतः शोधन पंचकर्म द्वारा किया जाता है। शोधन को उत्कृष्ट चिकित्सा माना जाता है; क्योंकि इससे विनष्ट रोगों की पुनरुत्पत्ति नहीं होती। दोषों का उनके मूल स्थान से सम्यक् निर्हरण हो जाने के कारण वे अनुबन्धरूप से रोग को बलवान नहीं बनाते, जिससे शीघ्र ही रोग का नाश हो जाता है। कहा भी गया है—

दोषाः कदाचित्कुप्यन्ति जिताः लंघनपाचनैः।
जिताः संशोधनैर्ये तु न तेषां पुनरुद्भवः।।
(च. सू. 16/20)

(ख) शमन—जो दोषों का शोधन नहीं करे अर्थात् बाहर नहीं निकाले, सम दोषों का उदीरण या उत्क्लेशन करे तथा विषम दोषों को समावस्था में लावे, वही शमन है। अतः शमन से शरीर में निम्नलिखित तीन प्रक्रियायें सम्पन्न होती हैं—

- दोषों का शोधन नहीं करता।
- समदोषों का उदीरण नहीं करता।
- विषम हुये दोषों को साम्यावस्था में लाता है।

शमन को वाग्भट ने सात प्रकार का बतलाया है—

(i) **पाचन**—जो जठराग्नि की पाचन शक्ति को अधिक बढ़ाये, वह पाचन कहलाता है। पाचन शक्ति तीव्र होने से वह आहार के साथ-साथ बढ़े हुये दोषों को भी पाचन करके शान्त कर देती है; अतः पाचन का मुख्य उद्देश्य दोषपाचन करना है।

(ii) **दीपन**—जो अग्नि की स्पष्टतः वृद्धि करे, वह दीपन कहलाता है। जैसे—घृत। पाचन और दीपन में यही भेद है कि पाचन द्रव्य विशेषतः दोषों का पाचन करते हैं; जबकि दीपन द्रव्य मात्र अग्नि को प्रदीप्त करते हैं।

(iii) **क्षुधा**—क्षुधा से तात्पर्य भूख का निग्रह करना है। क्षुधानिग्रह से अग्नि दोषों का पाचन करती है तथा दोषों का पाचन हो जाने पर भी अगर आहार न मिले तो वह

धातुओं का भी पाचन कर देती है। अत: क्षुधानिग्रह उपयुक्त समय तक ही होना चाहिये।

(iv) **तृट्**—तृट् का तात्पर्य है—तृषा। कई बार शरीर के क्लेद की अभिवृद्धि, आमांश की अभिवृद्धि एवं अग्नि का आवरण आदि अनेक विकृत स्थितियों के निवारणार्थ निश्चित समय तक नियन्त्रित रूप से तृषा का निग्रह उपयोगी होता है। इससे क्लेद और आमांश के उपशोषण में सहायता मिलती है।

(v) **व्यायाम**—व्यायाम से अग्नि की अभिवृद्धि और क्लेद, आमांश तथा दोषों का पाचन होता है, जिससे शरीर में क्लेशसहिष्णुता, बलवृद्धि और उपचय होता है।

(vi) **आतप**—सामान्यतया नियन्त्रित रूप से धूपसेवन से भी दोषों का उपशोषण या शमन होता है। निसर्गोपचार में तो धूपसेवन एक प्रामाणिक चिकित्साविधि है। इससे त्वचा द्वारा विटामिन डी का निर्माण भी होता है।

(vii) **मारुत**—रूक्ष मारुत और प्रवात आदि का सेवन दोषों का शमन करने वाला होता है।

षडुपक्रम

सभी रोगों के निदानों को दो भागों में बाँटा गया है—सन्तर्पक निदान और अपतर्पक निदान। सन्तर्पक निदानों से विशेषत: कफ और पित्त की अभिवृद्धि होती है और ऐसे विकारों को सन्तर्पणोत्थ विकार कहते हैं। दोषों के स्थान के आधार पर सन्तर्पणोत्थ विकारों को आमाशयसमुत्थ विकार भी कहते हैं।

अपतर्पक निदानों में विशेषत: वात की वृद्धि होती है और ऐसे विकारों को अपतर्पणोत्थ विकार कहते हैं। दोष के स्थान के आधार पर अपतर्पणोत्थ विकारों को पक्वाशयसमुत्थ विकार भी कहते हैं। सन्तर्पणोत्थ विकारों की अपतर्पण चिकित्सा और अपतर्पणोत्थ विकारों की सन्तर्पण चिकित्सा करने का निर्देश है।

चिकित्सा के सभी उपक्रमों को छ: भागों में विभक्त किया गया है। इनको षडुपक्रम कहा जाता है।

1. बृंहण
2. स्नेहन
3. स्तम्भन
4. लंघन
5. रूक्षण
6. स्वेदन

सम्बन्ध/उपक्रम	सन्तर्पण	अपतर्पण
दोष	स्नेहन	रूक्षण
दूष्य	बृंहण	लंघन
स्रोतस्	स्तम्भन	स्वेदन

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि विशेषत: स्नेहन और रूक्षण का सम्बन्ध दोषों के साथ, बृंहण और लंघन का सम्बन्ध दूष्यों के साथ तथा स्तम्भन और स्वेदन का

सम्बन्ध स्रोतसों के साथ रहता है अर्थात् किसी भी रोग में दोष-दूष्य-स्रोतस्—इन्हीं की विकृति होती है और इनकी चिकित्सा षड् उपक्रमों द्वारा की जा सकती है।

षट् उपक्रमों की गुणात्मक तालिका—

द्रव्यों के गुण/	सन्तर्पण			अपतर्पण		
उपक्रम	बृंहण	स्नेहन	स्तम्भन	लंघन	रूक्षण	स्वेदन
सामान्य गुण	शीत मृदु मन्द	शीत मृदु मन्द	शीत मृदु मन्द	उष्ण तीक्ष्ण रूक्ष	उष्ण तीक्ष्ण रूक्ष	उष्ण तीक्ष्ण रूक्ष
विशिष्ट गुण	श्लक्ष्ण	सर	लघु-रूक्ष	विशद	अपिच्छिल	गुरु
अन्य गुण	स्निग्ध बहल स्थूल स्थिर पिच्छिल	स्निग्ध गुरु द्रव सूक्ष्म पिच्छिल	द्रव सूक्ष्म स्थिर	लघु खर सर कठिन सूक्ष्म	लघु खर स्थिर सूक्ष्म	स्निग्ध द्रव सर स्थिर सूक्ष्म

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि सन्तर्पण उपक्रमों में शीत, मृदु और मन्द गुण सामान्य हैं; जबकि अपतर्पण उपक्रमों में उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष गुण सामान्य हैं। यह भी द्रष्टव्य है कि श्लक्ष्ण गुण बृंहण का, सर गुण स्नेहन का तथा लघु रूक्ष गुण स्तम्भन का विशिष्ट गुण है। इन विशिष्ट गुणों के साथ सन्तर्पण के सामान्य गुणों में से किसी एक का होना आवश्यक है तभी सन्तर्पण सम्भव हो सकता है।

इसी प्रकार अपतर्पण उपक्रमों में विशद गुण लंघन का, अपिच्छिल गुण रूक्षण का तथा गुरु गुण स्वेदन का विशिष्ट गुण है। इन विशिष्ट गुणों के साथ सामान्य गुणों में से किसी एक गुण का साथ में होना आवश्यक है तभी अपतर्पण सम्भव हो सकता है।

षडुपक्रमों का महत्त्व बतलाते हुये चरक ने सूत्रस्थान के 22वें अध्याय में कहा है कि जैसे सभी रोगों के आधार तीन दोष ही हैं, वैसे ही सम्पूर्ण चिकित्सा का आधार षट् उपक्रम ही होते हैं। एक कुशल चिकित्सक को इन षट् उपक्रमों का पूर्ण ज्ञान होना ही चाहिये—

लंघनं बृंहणं काले रूक्षणं स्नेहनं तथा।
स्वेदनं स्तम्भनं चैव जानीते य: स वै भिषक्।।

(च. सू. 22/4)

1. **बृंहण**—जिस उपक्रम से शरीर की वृद्धि हो अर्थात् शरीर की, शरीर के घटकविशेषों की या शरीर के बल की वृद्धि होती हो, उसे बृंहण उपक्रम कहते हैं।

बृंहत्वं यच्छरीरस्य जनयेत्तच्च बृंहणम्। (च. सू. 22/9)

चरकोक्त 50 महाकषायों में से जीवनीय, बृंहणीय, बल्य और वय:स्थापक महाकषायों को बृंहण उपक्रम के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त रसायन और वाजीकरण को भी इसी में समाहित किया जा सकता है। कार्यफल की दृष्टि से बृंहण को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(क) शरीरभार की वृद्धि के लिए (द्रव्यत: वृद्धि)—बृंहण।

(ख) शरीर के धात्वंशों की वृद्धि (गुणत: वृद्धि)—जीवनीय, रसायन।

(ग) शरीर के बल की वृद्धि (कर्मत: वृद्धि)—बल्य, रसायन, वाजीकरण।

बृंहणीय व्यक्ति—क्षीण, कृश, दुर्बल, अधिक चलने वाला, अधिक मैथुन करने वाला, मद्य सेवन करने वाला, शोष, अर्श, ग्रहणी आदि रोगों से कर्शित व्यक्ति।

2. स्नेहन— स्नेहनं स्नेहविष्यन्दमार्दवं क्लेदकारकम्। (च. सू. 22/10)

यह स्नेहन की परिभाषा है अर्थात् स्निग्धता, विष्यन्दिता (स्रवित होना), मृदुता एवं क्लेदत्व उत्पन्न करने वाला उपक्रम स्नेहन कहलाता है। यह स्वतन्त्र रूप से तो अनेक रोगों को दूर करने में सक्षम है ही, पंचकर्म में भी आवश्यक रूप से स्नेहन एवं स्वेदन किया जाता है।

स्नेहन के उपयोग से शरीर में स्निग्धता उत्पन्न होती है, जो कि क्षयात्मक एवं वातप्रधान रोगों में लाभकारी है। स्नेहन से स्रोतस् मृदु हो जाते हैं। शाखाओं से दोषों को कोष्ठ में लाने के लिये प्रथम स्नेहन-स्वेदन ही किया जाता है। वात और पित्त की अधिकता की दशा में स्नेहपान रात्रि में करना चाहिये; जबकि वात और कफ की अधिकता की दशा में दिन में स्नेहपान करना चाहिये।

3. स्तम्भन—जो जकड़ाहट उत्पन्न करे अथवा गति को रोके, उसे स्तम्भन कहा जाता है—

स्तम्भनं स्तम्भयति यद्गतिमन्तं चलं चलं ध्रुवम्।
(च. सू. 22/11)

स्तम्भन कर्म अतिप्रवृत्ति और विमार्गगमन की अवस्थाओं में किया जाता है।

ग्राही और स्तम्भन शब्दों का प्रयोग एक-दूसरे के पर्यायवाची शब्दों के रूप में देखा जाता है; जबकि ग्राही द्रव्य उष्ण वीर्य वाले, दीपन और पाचन करने वाले होते हैं एवं स्तम्भन द्रव्य शीत वीर्य वाले होते हैं। दोनों प्रकार के द्रव्य द्रवशोषण करते हैं; परन्तु स्तम्भक द्रव्य दीपन-पाचन नहीं करते; अत: सिद्धान्तत: आमावस्था में ग्राही और पक्वावस्था में स्तम्भन किया जाना चाहिये। ग्राही से दूष्य पर और स्तम्भन से स्रोतस् पर अधिक प्रभाव पड़ता है। यद्यपि ग्राही और स्तम्भन—दोनों का समावेश स्तम्भन उपक्रम में होता है।

स्तम्भनीय व्यक्ति—पित्त, क्षार और अग्निदग्ध की अवस्था, अतिवमन, अतिसार, विष और स्वेद के अतियोग की अवस्था में स्तम्भन करना चाहिये।

4. लंघन—जो शरीर में लघुता उत्पन्न करे, उसे लंघन कहा जाता है—

यत्किञ्चिल्लाघवकरं देहे तल्लङ्घनं स्मृतम्। (च. सू. 22/9)

यह बृंहण के विपरीत अपतर्पण उपक्रम है। लंघन से आमपाचन होता है। साम धातुओं को ठीक करने के लिये भी यह सबसे अच्छा उपाय है। लंघन से दोषों की शोधन तथा शमनविधि से शान्ति की जाती है।

चतुष्प्रकारा संशुद्धिः पिपासा मारुतातपौ।
पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम्।।
(च. सू. 22/8)

चार प्रकार की शुद्धि के अन्तर्गत वमन, विरेचन, वस्ति और शिरोविरेचन का समावेश होता है। इनसे बढ़े हुये दोष शरीर से बाहर निकल जाते हैं, जिससे शरीर में लघुता उत्पन्न होती है। पिपापा, मारुत, व्यायाम आदि से दोषों का शमन होता है। इस प्रकार पूर्वोक्त श्लोक में चार संशोधन तथा सात संशमन—कुल 11 उपाय गिनाये गये हैं। इन सबका संयुक्त नाम 'लंघन' है।

लंघन
- शोधन
  - वमन
  - विरेचन
  - वस्ति
  - शिरोविरेचन
- शमन
  - दोषशमन
    - पिपासा
    - मारुत
    - आतप
  - आमपाचन
    - पाचन
    - दीपन
    - उपवास
    - व्यायाम

5. रूक्षण—जो शरीर में रूक्षता, खरद और विशदता उत्पन्न करता है, उसे 'रूक्षण' कहा जाता है—

रौक्ष्यं खरत्वं वैशद्यं यत्कुर्यात्तद्धि रूक्षणम्। (च. सू. 22/10)

रूक्षण एवं लंघन में साम्य है; परन्तु रूक्षण प्राय: द्रव्यों से सम्पन्न होता है; जबकि लंघन अद्रव्यभूत उपवासादि से भी किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त रूक्षण में रूक्ष गुण का प्राधान्य है; जबकि लंघन में लघु गुण का प्राधान्य होता है। लंघन से शरीर में गौरवाभाव होता है; जबकि रूक्षण में स्नेहाभाव होता है। लंघन में सर गुण को लिखा है और रूक्षण में स्थिर गुण बताया गया है। स्वभावत: लंघन में शोधन का समावेश हो जाता है; जबकि रूक्षण में शोधन का समावेश नहीं होता है। लंघन से शमन में दोषपाचन तथा आमपाचन दोनों होता है; परन्तु रूक्षण से मात्र दोषपाचन ही होता है। मध्यम रोगमार्ग की व्याधियों में स्नेह और क्लेद के शमनहेतु रूक्षण उपक्रम उपयोगी है।

6. **स्वेदन**—शरीर में जकड़ाहट, गुरुता एवं शीत को नष्ट करने वाला तथा स्वेद उत्पन्न करने वाला उपक्रम 'स्वेदन' कहलाता है—

स्तम्भगौरवशीतघ्नं स्वेदनं स्वेदकारकम्। (च. सू. 22/11)

स्वेदन से स्रोतस् मृदु, शिथिल एवं विस्फारित हो जाते हैं। परिणामत: अवरुद्ध दोष अपने स्थान से गति करते हैं। इसी से शाखागत दोषों को कोष्ठ में लाया जाता है। पञ्चकर्म से पूर्व स्नेहन व स्वेदन का विधान है। स्वेदन के कई भेद हैं—साग्नि स्वेद, निरग्नि स्वेद, एकांग स्वेद, सर्वांग स्वेद तथा जेन्ताक, कुम्भीक आदि।

प्राय: सन्तर्पणोत्थ व्याधियों में रूक्ष स्वेद और अपतर्पणोत्थ व्याधियों में स्नेहयुक्त स्वेद करते हैं; इसीलिये स्वेदन उपक्रम के गुणों में रूक्ष और स्निग्ध—दोनों गुणों को गिनाया गया है।

दोषोपक्रम

दोष ही रोगोत्पत्ति के प्रधान हेतु हैं। अत: रोग के निवारण के लिये सामान्यतया दोषानुरूप चिकित्सा करने से लाभ प्राप्त होता है। इसीलिये रोगानुसार दोषों के उपक्रमों की उपयोगिता है। विभिन्न रोगों में आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न उपक्रम करने पड़ते हैं। यथा—

वात के उपक्रम—

(क) आहार—मधुर, अम्ल एवं लवण रसयुक्त आहार तथा स्निग्ध, उष्ण या द्रव का पर्याप्त प्रयोग करना चाहिये। वृष्य, बल्य, पौष्टिक पदार्थों का सेवन तथा मांसरस एवं लघु मात्रा में मद्य-सेवन लाभकारी होता है। सामान्यतया तैल का प्रयोग वात के गुणों के विपरीत होने से उपयोगी है। स्रोतस् में मृदुता उत्पन्न करने के साथ-साथ वात नाड़ीमण्डल को भी बल प्रदान करता है।

(ख) विहार—पूर्ण विश्राम, अल्प चेष्टा एवं आवश्यकतानुरूप आतप-सेवन को वात के लिये उपयुक्त बताया गया है।

(ग) विभिन्न उपक्रम—संवाहन, उद्वेष्टन, वित्रासन, विस्मापन, अभ्यङ्ग, उत्सादन, परिषेक तथा स्नेहन, स्वेदन, अनुवासन, आस्थापन और नस्य कर्म का प्रयोग किया जाता है। वातविकार में अनुवासन एवं आस्थापन को सर्वोत्कृष्ट माना गया है।

(घ) औषध—अनुलोमन, दीपन, स्निग्ध, उष्ण, पाचन औषधियों तथा रोगविशेष के लिये आधिकारिक योगों का प्रयोग करना चाहिये।

पित्त के उपक्रम—

(क) आहार—मधुर, तिक्त एवं कषाय रसयुक्त द्रव्य शीतवीर्य, मृदु द्रवविशेष, सुगन्धित, मनोनुकूल एवं हृद्य आहार का प्रयोग पित्तशामक होता है। घृतयुक्त आहार का प्रयोग करना चाहिये। पित्तशमन-हेतु घृत सर्वोत्तम द्रव्य है।

(ख) विहार—सुगन्धित एवं शीतल पवन एवं शीतल चाँदनी का सेवन शीतल गृहनिवास एवं शीतल शय्या पर शयन, मुक्ता, मणि एवं सुगन्धित फूलों के हार को धारण करना चाहिये।

(ग) विभिन्न उपक्रम—स्नेहन, विरेचन, प्रलेप, प्रदेह, परिषेक, रक्तमोक्षण आदि उपक्रमों का प्रयोग। चन्दनादि शीतल प्रलेप, शीतल जल के छीटें मारना, खस आदि के बने पंखों से हवा करना, चन्दन, खश, उशीर, मोथा आदि से सिद्ध जल से पुन:-पुन: आचमन करना चाहिये। विरेचन पित्त के लिये सर्वोत्तम उपक्रम है।

(घ) औषधियाँ—तिक्त, कषाय, शीतवीर्य एवं सर गुणयुक्त औषधियों का प्रयोग लाभकारी होता है। रोगविशेष के लिये विशिष्ट योगों का प्रयोग करना चाहिये।

कफ के उपक्रम—

(क) आहार—कटु, तिक्त, कषाय रसयुक्त, तीक्ष्ण, उष्ण वीर्य, रूक्ष एवं क्षार-युक्त आहार का प्रयोग कफदोष के शमन-हेतु उत्तम है। मधु का प्रयोग आहार एवं औषध के रूप में जरूर करना चाहिये।

(ख) विहार—व्यायाम, उष्ण स्थान पर निवास, द्वन्द्व युद्ध, मैथुन, रात्रिजागरण, जलक्रीड़ा एवं दौड़ना कफ के लिये शामक विहार हैं।

(ग) विभिन्न उपक्रम—स्वेदन, वमन, विरेचन, शिरोविरेचन, उत्सादन, उपनाहन, धूम्रपान, रूक्षोद्वर्तन एवं गण्डूष-धारण कफ-शमन के लिये सर्वोत्कृष्ट उपक्रम हैं। वमन कर्म कफ के लिये सर्वोत्तम उपाय है।

(घ) औषधियाँ—कटु, तिक्त, कषाय रसप्रधान, उष्ण वीर्य एवं तीक्ष्ण औषधियों का प्रयोग होना चाहिये। कफशामक के रूप में रूक्षता उत्पन्न करने वाले द्रव्यों का प्रयोग उपयोगी है।

व्याधिभेदानुरूप चिकित्सा—व्याधि के भेदों एवं समस्त लक्षणादि को देखते हुये ही चिकित्सा-व्यवस्था की जाती है। सामान्य रूप से एक रोग का जो चिकित्सासूत्र होता है, वह सम्पूर्ण रूप से उसके भेद में भी प्रयुक्त हो, यह जरूरी नहीं है। यद्यपि व्याधि के भेद में भी आधार या मूल रूप से तो यही चिकित्सासूत्र रहेगा; लेकिन व्याधि के विशिष्ट भेद में उत्पन्न विशिष्ट लक्षणों के आधार पर चिकित्सा-व्यवस्था की जाती है। इसे ही व्याधिभेदानुरूप चिकित्सा कहा जाता है।

स्थानानुरूप चिकित्सा—व्याधियों में मुख्य दोषों के अनुरूप लक्षण तो प्रकट होते ही हैं; साथ ही स्थान के अनुरूप भी लक्षणों की उत्पत्ति होती है। ऐसे में रोग के निवारण के लिये दोष का निर्हरण या शमन करना तो आवश्यक है ही, लेकिन इससे पहले उस स्थान के अनुरूप उपक्रम करना भी आवश्यक है, जहाँ पर दोष का आश्रय है। उदाहरणार्थ यदि कोई व्याधि वात दोष से उत्पन्न हुई हो; लेकिन स्थानसंश्रय

आमाशय हो तो वात की चिकित्सा जरूरी होते हुये भी पहले आमाशयरूपी स्थान के अनुरूप चिकित्सा करनी पड़ेगी। चूँकि आमाशय कफ का स्थान है; अतः लंघन, दीपन, पाचन, रूक्ष, उष्ण आदि उपक्रमों को करना पड़ेगा।

स्थानं जयेद्धि पूर्वं तु स्थानस्थस्याविरुद्धतः।।
(च. सू. 14/9 पर चक्रपाणि)

अर्थात् जब कुपित हुये दोष अपने स्थान को छोड़कर अन्य स्थान पर चले जायँ तो उनकी स्थानानुरूप चिकित्सा करनी चाहिये। विशेष निर्देश यह है कि स्थान पर रहने वाले दोष की अपेक्षा स्थान पर आये हुये दोष निर्बल हों तो पहले स्थानीय दोष की ही चिकित्सा करनी चाहिये। यदि स्थानीय दोष की अपेक्षा स्थान पर आने वाला दोष अधिक बलवान हो तो स्थानीय दोष का विरोध न करते हुये आने वाले दोष की चिकित्सा करनी चाहिये।

लक्षणानुरूप चिकित्सा—कई बार अधिक कष्टदायक लक्षणों की स्थिति असह्य होती है। कुछ लक्षण तो ऐसे होते हैं कि यदि उनका तत्काल शमन न हो तो मृत्यु भी होने की सम्भावना रहती है; अतः प्रधान चिकित्सा और उपर्युक्त रोगानुरूप चिकित्सा-सूत्र के उपक्रमों को छोड़कर भी ऐसे लक्षणों के तत्काल शमन की व्यवस्था करनी पड़ती है। तीव्र शिरःशूल, तीव्र उदरशूल, उच्च तापज्वर आदि ऐसे ही लक्षण हैं, जिनके अनुरूप चिकित्सा की तत्काल व्यवस्था आवश्यक होती है; परन्तु सर्वदा लक्षणानुरूप चिकित्सा को ही प्राथमिकता नहीं देनी चाहिये।

दूष्य-देशाद्यनुरूप चिकित्सा—आयुर्वेद में किसी रोगविशेष के लिये जिस औषध का निर्देश किया जाता है, उसका उस रोग के किसी भी रोगी में सर्वत्र एक-जैसे व्यवहार की छूट नहीं है।

आचार्य चरक ने दोष, भेषज, देश, काल, बल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्त्व, वय आदि का ध्यान रखते हुये चिकित्सा करने को कहा है। इसी प्रकार वाग्भट ने भी दूष्य, देश, बल, काल, अनल, प्रकृति, वय, सत्त्व, सात्म्य तथा आहार की विभिन्न अवस्थाओं को ध्यान में रखकर चिकित्सा-व्यवस्था करने को कहा है।

1. दूष्य—सप्त धातु, मूत्र-पुरीषादि मल तथा उपधातुओं को दूष्य कहा जाता है। रोगोत्पत्ति के लिये दोषों से दूष्यों का संसर्ग होना आवश्यक है; अतः चिकित्सा में भी दोष के निवारण के साथ-साथ दूष्य की विकृति को भी ठीक करने का उपाय करना चाहिये। रसादि दूष्यों की विकृति के निवारण के लिये विशेष उपक्रमों एवं चिकित्सा-सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है—

(क) रस—रस धातु की विकृति को दूर करने के लिये लंघन सर्वश्रेष्ठ उपाय है। दीपन-पाचन आदि जठराग्नि को बढ़ाने वाले उपक्रम भी लाभप्रद हैं।

(ख) रक्त—विरेचन, उपवास, रक्तमोक्षण, शीतल परिषेक तथा रक्तपित्त में बताये गये उपक्रमों से रक्तदुष्टि को ठीक किया जा सकता है।

(ग) मांस—मांस धातु की दुष्टि होने पर शस्त्रकर्म, अग्निकर्म, क्षारकर्म एवं लेखन कर्म करना उपयोगी है।

(घ) मेद—मेददुष्टि में गुरु एवं अपतर्पण चिकित्सा करनी चाहिये। नियन्त्रित सन्तुलित भोजन, आमपाचन उपाय, अल्प मात्रा में लंघन, मधु एवं यव का प्रयोग उत्तम है।

(ङ) अस्थि—अस्थिस्थित व्याधियों के निवारणार्थ पंचकर्म को श्रेष्ठ माना जाता है। वस्तिचिकित्सा, तिक्तवर्ग से सिद्ध दूध और सिद्ध घृत का प्रयोग लाभकारी होगा।

(च-छ) मज्जा-शुक्र—मज्जा और शुक्र धातु-विकृति की निवृत्ति के उपाय एक समान हैं। अल्प, मधुर एवं तिक्त रसप्रधान आहार, उचित मैथुन, व्यायाम और उपयुक्त काल में शोधन करने से इन दोनों धातुओं की दुष्टि नहीं होती। लघु सन्तर्पण का प्रयोग दोनों में लाभकारी होता है। शुक्र धातु के लिये वाजीकरण का प्रयोग करना चाहिये।

धातुओं की चिकित्सा में विशेष व्यवस्था—धातुदुष्टि-निवारण में एक विशेष व्यवस्था यह है कि धातुओं में स्थित दोष को पहले कोष्ठ में लाकर फिर निर्हरण किया जाता है। इसका विवेचन निम्नलिखित उपशीर्षकों में किया जा रहा है—

1. दोषों का कोष्ठ से शाखागमन—दोष प्रकुपित होकर धातुओं में प्राकृत रूप से स्थित अपने अंशों को बल प्रदान कर धातुविकृति का हेतु बन सकता है अथवा प्रत्यक्षतः दोष कोष्ठ में अविवृद्धावस्था में हो और उसी समय—

- व्यायाम करने से क्षुभित दोष कोष्ठ से शाखा में गमन करते हैं।
- अग्नि की अत्यधिक तीक्ष्णता से विलयित दोष शाखा में जा सकते हैं।
- हित द्रव्यों के सेवन का अभाव तथा अहित द्रव्यों के अति सेवन से और भी अधिक वृद्धिप्राप्त दोष शाखा में चला जाता है।
- वायु के चलत्व गुण की अभिवृद्धि होने से भी दोष शाखा में चले जाते हैं।

2. दोषों का शाखा से कोष्ठ में गमन—दोषों को शाखा से कोष्ठ में लाने के लिये निम्नलिखित उपाय किये जाते हैं—

वृद्ध्या विष्यन्दनात्पाकात् स्रोतोमुखविशोधनात्।
शाखां मुक्त्वा मलाः कोष्ठाः यान्ति वायोश्च निग्रहात्।।
(च. सू. 28/33)

1. वृद्धि, 2. विष्यन्दन, 3. पाक, 4. स्रोतोमुख-विशोधन, 5. वायुनिग्रह।

(ज) मल—

(अ) मूत्र—मूत्र के दूष्य रूप में होने पर स्वेदन, अवगाहन, अभ्यंग, भोजन के मध्य में घृतपान, अनुवासन, निरूहण और उत्तरवस्ति का प्रयोग करना चाहिये। आवश्यकता पड़ने पर मूत्रविरेचनीय और मूत्रविरजनीय द्रव्यों का प्रयोग भी हो सकता है।

(ब) पुरीष—स्वेदन, अवगाहन, अभ्यंग, वस्ति एवं वर्ति का प्रयोग पुरीष की विकृति में किया जाता है। विरेचन कर्म, संग्राही द्रव्यों तथा पुरीषविरजनीय द्रव्यों का प्रयोग भी हो सकता है।

(स) अपान वायु—स्नेहन, स्वेदन, वातानुलोमन, वस्ति एवं वर्ति का प्रयोग किया जा सकता है।

2. देश—शरीर पर देश तथा वातावरण का प्रभाव पर्याप्त रूप से देखा जाता है। खान-पान, रहन-सहन आदि में पर्याप्त अन्तर होने के कारण देशभेदानुरूप चिकित्सा एवं पथ्य की व्यवस्था करनी पड़ती है।

3. काल—काल को ध्यान में रखकर चिकित्सा करनी चाहिये।

4. बल—रोगी-रोग और भेषज के बलाबल का निश्चय करते हुये चिकित्सा व्यवस्था करनी चाहिये।

5. अनल (अग्नि)—जिस व्यक्ति की जठराग्नि प्रदीप्त होती है, उसमें सभी प्रकार के उपक्रमों का आवश्यकतानुसार निर्भीकतापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है। ऐसे व्यक्ति सभी प्रकार के औषध तथा आहार को पचाने की क्षमता रखते हैं और सामान्य रूप से बलवान ही होते हैं।

6. प्रकृति—चिकित्सा करते समय व्यक्ति की प्रकृति का ध्यान जरूर रखा जाना चाहिये। प्रकृति के अनुरूप दोष से उत्पन्न रोग अधिक कष्टकारक होते हैं।

7. वय—वयानुसार ही शरीर में बल तथा दोषों की न्यूनाधिक स्थिति रहती है। कुछ रोग तो उम्र के अनुसार ही होते हैं। बाल, वृद्ध और युवा में कुछ रोग अलग-अलग होते हैं; परन्तु कुछ रोग समान रूप से होते हैं; फिर भी रोगों के बलाबल में अन्तर होता है। इसके अलावा उपक्रमों के प्रयोग में भी अवस्था की पर्याप्त अपेक्षा करनी पड़ती है।

संशोधन, शस्त्रकर्म, क्षारकर्म, अग्निकर्म तथा अन्य ऐसे उपक्रम जो शरीर को थोड़ा-बहुत कष्ट देते हैं, उनका प्रयोग बालकों एवं वृद्धों में नहीं किया जाता। युवाओं में सभी प्रकार के उपक्रमों और औषधियों का प्रयोग किया जा सकता है।

8. सात्म्य—

(i) प्रवरसात्म्य—जिन लोगों को सर्व रस तथा आहार-विहारादि सात्म्य होते हैं, वे प्रवरसात्म्य वाले होते हैं। ऐसे लोग बलवान तथा दु:ख सहने की क्षमता वाले होते हैं। इन पर सभी उपक्रमों का प्रयोग किया जा सकता है।

(ii) अवरसात्म्य—जो लोग एक रसाभ्यासी तथा अनेक द्रव्यों से परहेज करने वाले होते हैं, वे अवरसात्म्य कहलाते हैं। ऐसे लोगों में क्लेशसहिष्णुता का अभाव होता है। इन्हें रोग बड़े कष्टदायक होते हैं। इन पर सभी उपक्रमों का प्रयोग भी नहीं किया जा सकता।

9. सत्त्व—सत्त्व का अर्थ है—मन। मन को बलाबल के आधार पर तीन तरह से विभक्त करके सत्त्वयुक्त व्यक्तियों का विभाजन तीन प्रकार से किया जाता है—

(i) प्रवर सत्त्व—जिन व्यक्तियों का सत्त्व अधिक स्थिर, दृढ़, विवेकी तथा सत्त्व गुण की अधिकता वाला होता है, ऐसे व्यक्ति अत्यन्त गम्भीर और क्लेशसहिष्णु होते हैं। इन्हें प्रवर सत्त्व वाला कहा जाता है।

(ii) मध्य सत्त्व—जिन्हें आश्वासन देने पर मन में स्थिरता या दृढ़ता उत्पन्न होती है तथा सामान्यतया जिनका मनोबल मध्यम स्वरूप का हो, वे मध्य सत्त्व कहलाते हैं।

(iii) अवर सत्त्व—अवर सत्त्वयुक्त व्यक्तियों में क्लेशसहिष्णुता बिलकुल भी नहीं होती। वे कष्टदायी उपक्रमों के नाम से ही घबरा जाते हैं। ऐसे लोग न तो स्वयं और न ही दूसरों को देखकर या दूसरों के आश्वासन आदि से ही धैर्य धारण कर पाते हैं। ये बिलकुल भी धैर्यवान नहीं होते। अल्प बल व्याधि को भी ये महान् कष्टदायी व्याधि की तरह प्रदर्शित करते हैं।

आचार्य चरक ने लघुव्याधित और गुरुव्याधित रोगियों का वर्णन उपर्युक्त मानसिक स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिये ही किया है। जो व्यक्ति अवर सत्त्व होता है, वह थोड़ा कष्ट या लघु व्याधि होते हुये भी गुरु व्याधि की तरह प्रदर्शित करता है; जबकि प्रवर सत्त्व व्यक्ति गुरु व्याधि से ग्रस्त होते हुये भी कष्ट सहन करने की क्षमता होने के कारण लघु व्याधि की तरह प्रदर्शित करता है। मानसिक स्थिति को जानकर ही रोग की चिकित्सा करनी चाहिये; क्योंकि लघुव्याधित व्यक्ति के अवर सत्त्व के कारण महाव्याधि की तरह प्रदर्शित करने पर उसमें अधिक वीर्यवान तथा तीक्ष्ण औषध या उपक्रम का प्रयोग करने पर हानि हो सकती है। इसके विपरीत गुरुव्याधित भी कष्टसहिष्णुता के कारण अपनी व्याधि को लघु व्याधि की तरह प्रदर्शित करता है तो उसके अनुसार अल्प वीर्य औषध देने पर वह व्याधि को दूर नहीं कर पाती, अपितु दोषों का उत्क्लेश करते हुये हानि ही पहुँचाती है। इसीलिये सत्त्व का ज्ञान परमावश्यक है।

10. आहार—आहार जठराग्नि, देश, काल, पुरुष, व्याधि एवं व्याधिबल की अपेक्षा रखता है। चिकित्सा में भी इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि किस व्यक्ति

की आहारशक्ति (अभ्यवहरण शक्ति और जारण शक्ति) कैसी है तथा सामान्यतया किस प्रकार के आहार का सात्म्य स्वरूप है। पथ्य-व्यवस्था का स्वरूप शाकाहारी और मांसाहारी में पृथक्-पृथक् होता है। रोगी में आहार रससात्म्यता का भी ध्यान रखना चाहिये। चिकित्सा करते समय पथ्यापथ्य का ध्यान रखना बहुत महत्त्वपूर्ण है।

स्रोतोऽनुरूप चिकित्सा—शरीर में किसी भी द्रव्य की उत्पत्ति अथवा क्षय स्रोतस् के विना नहीं हो सकती है; क्योंकि शरीर में सभी द्रव्यों का सञ्चरण स्रोतस् के द्वारा ही होता है। इसीलिये अगर इन सञ्चरित होने वाले द्रव्यों में विकृति होती है तो स्रोतस् भी विकृत हो जाते हैं। इसी प्रकार अगर स्रोतस् में कोई विकृति होती है तो उनमें सञ्चरित होने वाले द्रव्य भी दूषित हो जाते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि स्रोतस् जब तक स्वस्थ अवस्था में रहते हैं तब तक शरीर में रोगोत्पत्ति नहीं हो सकती और जब इन स्रोतसों में विकृति होती है तो रोग उत्पन्न होते हैं।

संक्षेप में निम्नलिखित चिकित्सा स्रोतोऽनुरूप चिकित्सा के लिये अपनानी चाहिये। प्राणवह स्रोतस् में दुष्टि होने से रोग उत्पन्न होने पर श्वास रोग में बताई गयी चिकित्सा, उदकवह स्रोतस् में विकार होने पर तृष्णा रोगनाशक चिकित्सा और अन्नवह स्रोतस् में विकृति होने पर आम दोषनाशक (दीपन-पाचन) चिकित्सा की जाती है। रसादि स्रोतस् की विकृति में अपने-अपने लक्षणों के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये। इसी प्रकार दूषित मूत्रवह स्रोतस् की चिकित्सा मूत्रकृच्छ्रवत् करनी चाहिये। मलवह स्रोतस् की चिकित्सा अतिसारवत् एवं स्वेदवह स्रोतस् की चिकित्सा ज्वरचिकित्सावत् करनी चाहिये।

आवरण-चिकित्सा—आवरण का सिद्धान्त विशेषतः वातव्याधियों के सन्दर्भ में स्थापित किया गया है। वायु पित्तादि दोषों से तथा परस्पर अपने अपानादि भेदों से आवृत्त होकर तदनुरूप लक्षणों को उत्पन्न करती है। इस स्थिति में आवरण के अनुसार चिकित्सा करनी पड़ती है।

आवरण का अर्थ है—मार्ग में रुकावट अथवा अवरोध। प्रकुपित दोषों के द्वारा अथवा वात के किसी भेद द्वारा किसी विशिष्ट वायु की क्रिया का उसके मार्ग में अवरोध होने से मन्द हो जाना आवरण कहलाता है। जो दोषादि का आवरण करते हैं, उन्हें आवरक तथा उससे बाधित दूसरे वायु को आवृत्त कहा जाता है। आवरक वायु को बलवान तथा आवृत्त वायु को दुर्बल कहा गया है।

आवरण-चिकित्सासूत्र के तौर पर चरक ने बताया है कि सामान्यतया आवरणजन्य व्याधियों में सर्वप्रथम आवरक की ही चिकित्सा करनी चाहिये। आवृत्त दोष की चिकित्सा उसके बाद करनी चाहिये। यदि वात पर पित्त व कफ—दोनों का आवरण हो तो पित्त की चिकित्सा पहले करनी चाहिये और उसके बाद कफ की।

अतः आवरणों का विनिश्चय करके तदनुरूप चिकित्सा करनी चाहिये। वायु जिस

कफज रोग—उष्ण जल, पुरानी शराब, ताजी ताड़ी, गोमूत्र, काँजी आदि।

5. मांस—

वातज रोग—रोहू एवं वर्मी मछली, मगर, कछुआ, हंस, सारस, बकेरा, बगुला, मोर, तित्तिर, गौरय्या, मेढक, साही, खरगोश आदि।

पित्तज रोग—रेगिस्तानी पशुओं का मांसरस, खरगोश का मांस।

कफज रोग—खरगोश।

6. अन्य—

वातज रोग—घृत, तैल, चर्बी, मज्जा, चीनी, मिश्री, ताम्बूल आदि।

पित्तज रोग—घृत, नारियलपानी, मधु का शर्बत, चीनी, फालसे का शर्बत, सौंफ का अर्क, चन्दन आदि।

कफज रोग—भांग, पीपर, पान, मधु, मुलहठी आदि।

अपथ्य

1. धान्य—

वातज रोग—साँवा, कोदो, कंगुनी, चना, मोठ, मटर, ठंढ़ा भोजन, सभी दालें (मूँग, उड़द कम अहितकर), रूक्ष, कषाय, शीतल पदार्थ, यव, मक्का, ज्वार आदि।

पित्तज रोग—मसूर, कुलथी, मोटे चावल, मक्का, चौलाई, राजमा आदि।

कफज रोग—नया चावल, नये उड़द, सभी मधुर-स्निग्ध-गुरु पदार्थ, पिष्टी के पदार्थ, खोवा एवं दूध से बने गरिष्ठ पदार्थ।

2. शाक—

वातज रोग—पत्रशाक (बथुआ को छोड़कर), भिण्डी, ग्वार की फली, अरवी, आलू, गोभी, सेम, वीन्स आदि।

पित्तज रोग—आलू, अदरक, मिर्च, सरसों का शाक, वैगन एवं विदाही शाक।

कफज रोग—कटहल, भिण्डी, अरवी आदि।

3. फल—

वातज रोग—कच्चा कपित्थफल, जामुन, तेन्दू आदि।

पित्तज रोग—जम्बीरी नींबू, बेर, बड़हल, इमली, कैथी, कपित्थ, कमरख एवं अचार।

कफज रोग—केला, बेर, आलू आदि।

4. पेय—

वातज रोग—ठण्डा पानी, गरी का दूध, ठंढ़े पेय आदि।

पित्तज रोग—काञ्जी मदिरा।

कफज रोग—दूध, मन्दक दही, अभिष्यन्दि पेय।

5. अन्य—

वातज रोग—कमलनाल, सुपारी, क्षार, अचार, मिर्च-मसाले, इमली, अमचूर एवं अन्य खटाई।

पित्तज रोग—निरुद्ध भोजन (दूध-मछली), दही, सोंठ एवं राई से बने व्यंजन आदि।

कफज रोग—नारियल का पानी, बर्फ, ईख, आइसक्रीम, ठंढे पेय आदि, मछली एवं आनूप मांस तथा सभी प्रकार के क्रीत मांस।

अनुपान

आयुर्वेदीय चिकित्सा में अनुपान का विशिष्ट स्थान है। स्वस्थावस्था में दोषों को अविकृत रखने तथा रुग्णावस्था में दोषों का निवारण करने में अनुपान का महत्त्व एक समान माना जाता है।

परिभाषा—

1. जिसे भेषज के साथ या बाद में पीया जाय, वह अनुपान कहलाता है।[1]

2. आचार्य चरक ने आहार के बाद पीये जाने वाले पेय को अनुपान कहा है;[2] लेकिन यह निर्देशपरक है। अतः आहार या औषध के बाद पीये जाने वाले पेय को अनुपान ही कहा जाता है।

3. डल्हण भी अन्न के बाद पीये जाने वाले पेय को अनुपान कहते हैं।[3] आचार्य सुश्रुत ने अनुपान का विस्तृत वर्णन करते हुये आहार तथा औषध या रोगानुसार विशिष्ट अनुपान का वर्णन किया है।

---

1. अनुभेषजेन सह पश्चाद्वा पीयते, कर्मणि ल्युट्। ओषधेन सह तत्पश्चाद्वा पेयं मधुगुड़ादौ। (वाचस्पत्यम्)

2. यदाहारगुणैः पानं विपरीतं तदिष्यते।
अन्नानुपानं धातूनां दृष्टं यन्न विरोधि च।। (च. सू. 27/319)

3. अन्नादनु पश्चात् पीयत इत्यनुपानम्। (सु. सू. 46/419 परडल्हण)

अनुपान-सिद्धान्त—अनुपान के विशिष्ट सिद्धान्त सुनिश्चित हैं। इनका पालन अनुपान-व्यवस्था में ध्यानपूर्वक करना चाहिये।

1. आहार गुणविपरीत।
2. धातुविरुद्ध न हो।
3. दोषों के विपरीत या दोषोत्क्लेश न करने वाला।
4. औषध के अनुकूल।
5. व्याधि एवं काल के अनुरूप।
6. विधिपूर्वक सेवन किया गया अनुपान।
7. स्वगुणयुक्त सर्वहितकारी अनुपान।
8. मात्रानुरूप अनुपान।

दोषानुसार अनुपान—

वायु में—स्निग्ध एवं उष्ण अनुपान वात दोष में सर्वदा हितकारी होता है। चरकसंहिता के कल्पस्थान में विभिन्न औषधियों के साथ अनुपानरूप में प्रयोगार्थ दोषानुसार कुछ द्रव्यों का निर्देश किया गया है; जैसे—सुरा, सौवीरक, तुषोदक, मैरेय, मेदक, काञ्जी, अम्ल फलों का रस।

पित्त में—मधुर एवं शीतल अनुपान पित्त में हितकारी है। इसके अतिरिक्त मुनक्का, आँवला, मधु, महुआ, फालसा, दूध एवं राव आदि से निर्मित पेय पदार्थों का पित्त में अनुपानार्थ प्रयोग करना चाहिये।

कफ में—रूक्ष एवं उष्ण अनुपान कफ दोष में लाभकारी है। साथ ही शहद, मूत्र एवं श्लेष्महर द्रव्यों से बनाये गये क्वाथ का प्रयोग करना चाहिये।

रोगानुसार अनुपान—अनुपान आहार के पाचन तथा औषध के कार्मुकत्व में सहायक होने के साथ-साथ स्वयं भी स्वतन्त्र रूप से रोगों के विनाश का सामर्थ्य रखते हैं। अतः आहारौषध के साथ रोगानुरूप अनुपान किया जाता है। जैसे—

रोग	अनुपान
रक्तपित्त	दूध एवं ईक्षुरस
विषप्रयोग	आक, लिसोडा एवं शिरीषक्वाथ या आसव-अरिष्ट
अतिसार	दही
क्षय एवं उरःक्षत	मांसरस
ज्वर	उष्णोदक, षडंगपानीय
गुल्म	मद्य या आसव
ग्रहणी	दही या तक्र
कास	मधु एवं आर्द्रक-स्वरस, वासाक्वाथ

पाण्डु	गोमूत्र, ईक्षुरस
दाह, मद, मूर्च्छा	द्राक्षारस
प्रमेह	जौ के सत्तू का मन्थ, जौ का पानी
रक्तप्रदर, रक्तार्श	मण्ड
अपस्मार, उन्माद	आसव-अरिष्ट

स्नेहानुसार अनुपान—सम्यक् स्नेहन एवं स्नेहव्यापत् के निवारणार्थ विभिन्न अनुपानों का प्रयोग किया जाता है। जैसे—

स्नेह	अनुपान
घृत	उष्ण जल
तैल	यूष
वसा और मज्जा	मण्ड
सभी स्नेहों के साथ	उष्ण जल

अनुपान में वर्ज्य—अनुपान के प्रयोग के तत्काल बाद अध्वगमन, अध्ययन, गायन एवं शयन नहीं करना चाहिये। ऐसा करने पर अनुपान वातादि दोषों का प्रकोप करते हुये अग्निमान्द्य, वमन, उत्क्लेश एवं शूल आदि को उत्पन्न करता है। अतः अनुपान का यथाविधि प्रयोग करने पर आशातीत लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

दोषों के वृद्धि-क्षय के लक्षण

वातवृद्धि के लक्षण—

वातभेद	लक्षण
1. प्राणवायु	शक्ति की कमी, प्रलाप, दीनता, भ्रम, अनिद्रा
2. उदानवायु	वाणी की परूषता, मुख-नेत्र आदि का कालापन
3. समानवायु	उष्ण पदार्थों के सेवन की इच्छा
4. अपानवायु	मल का गाढ़ा/शुष्क होना
5. व्यानवायु	त्वचा का रूखापन, कृशता, अंगों का फड़कना, हाथ-पैर, मुख आदि का फटना

वातक्षय के लक्षण—

वातभेद	लक्षण
1. प्राणवायु	प्रसन्नता का अभाव, ज्ञान की कमी, बुद्धि का मोह
2. उदानवायु	अल्प भाषण
3. समानवायु	मन्दाग्नि
4. अपानवायु	मलावरोध
5. व्यानवायु	समस्त कर्मों की मन्दता, अंगों का ढ़ीलापन

पित्तवृद्धि के लक्षण—

पित्तभेद	लक्षण
1. पाचक पित्त	तृष्णा, शीतकामिता
2. रञ्जक पित्त	पीतावभासता, पीत मल-मूत्र-नेत्र
3. आलोचक पित्त	नेत्रपीतता
4. साधक पित्त	निद्राल्पता, मूर्च्छा, बलहानि, इन्द्रियदौर्बल्य, भ्रम
5. भ्राजक पित्त	सन्ताप, दाह

पितक्षय के लक्षण—

पित्तभेद	लक्षण
1. पाचक पित्त	मन्दाग्नि
2. रञ्जक पित्त	पाण्डु
3. आलोचक पित्त	मन्द दृष्टि, अदर्शन
4. साधक पित्त	निष्प्रभता (कान्तिहीनता)
5. भ्राजक पित्त	मन्दोष्मा

कफवृद्धि के लक्षण—

कफभेद	लक्षण
1. तर्पक कफ	तन्द्रा, निद्राधिक्य, गौरव, शिथिलता, आलस्य
2. बोधक कफ	प्रसेक
3. क्लेदक कफ	मल-मूत्र-नेत्र-त्वचा का श्वेत होना, अग्निमान्द्य
4. अवलम्बक कफ	श्वास, कास, शीत लगना
5. श्लेषक कफ	संधियों एवं अस्थियों में विश्लेष, शिथिलता, अंगों में ढ़ीलापन, निश्चलता

कफक्षय के लक्षण—

कफभेद	लक्षण
1. तर्पक कफ	अनिद्रा, रूक्षता, कफस्थानों की शून्यता, दुर्बलता

2. बोधक कफ	तृष्णा
3. क्लेदक कफ	अन्न का क्लेदन आमाशय में भली प्रकार न होना, विषमाग्नि
4. अवलम्बक कफ	अन्तर्दाह, हृद्द्रव
5. श्लेषक कफ	सन्धिशैथिल्य

धातुओं के क्षय-वृद्धि के लक्षण

रसक्षय के लक्षण—

1. हृच्छूल
2. हृद्द्रव
3. शब्दासहिष्णुता
4. ग्लानि
5. शून्यता
6. श्रम
7. कम्प
8. तृष्णा

रसवृद्धि के लक्षण—

1. हृदयोत्क्लेद
2. लालाप्रसेक
3. छर्दि
4. अग्निमान्द्य
5. कास
6. श्वास
7. अतिनिद्रा
8. आलस्य
9. गौरव
10. श्वेत
11. शीत
12. शिथिलता

रक्तक्षय के लक्षण—

1. सिराशैथिल्य
2. त्वक्पारूष्य
3. त्वक्स्फुटन
4. त्वक्-म्लानता
5. अम्ल प्रार्थना
6. शीत प्रीति

रक्तवृद्धि के लक्षण—

1. सिरापूर्णता
2. रक्तपित्त
3. कुष्ठ
4. वातरक्त
5. विद्रधि
6. गुल्म
7. विसर्प
8. व्यंग-झाई
9. कामला
10. प्लीहावृद्धि
11. अग्निनाश
12. सम्मोह
13. उपकुश
14. त्वचा का रक्त वर्ण होना
15. नेत्रों का लाल होना
16. मूत्र का लाल होना

मांसवृद्धि के लक्षण—

1. गुरुगात्रता
2. स्फिग्वृद्धि
3. गण्डवृद्धि
4. ओष्ठवृद्धि
5. बाहुवृद्धि
6. ऊरूवृद्धि
7. जंघा
8. उपस्थवृद्धि
9. उदरवृद्धि
10. अधिमांस
11. गलगण्ड
12. गण्डमाला
13. अर्बुद
14. ग्रन्थि

मांसक्षय के लक्षण—

1. स्फिग्-शुष्कता
2. गण्डशुष्कता
3. ओष्ठशुष्कता
4. उपस्थशुष्कता
5. ऊरूशुष्कता
6. वक्षशुष्कता
7. कक्षाशुष्कता
8. पिण्डिका-शुष्कता
9. उदरशुष्कता
10. ग्रीवाशुष्कता
11. ग्लानि
12. सन्धि-वेदना
13. रौक्ष्य
14. तोद
15. गात्रसदन
16. धमनी-शैथिल्य

मेदवृद्धि के लक्षण—

1. स्निग्धांगता
2. उदरवृद्धि
3. पार्श्ववृद्धि
4. स्फिग्वृद्धि
5. स्तनवृद्धि
6. थोड़े परिश्रम से श्रम होना
7. थोड़े परिश्रम से श्वास
8. कास
9. श्वास
10. दौर्गन्ध्य
11. गण्डमाला

मेदक्षय के लक्षण—

1. सन्धियों की शून्यता
2. सन्धियों के स्फुटन
3. नेत्रों में ग्लानि
4. श्रम
5. प्लीहावृद्धि
6. रूक्षता
7. उदर आदि अंगों की कृशता
8. स्निग्ध मांससेवन की इच्छा होना

अस्थिवृद्धि के लक्षण—

1. अध्यस्थि
2. अधिदन्त
3. केश की अतिवृद्धि
4. नख की अतिवृद्धि

अस्थिक्षय के लक्षण—

1. अस्थितोद
2. दन्तभङ्ग
3. नखभंग
4. केश का झड़ना
5. लोम का झड़ना
6. श्मश्रु का झड़ना
7. सन्धि-शैथिल्य
8. श्रम

मज्जावृद्धि के लक्षण—

1. सर्वांग गौरव
2. नेत्रगौरव
3. सन्धियों के मूल में मोटी तथा कष्टसाध्य फुंसियों का होना

मज्जाक्षय के लक्षण—

1. अस्थिशूल
2. अस्थितोद
3. अस्थिशून्यता
4. अस्थियों का खुरना
5. पर्वभेद
6. अस्थियों का लघु होना
7. अस्थिदौर्बल्य
8. सदा वातरोग से पीड़ित
9. शुक्राल्पता

शुक्रवृद्धि के लक्षण—

1. शुक्र का अतिप्रादुर्भाव
2. अतिस्त्रीकामता
3. शुक्राश्मरी

शुक्रक्षय के लक्षण—

1. दौर्बल्य
2. पाण्डुता
3. मुखशोष
4. सदन
5. श्रम
6. मैथुन की अशक्ति
7. क्लैव्य
8. मेढ्र वेदना
9. वृषण वेदना
10. शुक्रल्पता
11. स्रोतस् में कुछ रक्तमिश्रित शुक्र का दिखाई देना

मलों के क्षय-वृद्धि के लक्षण

मूत्रवृद्धि के लक्षण—

1. अधिक मात्रा में बार-बार मूत्र का त्याग होना
2. बस्तितोद
3. आध्मान
4. मूत्रोत्सर्ग के बाद भी मूत्रत्याग की इच्छा बनी रहना।

मूत्रक्षय के लक्षण—

1. मूत्रकृच्छ्र
2. मूत्रवैवर्ण्य
3. अतितृषा
4. मुख की शुष्कता
5. अल्पमूत्रता
6. बस्तितोद
7. रक्तवर्ण/रक्तमिश्रित मूत्र का आना

पुरीष की वृद्धि के लक्षण—

1. कुक्षिपीड़ा
2. आध्मान
3. पार्श्वपीड़ा
4. सशब्द वायु का ऊर्ध्वगमन

पुरीषक्षय के लक्षण—

1. आन्त्रपीड़ा
2. पार्श्वपीड़ा
3. हृदयपीड़ा
4. सशब्द वायु का ऊर्ध्वगमन

स्वेदवृद्धि के लक्षण—

1. त्वचा में दुर्गन्धि
2. कण्डू

स्वेदक्षय के लक्षण—

1. स्तब्ध रोमकूपता
2. त्वक्शोष
3. स्पर्शवैगुण्य
4. रोमच्युति
5. स्फुटन

दोषों का कोष्ठ से शाखा में गमन के कारण—

1. व्यायाम
2. उष्मा की तीक्ष्णता
3. अहित सेवन
4. वायु का शीघ्रगामी होना

दोषों का शाखाओं से कोष्ठ में गमन के कारण—

1. दोषवृद्धि
2. विष्यन्दन—स्नेहन कर्म, स्वेदन कर्म
3. पाक—साम अवस्था—निराम अवस्था
4. स्रोतोमुख-विशोधन—
   - स्नेहन कर्म
   - स्वेदन कर्म
   - संशोधन कर्म—वमन, विरेचन आदि
   - पाचन कर्म
   - रूक्षण कर्म
5. वायु का निग्रह

क्रियाकाल

संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयम्।
व्यक्तिभेदं च यो वेत्ति रोगाणां स भवेद्भिषक्।।(सु.सू. 12.35)

विषम दोष जिस क्रम से रोग उत्पन्न करते हैं, उस क्रम में छः अवस्थायें होती हैं, उन्हें ही क्रियाकाल कहते हैं।

- क्रिया का अर्थ है—चिकित्सा,
- काल का अर्थ है—अवसर

अर्थात् चिकित्सा का अवसर। ये छः क्रियाकाल इस प्रकार हैं—

1. संचय
2. प्रकोप
3. प्रसर
4. स्थानसंश्रय
5. व्यक्ति
6. भेद

क्रियाकाल-वर्णन

	परिचय	कारण	लक्षण
संचय	स्वस्थान में दोषों की वृद्धि होना	* ऋतुओं के अनुसार (नैमित्तिक) * असात्म्येन्द्रियार्थ संयोगजन्य * वय के अनुसार (आवस्थिक) * प्रज्ञापराधजन्य (अस्वाभाविक)	* कोष्ठ में भारीपन * पूर्णता, पीलापन * अंगों में भारीपन * आलस्य * संचय कारणों से द्वेष * विपरीत गुण पदार्थों की इच्छा
प्रकोप	दोष का उन्मार्ग में गमन ही प्रकोप है	* संचय काल में चिकित्सा न करना * अनुकूल कारणों की उपस्थिति * ऋतुओं के अनुसार * आहार-विहार के प्रभाव से	* उदर में व्यथा * वायु का संचार * खट्टी डकार * प्यास, दाह * अन्नद्वेष * हृदयोत्क्लेद
प्रसर	दोष चलायमान होकर स्रोतों द्वारा शरीर में सर्वत्र फैल जाता है	* प्रकोपावस्था में दोष का शमन न करना	* दोष के अनुसार तीव्र लक्षण उत्पन्न करता है।
स्थान-संश्रय	* शरीर के किसी भी अवयव या स्थान में दोषों का अवरुद्ध होकर विकार उत्पन्न करना * यहाँ दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना होती है। * पूर्वरूप प्रकट होते हैं।	* प्रसर में चिकित्सा न करना	* भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न पूर्वरूप * उदरस्थित दोष मन्दाग्नि, अतिसार, गुल्म आदि करते हैं। * वस्तिगत प्रमेह, मूत्ररोग आदि * मांस तथा रक्तगत विसर्प, कुष्ठ आदि
व्यक्ति	* रोग से सम्बद्ध वे सभी लक्षण प्रकट हो जाते हैं, जिनके आधार पर व्याधि को निश्चय रूप से जाना जाता है	* स्थानसंश्रय में दोषों का शमन न करना अथवा अन्य कारण रोग के अनुसार	* स्थान के अनुरूप रोग-लक्षण प्रकट * रोग के अनुसार लक्षण; यथा—ज्वर में संताप
भेद	* रोग में दोषों की प्रधानता के अनुसार भेद करते हैं। * अर्थात् रोग की जाति का स्पष्ट बोध	* अधिक समय तक रोग का बने रहना; अतः दीर्घकालानुबन्ध	* रोग में दोष-अनुसार लक्षण उत्पन्न; यथा वात, पित्त, कफ अथवा सान्निपातिक आदि भेद के अनुसार लक्षण।

व्यापन्न ऋतु

परिभाषा—जब ऋतुयें अपना स्वाभाविक स्वरूप छोड़कर विकृत हो जाती हैं, उन्हें ही व्यापन्न ऋतुयें कहते हैं।

कारण—

1. प्रमुख कारण है—अधर्म
2. अधर्म के कारण रूष्ट देवता। यही मुख्य कारण चरक-विमानस्थान में बताया गया है।

लक्षण—

1. ऋतुओं का अतियोग, अयोग अथवा मिथ्यायोग होता है।
2. वायु उचित रूप से नहीं बहती।
3. पृथ्वी शक्तिहीन हो जाती है।
4. जल सूख जाता है।
5. औषधियाँ अपने स्वाभाविक गुणों को छोड़कर विकृत हो जाती हैं।

6. स्पर्श तथा खाद्य पदार्थों के दोष से पूरे देश में महामारी व्याप्त हो जाती है।
7. देश उजड़ने लगता है।

व्यापन्न ऋतुओं में रोग का कारण—

1. ऋतुओं के हीन, अति एवं मिथ्यायोग से दोषप्रकोप।
2. गुणहीन अन्नादि के आहार-सेवन से दुर्बल शरीर।
3. विषयुक्त वायु, विषयुक्त औषध एवं उग्र तीक्ष्ण गन्ध आदि से युक्त वातावरण होने के कारण दोषप्रकोप।
4. प्रवृद्ध लोभ, क्रोध, मोह आदि के कारण मनुष्य मानवता को भूल कर परस्पर युद्धरत हो जाता है। इससे भी रोग की उत्पत्ति एवं मृत्यु होती है।
5. अपवित्रता के कारण जीवाणु के संक्रमण से जनपदोद्ध्वंस।
6. गुरु, वृद्ध, सिद्ध, ऋषि तथा पूज्यों का तिरस्कार से रूष्ट होकर शाप देना।

● जिस प्रकार की ऋतु-विकृति होगी, तदनुसार ही दोषों का प्रकोप होने लग जाता है।

वात

संचय-लक्षण—

1. रूक्ष, शीत, कठिन, खर आदि पदार्थों से द्वेष होता है।
2. स्निग्ध, उष्ण, गुरु अन्न का सेवन करने में रुचि होती है।
3. कटु, तिक्त, कषाय आदि रस अरुचिकर लगते हैं।

वातप्रकोप-लक्षण—

1. अंगों का संकोच।
2. अस्थिसन्धियों की स्तब्धता और व्यथा।
3. रोमाञ्च, प्रलाप, कम्प।
4. हाथ, पैर, शिर में स्तब्धता।
5. खञ्जता, पंगुता, कुब्जता, अंगों का शोष।
6. अनिद्रा, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की निर्बलता।
7. वीर्यनाश, नष्टार्तव, गर्भ की विकृति।
8. स्पर्श का ज्ञान न होना।
9. अंगों में टुटन।
10. शूल।
11. आक्षेप।
12. श्रम, मोह, भय, शोक, दैन्य स्रंश-भ्रंश आदि अस्सी प्रकार के वातरोग।

पित्त

संचय-लक्षण—

1. त्वचा की पीतवर्णता।
2. दाह, शीत वस्तुओं की इच्छा, तिक्त स्वाद।
3. निद्राल्पता, क्रोध की वृद्धि।
4. मद, भ्रम, मूर्च्छा।
5. इन्द्रियों की शक्ति का ह्रास।
6. मल, मूत्र एवं नेत्र का पीलापन आदि।

प्रकोप-लक्षण—

1. एकाङ्ग या सर्वाङ्ग शरीर में दाह।
2. शरीर में उष्णता का अधिक होना।
3. व्रणपाक होना, क्रोध, कण्डू, स्राव, राग (नील, पीत आदि वर्ण)।
4. मुख में तिक्त रस या अम्ल रस का स्वाद।
5. शरीरशैथिल्य, मूर्च्छा और मद।
6. कच्ची खट्टी डकार, विदाह, उष्णता, बुद्धिभ्रम, कण्ठशोष तथा मुखशोष आदि नानात्मज विकार।

कफ

संचय-लक्षण—

1. मूत्र, पुरीष, नख, नेत्र और त्वचा में श्वेतता।
2. शैत्य, स्थिरता, भारीपन, अवसाद, आलस्य।
3. तन्द्रा, निद्राधिक्य, सन्धियों एवं अस्थियों में शैथिल्य।
4. मुंह में पानी आना।
5. श्वास, कास, जी मिचलाना, मन्दाग्निता।

प्रकोप-लक्षण—

1. श्वेतता, शीतलता, कण्डू, इन्द्रियों की असमर्थता।
2. भारीपन, माधुर्य, स्थिरता, स्निग्धता, निद्रा।
3. आर्द्रता, शोथ, आलस्य, मन्दाग्नि।
4. मुख का स्वाद मीठा या नमकीन होना, प्रसेक, तृप्ति।
5. वस्तुओं का श्वेत दीखना।
6. मूत्र की अधिकता, शुक्र की अधिकता।
7. शीत लगना, उष्ण पदार्थों की इच्छा।

8. तिक्त रस की रुचि।
9. मलों की अधिकता।
10. वर्णों का उच्चारण करते समय कण्ठ में घरघराहट और चेतनता का अभाव।

दोष-दूष्य का आश्रयाश्रयीभाव

दोष दूष्यों में आश्रयाश्रयीभाव से रहते हैं; यथा—

1. अस्थि वायु का आश्रय है।
2. स्वेद तथा रक्त पित्त के आश्रय हैं।
3. रस, मांस, मेद, मज्जा, शुक्र, मूत्र मुख्य रूप के कफ के आश्रय हैं।

● अत: जो आहार-विहार आश्रय या आश्रयी में से एक की वृद्धि या क्षय करते हैं, वह दूसरे की भी वृद्धि या क्षय करते हैं।

अपवाद—

● लंघन से धातुओं एवं मलों का क्षय होता है, जो वायुवर्धक है; किन्तु इससे अस्थि धातु की वृद्धि नहीं होती; अपितु क्षय होता है।

आम

विरुद्धाध्यजीर्णाशनशीलिनः पुनरामदोषमामविषमामनन्ति। विषसदृशलिङ्गत्वात् तत्परमसाध्यमाशुकारितया विरुद्धोपक्रमत्वाच्च। (अ. सं. 11/19)

विरुद्ध आहार करने से, अध्यशन करने से और अजीर्ण में भोजन करने से जो आम दोष बनता है, उसको आमविष कहते हैं। इसमें विष के सदृश लक्षण होते हैं। यह परम असाध्य होता है; क्योंकि यह आशुकारी होता है तथा इसकी चिकित्सा भी परस्पर विरुद्ध होती है, क्योंकि विष में शीतोपक्रम तथा आम में उष्णोपक्रम किया जाता है।

अवस्थाभेद से दो प्रकार—

1. आम अन्न (अन्नविष)
2. आमरस

उत्पत्ति के कारण—

1. आम अन्न—जठराग्नि-मन्दता के कारण उत्पन्न।
2. आम रस—जठराग्नि एवं धात्वग्निमान्द्य के कारण उत्पन्न।

● आम अन्न के कारण सद्य:कालिक रोग होते हैं। जैसे—अलसक, विसूचिका, विलम्बिका।

● आमरस के कारण चिरकालिक रोग होते हैं। जैसे—आमवात।

आम की उत्पत्ति के अन्य कारण—

1. आहार—अप्रिय, अपवित्र, गरिष्ठ, शीतल, विषम आहार।
2. मल-मूत्र के वेग को रोकना।
3. दिन में सोना, रात्रि में जागना, असुख शैय्या।
4. दीर्घकालिक रोग।
5. मानसिक कारण—ईर्ष्या, द्वेष, चिन्ता, शोक, भय, क्रोध, मोह, लज्जा, अवसाद।

आमदोष के कार्य—

1. जिस अंग में अवस्थित होता है, उस अंग को विविध रोगसमूहों से पीड़ित करता है।
2. जिस रोगसमूह से शरीर पहले से पीड़ित है, उन्हें और बलवान करता है।
3. वायु का अवरोध।
4. शरीर में भारीपन, आलस्य।
5. लालास्राव।
6. अपचन, अरुचि, बलहानि।

आम के गुण—

पिच्छिल, अभिष्यन्दि, गौरव, दुर्गन्धता।

आमवात

निदान—

1. विरुद्ध आहार, जैसे—दूध-मछली एक साथ लेना।
2. विरुद्ध चेष्टा, जैसे—भोजन के बाद व्यायाम।
3. मन्द अग्नि वाले।
4. व्यायाम न करना।
5. वात-प्रकोपक कारण, जैसे—रूक्ष, शीतल, विषम आहार, अपोषण, सन्धियों में आघात, रात्रिजागरण, शोक, भय, अति चंक्रमण, अतिव्यायाम, वेगविधारण, मेघावृत आकाश।

सम्प्राप्ति

निदान → अग्निमांद्य → आमरस → आमरस + वात → आमाशय (श्लेष्म-स्थान) → अपक्व (आमरस) → धमनी द्वारा → वातादि दोषों से दूषित

स्रोतोवरोध (रसवह) → त्रिकसन्धिप्रवेश (पीड़ा)

दोष—वात-कफप्रधान त्रिदोषज व्याधि।

दूष्य—रक्त, मांस, स्नायु, अस्थिसन्धि।

अधिष्ठान—सन्धिप्रदेश।

तीव्र अवस्था—

करोति सरुजं शोथं यत्र दोषः प्रपद्यते।
स देशो रुज्यतेऽत्यर्थं व्याविद्ध इव वृश्चिकैः।।
जन्यते सोऽग्निदौर्बल्यं प्रसेकारुचिगौरवम्।
उत्साहहानिर्वैरस्यदाहं च बहुमूत्रताम्।।
(मा. नि. 25/8-9)

1. प्रथमतः तीव्र स्वरूप में प्रकट होती है।
2. पीड़ा अनेक विच्छुओं के काटने के समान होती है।
3. जीर्णावस्था में भी मेघावृत आकाश, वर्षा ऋतु, शीत ऋतु, विबन्ध, मानसिक तनाव में भी तीव्र स्वरूप प्रकट होता है।
4. तीव्र शोथ, वेदना, दाह, कर्मनाश।
5. अरुचि, मुखवैरस्य, लालास्राव, पिपासाधिक्य, विबन्ध, आन्त्रकूजन, वमन।
6. गौरवता, दाह, आलस्य, स्तब्धता, मूत्राधिक्य, मूर्च्छा एवं हृदयरोग के लक्षण।
7. रात्रि में पीड़ा में वृद्धि हो जाती है।

जीर्णावस्था—

1. लक्षण मृदुस्वरूप हो जाता है।
2. अस्थिविकृति के लक्षण।
3. अल्पवेदनाकर स्थायी शोथ।
4. सन्धियों का आकार मृदंग के समान।
5. अंगुलिवक्रता—मांसपेशि, कण्डरा आदि में शुष्कता के कारण।

पूर्वरूप—

1. आमोत्पत्ति-लक्षण; यथा—अग्निमांद्य, आलस्य।
2. अंगमर्द, लालाप्रसेक।
3. हृदय प्रदेश में गौरवता।
4. अकस्मात् शाखाओं में स्तब्धता।
5. निद्रानाश, चिमचिमायन, अरति, रोमहर्ष।

सामान्य लक्षण—

अङ्गमर्दोऽरुचिस्तृष्णा ह्यालस्यं गौरवं ज्वरः ।
अपाकः शून्यताङ्गानामामवातस्य लक्षणम् ।।(मा. नि. 25.6)

1. शरीर में जोर से मसलने-जैसी पीड़ा।
2. भोजन के प्रति अरुचि, तृष्णा।
3. आलस्य, शरीर में भारीपन।
4. भोजन का समुचित परिपाक न होना।
5. सन्धियों में शोथ, पीड़ा, दाह, रक्तिमा।

भेद—

- लक्षणों की दृष्टि से—

1. तीव्रावस्था 2. जीर्णावस्था

- दोषानुसार—वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज।

लक्षण—

1. वातज आमवात-लक्षण—

- अत्यधिक वेदना
- निद्रानाश

2. पित्तज आमवात-लक्षण—

- अतिदाह
- सन्धि में रक्तिम वर्ण
- पिपासाधिक्य

3. कफज आमवात-लक्षण—

- सन्धि और अंगों में गीले कपड़े से लिपटने के समान प्रतीति।
- स्तब्धता, गुरुता, कण्डू, अतिमूत्र-प्रवृत्ति।

4. सन्निपातज आमवात-लक्षण—

- तीनों दोषों के लक्षण मिश्रित रूप में मिलते हैं।

उपद्रव—

1. आमवातज्वर (Rheumatic fever)।
2. सन्धियों का गतिनाश, स्थिरता, स्थायी विकृति।
3. ग्रस्त सन्धियों में पूयोत्पत्ति।

4. मानसिक तनाव से कालान्तर में उच्च रक्तचाप, अम्लपित, निद्रानाश, श्वास-कष्ट, हृद्रोग।

5. मनोदैहिक व्याधियाँ (Psychosomatic diseases)।

साध्यासाध्यता—वस्तुतः याप्य रोग है।

1. **साध्य रोग-लक्षण**—
   - एक दोष उत्पन्न
   - अल्पसन्धियों में उत्पन्न
   - नवीन
   - बलवान रोगी

2. **याप्य रोग-लक्षण**—
   - दो दोषयुक्त
   - एकाधिक सन्धियों में व्याप्त

3. **असाध्य रोग-लक्षण**—
   - दुर्बल रोगी
   - वर्षा-शीत ऋतु में उत्पन्न
   - सम्पूर्ण सन्धियों में व्याप्त

चिकित्सा-सिद्धान्त—

लंघनं स्वेदनं तिक्तं दीपनानि कटूनि च।
विरेचनं स्नेहपानं वस्तयश्चाममारुते ।।

(चक्रदत 25/9)

1. **शोधन-चिकित्सा**—
   - पाचन हेतु लंघन
   - विरेचन—बृहदन्त्रस्थित आम के लिये
   - शोधन और क्षारवस्ति
   - संधियों में पहुँचे आम के लिये रूक्ष स्वेद

2. **शमन-चिकित्सा**—
   - कटु-तिक्त आहार
   - दीपन-पाचन औषधियाँ
   - वेदनाशमन हेतु योगों का प्रयोग

आवृत वात की चिकित्सा

- सामान्य चिकित्सा
  - दैवव्यपाश्रय चिकित्सा
    - जप, तप, योग ध्यान, पूजा
  - सत्वावजय चिकित्सा
    - आश्वासन, पूर्ण निद्रा, तनाव उद्वेग से मुक्ति
- औषध-चिकित्सा
  - युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा
    1. निदान-परिर्वजन
    2. सम्प्राप्ति विघटन
    3. पथ्यापथ्य
    4. भेषज-चिकित्सा
       - संशोधन-चिकित्सा
       - संशमन-चिकित्सा
         - एकल औषध-प्रयोग
         - औषधयोग-प्रयोग

2 व्याधि-वर्गीकरण

सुश्रुत ने पुरुष के दुःखसंयोग को व्याधि कहा है और उसे आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविकभेद से तीन प्रकार का कहा है। उन तीन भेदों को पुनः सात प्रकार का बताया है—

ते पुनः सप्तविधा व्याधयः, तद्यथा—आदिबलप्रवृत्ताः, जन्मबलप्रवृत्ताः, दोषबलप्रवृत्ताः, संघातबलप्रवृत्ताः, कालबलप्रवृत्ताः, दैवबलप्रवृत्ताः, स्वभावबलप्रवृत्ता इति। (सु. सू. 24/4)

1. **आदिबलप्रवृत्त व्याधि**—क. मातृज, ख. पितृज।

क. मातृज—माता के रजोदोष से उत्पन्न।
ख. पितज—पिता के वीर्यदोष से उत्पन्न।

यथा—कुष्ठ, अर्श।

2. **जन्मबलप्रवृत्त व्याधि**—क. रसकृत। ख. दौहृदापचारकृत।

क. रसकृत—रसविशेष या आहारविशेष का निरन्तर सेवन करने से होने वाले रोगों को रसकृत कहते हैं।

ख. दौहृदापचारकृत—गर्भ के भीतरी जीवन का प्रभाव होने से माता के मन में जो विविध श्रद्धा या कामनायें उत्पन्न होती हैं, उनका विघात होने से उत्पन्न हुई व्याधियाँ दौहृदापचारकृत कहलाती हैं।

3. **दोषबलप्रवृत्त व्याधि**—

अ. शारीरिक—1. आमाशयसमुत्थ 2. पक्वाशयसमुत्थ
ब. मानसिक—1. राजस 2. तामस

● आदिबलप्रवृत्त, जन्मबलप्रवृत्त, दोषबलप्रवृत्त—आध्यात्मिक व्याधि।

4. **संघातबलप्रवृत व्याधि**—आघात, प्रहार, पीड़न से उत्पन्न रोग—क. शस्त्रकृत, ख. व्यालकृत।

क. शस्त्रकृत—लाठी, तीर, तलवार, पत्थर इत्यादि शस्त्रों के प्रहार से उत्पन्न रोग शस्त्रकृत कहलाते हैं।

ख. व्यालकृत—सिंह, पशु, रोग आदि पशुओं के दाँत, नख, विष इत्यादि से उत्पन्न रोग व्यालकृत कहलाते हैं।

● **संघातबलप्रवृत्त व्याधि**—आधिभौतिक।

5. **कालबलप्रवृत्त व्याधि**—शीत, उष्ण और वर्षा के लक्षण वाले षड्ऋतुक काल के बल के कारण जो रोग उत्पन्न होते हैं—कालबलप्रवृत्त।

क. व्यापन्न ऋतुकृत व्याधि—विकृत ऋतुओं के कारण उत्पन्न।
ख. अव्यापन्न ऋतुकृत व्याधि—प्राकृत ऋतुओं के स्वभाव से शरीर में जो दोषों की क्षय-वृद्धि होती है, उससे उत्पन्न रोग।

6. **दैवबलप्रवृत्त व्याधि**—क. संसर्गज, ख. आकस्मिक।

क. संसर्गज—देवता आदि अभिशाप देने वालों की प्रत्यक्ष उपस्थिति से या संक्रामक रोगग्रस्त जन से साक्षात् सम्पर्क होने से उत्पन्न रोग।
ख. आकस्मिक—जिन रोगों का सही कारण ज्ञात नहीं होता, वे अकस्मात् उत्पन्न होते हैं।

7. **स्वभावबलप्रवृत्त**—क. कालकृत, ख. अकालकृत।

क. कालकृत—यथाविधि आहार-विहार के सेवन से अपने समय पर ये रोग होते हैं।
ख. अकालकृत—यथाविधि आहार-विहार से शरीर की रक्षा न करने के कारण जो रोग उत्पन्न होते हैं।

● कालबलप्रवृत्त, दैवबलप्रवृत्त, स्वभावबलप्रवृत्त—आधिदैविक।

प्राकृत-विकृतभेद से व्याधि—

1. **प्राकृत**—जिस ऋतु में जिस दोष का प्राकृत रूप से प्रकोप होता है, उस ऋतु में उस दोष से होने वाला रोग। जैसे—वसन्त ऋतु में प्रकुपित कफ से होने वाला ज्वर प्राकृत ज्वर है।

2. **वैकृत**—जिस ऋतु में जिस दोष का प्रकोप नहीं होता, उस ऋतु में उस दोष से होने वाले रोग वैकृत कहलाते हैं। जैसे—वर्षा ऋतु में होने वाला कफज्वर वैकृत कहा जाता है।

अनुबन्ध्यनुबन्धभेद से व्याधि—

अनुबन्ध्य—जो शास्त्रों में कहे गये अपने कारणों से उत्पन्न हुआ हो, स्पष्ट लक्षण वाला हो और अपनी चिकित्सा से अच्छा हो।

अनुबन्ध—जो रोग दूसरे रोग के कारणों से उत्पन्न हुआ हो, दूसरे रोग की चिकित्सा से अच्छा हो एवं अस्पष्ट लक्षणों वाला हो, उसको अनुबन्ध कहते हैं।

प्रभावभेद से व्याधि—

1. साध्य (अच्छे होने वाले)
2. असाध्य (न अच्छे होने वाले)।

साध्य के भेद—1. सुखसाध्य, 2. कृच्छ्रसाध्य।

असाध्य के भेद—1. याप्य, 2. अनुपक्रम (प्रत्याख्येय)।

अधिष्ठानभेद से व्याधि—

1. शारीरिक—वात, पित्त, कफ।
2. मानसिक—रज, तम।

बलभेद से व्याधि—

मृदु—अल्प बल वाले।
दारुण—महा बल वाले।

कारणभेद से व्याधि—1. निज 2. आगुन्तज।

व्याधि-वर्गीकरण		
1. आदिबलप्रवृत्त व्याधि	मातृज	पितृज
2. जन्मबलप्रवृत्त व्याधि	रसकृत	दौर्हृदापचारकृत
3. दोषबलप्रवृत्त व्याधि	शारीरिक	मानसिक
4. संघातबलप्रवृत्त व्याधि	शस्त्रकृत	व्यालकृत
5. कालबलप्रवृत्त व्याधि	व्यापन्न ऋतुकृत	अव्यापन्न ऋतुकृत
6. दैवबलप्रवृत्त व्याधि	संसर्गज	आकस्मिक
7. स्वभावबलप्रवृत्त व्याधि	कालकृत	अकालकृत

अव्याधिक्षम

- जिन व्यक्तियों का शरीर अतिस्थूल या अतिकृश होता है।
- जिनके शरीर में मांस-रक्त और हड्डियाँ सुसंगठित नहीं होती हैं।
- जो दुर्बल होते हैं।
- जिनका शरीर अहितकर आहार से पालित-पोषित होता है।
- जो अल्पाहारी और अल्प सत्त्व वाले होते हैं।
- उनका शरीर व्याधिक्षमता से हीन होता है।

व्याधिक्षम शरीर

- जिनका शरीर न तो अति स्थूल हो, न अति कृश हो।
- जिनके शरीर में रक्त, मांस और अस्थियों का उचित प्रमाण में सन्निवेश हो।

- जो सबल शरीर हों।
- जिनके शरीर का पोषण हितकर तथा पौष्टिक आहार से हुआ हो।
- जिनके आहार की मात्रा समृद्ध हो।
- जो प्रवर सत्त्व हों।
- ऐसे व्यक्तियों का शरीर व्याधिक्षम होता है।

आठ निन्दित पुरुष

इह खलु शरीमधिकृत्याष्टौ पुरुषा निन्दिता भवन्ति, तद्यथा—अतिदीर्घश्च, अतिह्रस्वश्च, अतिलोमा-अलोमा च, अतिकृष्णश्च, अतिगौरश्च, अतिस्थूलश्च अतिकृशश्चेति । (च.सू. 21/3)

1. अतिदीर्घ (अधिक लम्बा)
2. अतिह्रस्व (अधिक छोटा)
3. अतिलोमा (अधिक बालों वाला)
4. अलोमा (जिसके शरीर में बिल्कुल लोम न हो)
5. अतिकृष्ण (अत्यन्त काला)
6. अतिगौर (अधिक गोरा)
7. अतिस्थूल (अधिक मोटा)
8. अतिकृश (अधिक दुबला-पतला)

अष्टौ महागदाः

वातव्याध्यश्मरीकुष्ठमेहोदरभगन्दराः ।
अर्शांसि ग्रहणीत्यष्टौ महारोगाः सुदुस्तराः।।
(अ. हृ. नि. 8/30 तथा सु. सू. 33/3)

1. वातव्याधि	3. कुष्ठ	5. उदररोग	7. अर्श
2. अश्मरी	4. प्रमेह	6. भगन्दर	8. ग्रहणी

1. **वातव्याधि**—विकृत वायु से उत्पन्न असाधारण व्याधि को वातव्याधि कहते हैं।

2. **अश्मरी**—मूत्र में तरलता की कमी और घनता की वृद्धि अश्मरी का प्रधान कारण है।

- मूत्र में Uric acid or phosphate पदार्थों की प्रचुरता होने पर उनके कण धीरे-धीरे एकत्र होने लगते हैं और Calculus का रूप धारण कर लेते हैं।

2. **कुष्ठ**—वात, पित्त कफ—तीनों दोषों तथा त्वचा, रक्त, मांस और लसीका—ये चार दूष्य के एक साथ दूषित होने पर कुष्ठ रोग उत्पन्न होता है।

3. **प्रमेह**—आहार के प्रति लालची, स्नान तथा चंक्रमण से द्वेष रखने वाले व्यक्ति को प्रमेह रोग होता है।

4. **उदररोग**—दोषों का अतिसञ्चय, पापकर्म और मन्दाग्नि से उदररोग होते हैं।

5. **भगन्दर**—भग, गुदा, बस्ति—इन स्थानों का विदारण करने से यह रोग भगन्दर कहा जाता है।

6. **अर्श**—जो शत्रु के समान प्राणों को कष्ट में डाले, उसे अर्श कहते हैं।

7. **ग्रहणी**—पाचन संस्थानगत रोगों में प्रमुख रोग है। इस रोग का प्रधान कारण अग्निमान्द्य है।

मार्गाश्रित रोग

(क) शाखाओं में होने वाले **(बाह्य मार्गज)** रोग।
(ख) मर्म, अस्थि एवं सन्धि में होने वाले **(मध्यम मार्गज)** रोग।
(ग) कोष्ठ में होने वाले **(आभ्यन्तर मार्गज)** रोग।

(क) बाह्य मार्गज	(ख) मध्यम मार्गज	(ग) आभ्यन्तर मार्गज
गलगण्ड	पक्षवध	ज्वर
पिडका	पक्षग्रह	अतिसार
अलजी	अपतानक	वमन
अपची	अर्दित	अलसक
चर्मकील	शोष	विसूचिका
अधिमांस	राजयक्ष्मा	कास
मषक	अस्थिसन्धिशूल	श्वास
कुष्ठ	गुदभ्रंश आदि	हिक्का
व्यङ्ग आदि	शिर, हृदय,	आनाह
बाह्य मार्गज वीसर्प	वस्ति के रोग	उदररोग
शोथ		प्लीह-विकार आदि
गुल्म, अर्श		अन्त:मार्गज—
		विसर्प, शोथ
विद्रधि आदि		गुल्म, अर्श, विद्रधि

दोषगति-निरूपण

गति का अर्थ—गमन, प्रकार या अवस्था है।

- प्राकृती — दोषों की स्वस्थ शरीर में गति
  - स्थान—दोष का अपने प्रमाण में साम्यावस्था में रहना
- वैकृती — दोषों की रोगी शरीर में गति
  - क्षय—दोष का अपने प्रमाण में घट जाना
  - वृद्धि
    - चय—दोष का अपने स्थान पर बढ़ते हुए दूसरों को दूषित न करना
    - प्रकोप—दोष का अपने स्थान से निकल कर एवं बाहर जाकर अन्य धातुओं को दूषित करना
- कोष्ठ, शाखा, मर्मास्थिसन्धि
  - ऊर्ध्व—ऊर्ध्व रक्तपित्त, छर्दि
  - अध:—अधोग रक्तपित्त, अतिसार
  - तिर्यक्—ज्वर, मन्दाग्नि
- कालकृत
  - संचय, प्रकोप, प्रशम

पूर्वरूप की उत्पत्ति—

- भावि व्याधि को बतलाने वाले रूप को पूर्वरूप कहते हैं।
- अल्प तथा अव्यक्त होने से ये रूप न कहलाकर पूर्वरूप कहलाते हैं।
- प्रसरावस्था तक दोष लक्षण उत्पन्न कर सकते हैं, किन्तु व्याधि नहीं।

पूर्वरूप स्थानसंश्रयावस्था में प्रकट होते हैं, जो कि चतुर्थ क्रियाकाल है।

संचय—

चयो वृद्धिः स्वधाम्न्येव। (अ. हृ. सू. 12/22)

- दोषों का अपने स्थान में वृद्धि होना संचय कहलाता है।
- दोषों के संचय के अनेक प्रकार के कारण होते हैं। जैसे—

1. ऋतुओं के अनुसार (नैमित्तिक)
2. असात्म्येन्द्रियार्थ संयोगजन्य
3. वय के अनुसार (आवस्थिक)
4. प्रज्ञापराधजन्य (अस्वाभाविक)

प्रकोप—दोष का अपने स्थान से अन्य स्थान में जाकर लक्षणों को उत्पन्न करना प्रकोप कहलाता है—

कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्।
यत्र संगः खवैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते।।
(सु. सू. 24/10)

प्रसर (कुपित दोषों का शरीर में परिधावन)—दोषों का अपने निश्चित मार्ग को छोड़कर किन्हीं अन्य मार्गों में गमन करना कोप कहलाता है। इस अवस्था में यदि दोषों का शमन न किया जाय तो दोष अपने स्थान से चलायमान होकर शरीर में इधर-उधर फैलने लगते हैं। स्रोतों द्वारा शरीर में सर्वत्र दोषों का फैलना प्रसर कहलाता है। दोषों का प्रसर पन्द्रह प्रकार का होता है—

1. वात	6. वात-कफ	11. वात-पित्त-रक्त
2. पित्त	7. पित्त-कफ	12. वात-कफ-पित्त
3. कफ	8. वात-रक्त	13. पित्त-कफ-रक्त
4. रक्त	9. पित्त-रक्त	14. वात-पित्त-कफ
5. वात-पित्त	10. कफ-रक्त	15. वात-पित्त-कफ-रक्त

स्थानसंश्रय—

स्थानसंश्रयिणः क्रुद्धा भाविव्याधिप्रबोधकम्।
दोषाः कुर्वन्ति यल्लिङ्गं पूर्वरूपं तदुच्यते।।
(चरक, चक्रपाणि टीका)

● प्रकुपित दोष शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानों में भ्रमण करते हुये स्रोतों की विगुणता के कारण जब किसी स्थानविशेष में अवरुद्ध हो जाते हैं, तब वहाँ स्थित दूष्य के साथ संयुक्त होकर विकार उत्पन्न करते हैं।

● दोष और दूष्य का संयोग दोष-दूष्य संमूर्च्छना कहा जाता है तथा इन दोनों की संमूर्च्छना ही किसी व्याधि की सम्प्राप्ति का मूलाधार है।

● दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना से ही स्थानानुरूप व्याधि प्रारम्भ हो जाती है।

● अतएव स्थानसंश्रयावस्था भावि व्याधि की पूर्वरूपावस्था है।

इस प्रकार शरीर में फैलते समय वैगुण्य के कारण जब दोष किसी स्थान में संश्रय लेकर स्थित हो जाते हैं, तब वे उस स्थान में होने वाले रोग के पूर्वरूप उत्पन्न करते हैं।

कुपित दोषों के कर्म

कुपित वात के कर्म—

स्रंस-भ्रंस-व्यास-सङ्ग-भेद-साद-हर्ष-तर्ष-कम्प-वर्त-चाल-तोद-व्यथा-चेष्टादीनि, तथा खर-परूष-विशद-सुषिरारुणवर्ण-कषाय-विरसमुखत्व-शोष-शूल-सुप्ति-अङ्गसङ्कोचन-स्तम्भनखञ्जतादीनि च वायोः कर्माणि।

स्रंस (अपने स्थान से थोड़ा खिसकना), भ्रंस (अपने स्थान से दूर हट जाना), व्यास (उन-उन अंगों का फैल जाना), संग (अवरोध), भेद (टूटने के समान व्यथा), साद (ह्रास-थकावट), हर्ष (रोमहर्ष, दन्तहर्ष आदि), तर्ष (तृष्णा या विषयतृष्णा), कम्प, वर्त (घूमना), चाल (गति उत्पन्न करना), तोद (सूई चुभोने-जैसी पीड़ा), व्यथा, चेष्टा आदि तथा खर (खुरदरापन), परूष (कठोरता), विशद, सुषिर (सच्छिद्र), अरुण-वर्ण, कषायरस, विरसमुखत्व, शोष, शूल, सुप्ति (सूनापन), संकोचन, स्तम्भन और खञ्जता आदि वायु के कर्म हैं।

कुपित पित्त के कर्म—

दाहौष्ण्यपाकस्वेदक्लेदकोथकण्डूस्रावरागाः यथास्वं च गन्धवर्णरसाभि-निर्वर्तनं पित्तस्य कर्माणि।

दाह, उष्णता, पाक होना, स्वेद, क्लेद, कोथ (सड़न), कण्डू, स्राव, राग (लाल रंग) तथा अपने जैसी गन्ध, वर्ण एवं रस उत्पन्न करना—ये पित्त के कर्म हैं।

कुपित कफ के कर्म—

श्वैत्यशैत्यकण्डूस्थैर्यगौरवस्नेहसुप्तिक्लेदोपदेहबन्धमाधुर्यचिरकारित्वानि श्लेष्मणः कर्माणि।

श्वेतता, शैत्य, कण्डू (खुजली), स्थिरता, भारीपन, स्निग्धता, स्तम्भ (जड़ता), सुप्ति (सूनापन), क्लेद, उपदेह (मलावृत होना), बन्ध, मधुरता और अधिक काल तक रोग को रहने देना—ये कफ के कर्म के लक्षण हैं।

रोग एवं रोगमार्ग

रोग—

1. **निज**—जो शारीरिक रोग वात, पित्त, कफ के विकृत होने से उत्पन्न होते हैं।

2. **आगन्तुक**—जो देवता-असुर, भूत-प्रेत तथा जीवाणुओं के आक्रमण, विषयुक्त वायु के स्पर्श, अग्नि से जल जाने व शस्त्र आदि से अभिघात लगने से उत्पन्न होते हैं।

3. **मानस**—जो रज और तम दोषों के उद्रेक से, मनोनुकूल वस्तु की अप्राप्ति तथा अप्रिय वस्तुओं की प्राप्ति होने से उत्पन्न होते हैं।

4. **स्वाभाविक**—जैसे भूख, प्यास, जरावस्था, निद्रा व मृत्यु।

● **कर्मज**—जिनकी उत्पत्ति में पूर्वजन्मकृत कर्म (दैव) कारण हों, न कि असात्म्येन्द्रियार्थ-संयोग।

● **दोषकर्मज**—जो अल्प कारण होने पर भी बृहद् रूप धारण कर लेते हैं।

रोगमार्ग—

रोगमार्ग तीन हैं—1. शाखा, 2. मर्मास्थिसन्धियाँ एवं 3. कोष्ठ।

1. शाखा—रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र एवं त्वचा (त्वचा से उसके आश्रित रस का भी ग्रहण करना चाहिये)—ये रोगों के बाहरी मार्ग हैं।

2. मर्मास्थिसंधियाँ—मर्म—हृदय, नाभि तथा बस्ति—ये तीन विशेष प्राणघातक मर्म हैं। अस्थियों की संधियाँ व उनमें लगी हुई स्नायु, धमनी, सिरा, कण्डरायें—ये रोगों की भीतरी मार्ग हैं।

3. कोष्ठ—आमाशय, पक्वाशय, अग्न्याशय, मूत्राशय, रुधिराशय, हृदय, उण्डुक व दोनों फुफ्फुस।

महास्रोतस् (कोष्ठ) तीन भागों में विभक्त है—

1. गले से आमाशय तक (ऊर्ध्व भाग)
2. ग्रहणी से क्षुद्रान्त्र तक (मध्य भाग)
3. उण्डुक से गुदभाग तक (निम्न भाग)

वातादिभेद से व्याधिभेद

व्याधि

- सामान्यज
  - विविध व्याधियाँ
    - एकदोषज द्विदोषज सन्निपातज
- नानात्मज
  - 80 वातविकार
  - 40 पित्तविकार
  - 20 श्लेष्मज विकार

दूष्यभेद से व्याधिभेद

धातुओं को 'दूष्य' कहा जाता है।

1. **स्थान**—जब धातु शरीर के प्राकृत धारण-पोषणात्मक कर्म करते हैं।
2. **क्षय**—जब धातुओं का परिमाण न्यून हो जाता है।
3. **वृद्धि**—जब धातुओं का परिमाण अधिक हो जाता है।

क्षय तथा वृद्धि—ये दोनों विकृत अवस्थायें हैं।

आदिबलप्रवृत्त व्याधि—1. मातृज 2. पितृज।

जन्मबलप्रवृत्त रोग—

जन्मबलप्रवृत्त

- आदिबलपुरस्कृत जन्मबलप्रवृत्त
  - शारीरिक व्यंग
    - शारीरिक व्यंग
    - दोषज और औपसर्गिक विकार
- केवल जन्मबलप्रवृत्त
  - सहज
  - प्रसवज
    - आघातज
    - औपसर्गिक

दोषबलप्रवृत्त व्याधि—

दोषबलप्रवृत्त व्याधियाँ

- शारीर
  - आमाशयसमुत्थ
  - पक्वाशयसमुत्थ
- मानस
  - राजस
  - तामस

संघातबलप्रवृत्त व्याधियाँ—1. शस्त्रकृत 2. व्यालादिकृत।

कालबलप्रवृत्त व्याधियाँ—1. व्यापन्न 2. अव्यापन्न ऋतुकृत।

दैवबलप्रवृत्त व्याधि—

दैवबलप्रवृत्त व्याधियाँ

- विद्युत्-अशनिकृत
- संसर्गज
- पिशाचादिकृत
- आकस्मिक

स्वभावबलप्रवृत्त व्याधियाँ—1. कालकृत 2. अकालकृत

प्राकृत-वैकृत व्याधिभेद—

प्राकृत	वैकृत
● जिस ऋतु में दोष का प्राकृत रूप से (स्वभावत:) प्रकोप होता है, उस ऋतु में उस दोष से होने वाला रोग प्राकृत कहलाता है।	● जिस ऋतु में जिस दोष का प्रकोप नहीं होता है, उस ऋतु में होने वाला रोग वैकृत कहलाता है।
● यह सुखसाध्य होता है।	
● जैसे—वसन्त ऋतु में प्रकुपित कफ से होने वाला ज्वर।	● जैसे—वर्षा ऋतु में होने वाला कफज्वर

अनुबन्ध्यनुबन्धभेद से व्याधिभेद—

अनुबन्धी	अनुबन्ध
● जो रोग शास्त्र में कहे हुए अपने कारणों से उत्पन्न हुआ हो।	● जो रोग दूसरे रोग के कारणों से उत्पन्न हुआ हो।
● स्पष्ट लक्षणों वाला हो।	● अस्पष्ट लक्षणों वाला हो।
● अपनी चिकित्सा से अच्छा हो, उसे अनुबन्ध्य (स्वतन्त्र) कहते हैं।	● दूसरे रोग की चिकित्सा से अच्छा हो। उसे अनुबन्ध (परतन्त्र) कहते हैं।

दश रोगानीकम्

प्रभाव—1. साध्य 2. असाध्य।

बल—1. मृदु 2. दारुण।

अधिष्ठान—1. मन 2. शरीर।

निमित्त—1. स्वधातुवैषम्य (निज) 2. आगन्तु।

आशय—1. आमाशयसमुत्थ 2. पक्वाशयसमुत्थ।

औपसर्गिकादि भेद से त्रिधा व्याधि—

1. औपसर्गिक—जो व्याधि, प्रथम उत्पन्न व्याधि के अनन्तर (बाद) उस रोग के मूल कारण से ही उत्पन्न हुई हो।

प्राय: जो प्रथम रोग की चिकित्सा से शान्त हो जाय, उसको औपसर्गिक या उपद्रव कहते हैं।

2. प्राक्केवल—जो व्याधि आरम्भ से ही उत्पन्न हुई हो, दूसरे व्याधि का पूर्वरूप या उपद्रवरूप न हो, उसको प्राक्केवल (मूल रोग) कहते हैं।

3. अन्य लक्षण—जो व्याधि भविष्य में ही होने वाले अन्य व्याधि के लक्षण के रूप में उत्पन्न हुई हो, उसे अन्य लक्षण या पूर्वरूप कहते हैं।

दोषज-कर्मज-दोषकर्मजभेद त्रिधा व्याधि—

1. दोषज—जो रोग इस जन्म में किये हुये उपचार (अपथ्य सेवन) से उत्पन्न हुआ हो, उसको दोषज (दृष्टापचारज, दृष्टकर्मज) कहते हैं।

2. कर्मज—जो रोग पूर्वजन्म में किये हुये पापकर्मों से उत्पन्न हुआ हो, उसको कर्मज (पूर्वापचारज, अदृष्टकर्मज) कहते हैं।

3. दोषकर्मज—जो रोग पूर्वजन्म में किये हुये अशुभ कर्म तथा इस जन्म में किये हुये अपथ्य-सेवन से उत्पन्न होता है, उसे दोषकर्मज कहते हैं।

सुखसाध्य—

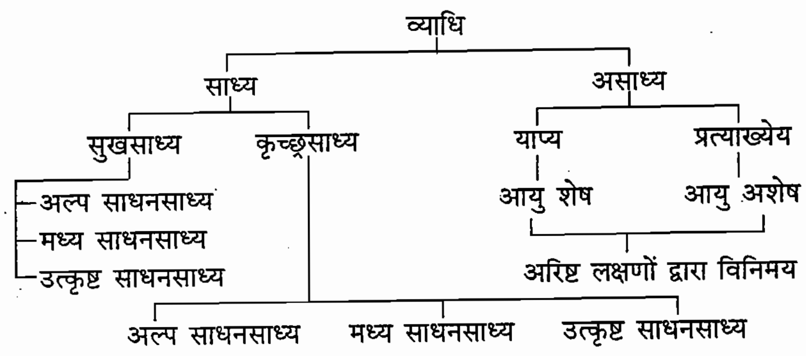

3 रोगी-रोगपरीक्षा

प्रमाणों के द्वारा विषय का निर्णयात्मक, नि:संशय ज्ञान प्राप्त करना परीक्षा कहलाता है।[1]

किसी ठूठ वृक्ष को देखने पर जब यह संशय हो जाता है कि यह स्थाणु है या पुरुष? तो निकट जाकर देखने पर प्रत्यक्ष के द्वारा वह संशय निवृत्त हो जाता है और ठूठ वृक्ष है, यह निश्चय होता है। इसे ही परीक्षा कहते हैं। जिस किसी विषय की संशयात्मक प्रतीति होने पर परीक्षा का आश्रय लिया जाता है और उसके द्वारा विषय का अध्यवसायात्मक ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

परीक्षा के द्वारा विषय का स्वरूप-निर्धारण कर लेने पर ही कर्म में प्रवृत्त होना चाहिये, अन्यथा विषय में सन्देह होने से सफलता में भी सन्देह रहता है।[2]

जिस प्रकार ज्ञानवान पुरुष भी अपरीक्षित विषय में प्रवृत्त होने पर असफल हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानसम्पन्न वैद्य भी परीक्षा के विना चिकित्सा में प्रवृत्त होने पर अयश का भागी होता है। अत: परीक्षा के अनन्तर कार्य करने वाले ही कुशल कहे जाते हैं।[3]

अत: चिकित्सक को चाहिये कि समस्त परीक्ष्य भावों की परीक्षा करने के बाद ही चिकित्साकर्म में प्रवृत्त हो, जिससे सफलता अवश्य मिले।[4]

परीक्षा का प्रयोजन—विकारों में यथाविधि चिकित्सा-सम्पादन का ज्ञान ही परीक्षा का प्रयोजन है।

किस विकार में कौन-सा कर्म करना चाहिये, यह परीक्षा के द्वारा ही ज्ञात होता है।

रोगी-रोगपरीक्षा—रोगी-रोगपरीक्षा का उद्देश्य रोग का पूर्ण ज्ञान, रोगविनिश्चय तथा रोगी के बलाबल का ज्ञान करना है। निदानपंचक रोगज्ञान के विषय हैं। ये रोगज्ञान के उपाय नहीं हैं। रोगी-रोगपरीक्षा में रोगज्ञान के विविध उपायों के माध्यम से हम रोग

---

1. प्रमाणैरर्थावधारणं परीक्षा। (वात्स्यायनभाष्य)
2. ज्ञानपूर्वकं हि कर्मणां समारम्भं प्रशंसन्ति कुशला: (च. वि. 8/68)
3. न ह्यलं ज्ञानवान् भिषङ्मुमूर्षुमातुरमुत्थापयितुं, परीक्ष्यकारिणो हि कुशला भवन्ति। (च. सू. 10/9)
4. तस्माद् भिषक् कार्यं चिकीर्षु: प्राक् कार्यसमारम्भात् परीक्ष्या केवलं परीक्ष्यं परीक्ष्य कर्म समारभेत कर्त्तुम्। (च. वि. 8/79)

के बारे में ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। वाग्भट ने भी इस सन्दर्भ में संकेत किया है कि परीक्षा दो प्रकार की है—

1. रोगपरीक्षा एवं 2. रोगीपरीक्षा।[1]

रोगज्ञान के उपाय हैं—

1. चरकोक्त त्रिविध परीक्षा।[2] 2. सुश्रुतोक्त षड्विध परीक्षा।[3]

नाड़ी, मल, मूत्रादि अष्टविध परीक्षा से रोगाक्रान्त शरीर की परीक्षा की जाती है।[4]

चरकोक्त प्रकृति, विकृति, सत्त्व, सारादि दशविध परीक्षा भी, जिसका उद्देश्य रोग या रोगी की परीक्षा नहीं; वरन् रोगी के बलाबल का ज्ञान करना है, उपरोक्त त्रिविध एवं षड्विध उपायों से सम्पन्न होती है। अतः रोग के ज्ञान के विषय तथा रोगज्ञान के उपाय में भेद है। निदानादि रोगज्ञान के विषय हैं तथा रोगविज्ञानार्थ अर्थात् रोग को विशेष रूप से जानने के लिये आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष एवं अनुमान—इन तीन को साधन बताया गया है।[5] सुश्रुत ने रोगज्ञान के लिये षड्विध परीक्षा की कल्पना की है। इसमें पञ्चेन्द्रिय तथा प्रश्न द्वारा परीक्षा की जाती है।

रोग-परीक्षा

निदानपञ्चक—रोग का ज्ञान—1. निदान 2. पूर्वरूप 3. रूप 4. उपशय 5. सम्प्राप्ति—इन पाँच ज्ञानोपायों से होता है।[6]

1. **निदान** (Etiology)—**तत्र निदानं कारणमित्युक्तमग्रे** (च. नि. 1/7)। रोगज्ञान के पाँच उपायों में से 'निदान' रोग के कारण को कहते हैं, जो मिथ्या आहार-विहार आदि बाह्य निमित्त कारण, धातुओं में विषमता उत्पन्न करके शारीर, निज या मानस रोग उत्पन्न करें, उनको तथा विष, शस्त्र, अग्नि, अभिघात आदि जो बाह्य निमित्त कारण साक्षात् आगन्तुक रोग उत्पन्न करें, उनको हेतु या निदान कहते हैं।

---

1. दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेताथ रोगिणम्।
   रोगं निदानप्राग्रूपलक्षणोपशयाप्तिभिः।। (अ. हृ. सू. 1/21-22)
2. त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति, तद्यथा—आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षं, अनुमानं चेति। (च.वि. 4/3)
3. षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः, तद्यथा—पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति। (सु.सू. 10/4)
4. रोगाक्रान्तशरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत्।
   नाडी मूत्रं मलं जिह्वा शब्दं स्पर्शं दृगाकृतिः।। (योगरत्नाकर)
5. त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति; तद्यथा—आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षमनुमानं चेति। (च. वि. 4/3)
6. तस्योपलब्धिर्निदानपूर्वरूपलिङ्गोपशयसम्प्राप्तिः। (च.नि. 1/6)

हेतु, निमित्त, आयतन, कर्ता, कारण, प्रत्यय, समुत्थान और निदान—ये सब निदान के पर्याय हैं। चरक के अनुसार निदान तीन प्रकार का होता है—

1. असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग
2. प्रज्ञापराध
3. परिणाम[1]

2. **पूर्वरूप** (Pyeodromal symptoms)—**पूर्वरूपं प्रागुत्पत्तिलक्षणं व्याधेः।** (च.नि. 1/8)। रोग उत्पन्न होने के पहले जो लक्षण होते हैं, उन्हें पूर्वरूप कहा जाता है। निकट-भविष्य में होने वाले रोग का ज्ञान कराने वाला लक्षण या लक्षणों का समूह पूर्वरूप कहलाता है।[2] यह दो प्रकार का होता है—1. सामान्य, 2. विशिष्ट।[3]

(I) **सामान्य पूर्वरूप**—दोषविशेष के ज्ञान से रहित भावी व्याधि जिस लक्षणसमूह से प्रतीत हो। जैसे—श्रम, वेचैनी, विवर्णता आदि लक्षणों से ज्वर का पता चलता है।

(II) **विशिष्ट पूर्वरूप**—जिन लक्षणों से केवल व्याधि की श्रेणि का ही ज्ञान न हो, अपितु व्याधिजनक दोष का भी ज्ञान हो, उसे विशिष्ट पूर्वरूप कहते हैं।

3. **रूप** (Symptomatology)—उत्पन्न हुये रोगों के चिह्नों को लिंग, लक्षण, रूप कहते हैं। लिङ्ग, आकृति, चिह्न, संस्थान, व्यञ्जन, रूप—ये सभी शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं।[4]

आधुनिक वैज्ञानिकों की दृष्टि में लक्षण के दो भेद हैं—

(I) **लक्षण** (Symptoms)— क्षुधा, तृष्णा, मल-मूत्र की प्रवृत्ति, उदरशूल आदि का भोजन से सम्बन्ध, निद्रा आदि का ज्ञान रोगी से पूछकर ही किया जाता है; क्योंकि ये रोगी द्वारा अनुभूत होते हैं। इन्हें Subjective symptoms कहते हैं।

(II) **चिह्न** (Signs)— जिह्वा, नेत्र, मुखमण्डल, मल-मूत्र का वर्ण आदि एवं श्वास के वेग के साथ छाती का फूलना स्वाभाविक या अस्वाभाविक आदि दर्शन से जाना जाता है। अंगों की मृदुता, कठोरता, नाड़ी की गति, हृदय एवं फुफ्फुस की ध्वनि आदि का ज्ञान वैद्य स्वयमेव करता है। इन्हें Objective signs ज्ञान कहते हैं। इनका ज्ञान Inspection, Palpation, Percussion, Ascultation से किया जाता है।

---

1. इल खलु हेतुर्निमित्तमायतनं कर्त्ता कारणं प्रत्ययः समुत्थानं निदानमित्यनर्थान्तरम्।
   तत्त्रिविधम् असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः, प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति। (च.नि. 1/3)
2. भाविव्याधिबोधकमेव लिङ्गं पूर्वरूपम्। (मा. नि. 1/5-6 विमर्श)
3. द्विविधं हि पूर्वरूपं भवति—सामान्यं, विशिष्टञ्च। (सु. उ. 39)
4. प्रादुर्भूतलक्षणं पुनर्लिङ्गम्। तत्र लिङ्गमाकृतिर्लक्षणं चिह्नं संस्थानं व्यञ्जनं रूपमित्यनर्थान्तरम्। (च. नि. 1/9)

4. उपशय (Therapeutic suitability)—

उपशयः पुनर्हेतुव्याधिविपरीतानां विपरीतार्थकारिणां चौषधाहारविहाराणामुपयोगः सुखानुबन्धः। (च. नि. 1/10)

हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत, हेतुव्याधि उभयविपरीत, हेतुविपरीतार्थकारी, व्याधिविपरीतार्थकारी, हेतुव्याधि उभयविपरीतार्थकारी औषध, अन्न, आहार के परिणाम में सुखप्रद उपयोग को उपशय कहते हैं।

उपशय के प्रकार—

1. हेतुविपरीत औषध
2. हेतुविपरीत अन्न
3. हेतुविपरीत विहार
4. व्याधिविपरीत औषध
5. व्याधिविपरीत अन्न
6. व्याधिविपरीत विहार
7. हेतु-व्याधिविपरीत औषध
8. हेतु-व्याधिविपरीत अन्न
9. हेतु-व्याधिविपरीत विहार
10. हेतुविपरीतार्थकारी औषध
11. हेतुविपरीतार्थकारी अन्न
12. हेतुविपरीतार्थकारी विहार
13. व्याधिविपरीतार्थकारी औषध
14. व्याधिविपरीतार्थकारी अन्न
15. व्याधिविपरीतार्थकारी विहार
16. हेतु-व्याधिविपरीतार्थकारी औषध
17. हेतु-व्याधिविपरीतार्थकारी अन्न
18. हेतु-व्याधिविपरीतार्थकारी विहार

अनुपशय उपशय के विपरीत होता है। जैसे—औषध, अन्न, विहार, देश और काल के अहितकर उपयोग को अनुपशय कहते हैं। यह व्याधि के लिये असात्म्य होता है। अनुपशय दोष और रोग—दोनों का वर्धक होता है। चरक ने कहा है कि अव्यक्त लक्षण वाली व्याधि की परीक्षा उपशय और अनुपशय द्वारा करनी चाहिये।[1] अनुपशय दोषप्रकोपक तथा रोगवर्धक होने से निदान का ही कार्य करता है, अतः निदान में इसका अन्तर्भाव हो जाता है।[2]

1. गूढ़लिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत। (च. वि. 4/8)
2. निदाने तस्यान्तर्भावः, दोषस्य रोगस्य च वर्धकत्वात्। (मा. नि. 1/9)

उपशय-भेदबोधक सारिणी

उपशय-प्रकार	औषध	अन्न	विहार
हेतुविपरीत	शीत कफज्वर में शुण्ठी आदि उष्ण औषध।	श्रम तथा वातजन्य ज्वर में मांसरस एवं भात।	दिवास्वाप से उत्पन्न कफ में रात्रिजागरण।
व्याधिविपरीत	अतिसार में स्तम्भनार्थ पाठा या कुटज, कुष्ठ में खदिर।	अतिसार में स्तम्भनार्थ मसूर।	उदावर्त में प्रवाहण।
हेतु-व्याधि उभयविपरीत	वातिक शोथ में वातहर तथा शोथहर दशमूल का क्वाथ।	वात-कफज ग्रहणी में तक्र, पित्तज में दुग्ध।	स्निग्ध पदार्थों के सेवन तथा दिवास्वाप से उत्पन्न तन्द्रा में रूक्ष, रात्रिजागरण।
हेतु विपरीतार्थकारी	पित्तप्रधान व्रण पर उष्ण उपनाह का प्रयोग।	पैत्तिक व्रण में विदाही अन्न।	वातजन्य उन्माद में भय दिखाना।
व्याधिविपरीतार्थकारी	छर्दिरोग में वमनकारक मदनफल का प्रयोग।	अतिसार में विरेचनार्थ क्षीर का प्रयोग।	छर्दि में वमन कराने के लिये प्रवाहण।
उभय विपरीतार्थकारी	अग्नि से जल जाने पर अगुरुसदृश उष्ण पदार्थों का लेप, विषजन्य रोग में विष।	मद्यपानजन्य मदात्यय में मद के उत्पादक मद्य का सेवन।	व्यायामजन्य संमूढ़वात (ऊरुस्तम्भ) में जल में तैरने का व्यायाम।

5. सम्प्राप्ति (Pathogenesis)—रोग की सम्प्राप्ति, जाति, आगति—ये शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं।[1]

चक्रपाणि ने सम्प्राप्ति की परिभाषा स्पष्ट करते हुये कहा है कि 'व्याधिजनक दोष के विविध व्यापारों और परिणामों से युक्त व्याधिजन्म ही सम्प्राप्ति है अर्थात् निदान-सेवन के बाद दोषदुष्टि से लेकर लक्षणोत्पत्तिपर्यन्त सम्पूर्ण व्यापार-परम्परा को ही सम्प्राप्ति कहते हैं।

1. यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता।
निर्वृत्तिरामस्यासौ सम्प्राप्तिर्जातिरागतिः। (वा. नि. 1/8)

त्रिविध परीक्षा

रोगविशेष को बतलाने वाले तीन साधन हैं—1. आप्तोपदेश, 2. प्रत्यक्ष एवं 3. अनुमान।

1. आप्तोपदेश (Authentic statement)—आप्तजनों के प्रवचन को आप्तोपदेश कहते हैं। आप्तजनों का ज्ञान असन्दिग्ध और निश्चित रहता है, वे तर्क के आधार पर आश्रित ज्ञान पर निर्भर नहीं होते हैं। वे स्मृति से भिन्न प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हैं और किसी विषय के एकदेश का ज्ञान न रखकर सम्पूर्णरूपेण ज्ञान रखते हैं एवं अवितर्क, अस्मृति एवं अविभागविद् होते हैं। वे राग और द्वेषविहीन होने से न कहीं आसक्ति रखते हैं, न कहीं किसी से ईर्ष्या-द्वेष रखते हैं। वे इन सद्गुणों से विभूषित होते हैं, इसलिये उनका वचन प्रमाण माना जाता है।

आप्तोपदेश द्वारा ज्ञेय विषय—एक-एक रोग को इस प्रकार जाने कि उस रोग का प्रकोप ऐसे होता है, ऐसे कारण हैं, उसका लक्षण ऐसा है, उसका यह प्रत्यात्म-लक्षण है, उसका ऐसा स्थान है, ऐसी वेदनायें होती हैं, ऐसा रूप होता है, उसमें ऐसे-ऐसे शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध होते हैं, ऐसे उपद्रव होते हैं, ऐसे बढ़ता है, ऐसे स्थित रहता है, ऐसे क्षय वाला है, उसका परिणाम ऐसा होता है, उसका यह नाम है और उसमें अमुक-अमुक औषधियों के योग चिकित्सार्थ प्रयुक्त होते हैं। उस रोग को दूर करने में प्रवृत्त होना चाहिये अथवा उसकी चिकित्सा करने से निवृत्त हो जाना चाहिये इत्यादि बातें आप्तोपदेश के द्वारा जानी जाती हैं।

2. प्रत्यक्ष (Perception)—**प्रत्यक्षं तु खलु तद्यत् स्वयमिन्द्रियैमर्नसा चोपलभ्यते।** (च.वि. 4/3)

अपनी इन्द्रियों (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण) तथा मन द्वारा जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। ज्ञान इन्द्रियों द्वारा बाह्य प्रत्यक्ष होता है और मन के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह मानस या आभ्यन्तर प्रत्यक्ष होता है।

प्रत्यक्ष-परीक्षा (Examination by perception)—प्रत्यक्ष के द्वारा रोग-परीक्षा कर रोग के रहस्य को जानने की इच्छा रखने वाला वैद्य रसज्ञान को छोड़कर अपनी सभी इन्द्रियों से रोगी के शरीर में स्थित सभी इन्द्रियों की परीक्षा करे। जैसे—

(I) **श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा परीक्षा**—आंतों का शब्द, सन्धियों तथा अंगुलियों का फूटना, स्वरविशेष तथा शरीर में होने वाले अन्य शब्दों की परीक्षा कान से सुनकर करनी चाहिये।

(II) **नेत्रेन्द्रिय द्वारा परीक्षा**—वर्ण, आकृति, प्रमाण और कान्ति या छाया, शरीर की द्रष्टव्य प्रकृति (आरोग्य), विकृति (रोग) और अन्य, जो आँख से देखे जाने योग्य विषय हों, उनकी परीक्षा नेत्रों से करे।

(III) **रसपरीक्षा**—रोगी के शरीर में वर्तमान अनेक प्रकार के रसों को अनुमान के द्वारा ही जाने, क्योंकि रस का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से करना सम्भव नहीं है। इसलिये रोगी से पूछकर ही उसके मुख के रस का ज्ञान करना चाहिये। रोगी के शरीर से जूँ और लीख हट जायँ तो उसे विकृत रस जानना चाहिये। यदि मक्खियाँ शरीर पर लगने लगें तो शरीर में मधुर रस जानना चाहिये। रक्तपित्त का सन्देह होने पर यह परीक्षा करे कि क्या शुद्ध रक्त है अथवा रक्तपित्त का रक्त है?

(IV) **घ्राणेन्द्रिय परीक्षा**—इसी प्रकार रोगी के शरीर में व्याप्त गन्ध प्राकृतिक है या वैकारिक—यह घ्राण द्वारा परीक्षा करे।

(VI) **स्पर्शेन्द्रिय परीक्षा**—शरीर के स्वाभाविक या अस्वाभाविक स्पर्श की परीक्षा हाथों के स्पर्श द्वारा करनी चाहिये।

3. अनुमान—अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्षः। (च. वि. 4/4)

अर्थात् अनुमान उस तर्क को कहते हैं, जो युक्ति की अपेक्षा रखता है।

अनुमान द्वारा ज्ञेय भाव (Entities to be known by inference)—अनेक विषय हैं, जो अनुमान के द्वारा जाने जाते हैं। जैसे—पाचनशक्ति की क्षमता से जठराग्नि की, व्यायाम की क्षमता देखकर बल की, शब्द आदि विषयों के ज्ञान से श्रोत्र आदि इन्द्रियों की, अपने चिन्त्य, विचार्य, ऊह्य आदि अर्थों के उचित रूप से ग्रहण करने से मन की, पेय जल के पीने की प्रवृत्ति से उसके ज्ञान की, स्त्री आदि के प्रति आसक्ति को देखकर रजोगुण की, अज्ञान से मोहग्रस्त होने की, द्रोह करने से क्रोध की, दीनता से शोक की, प्रसन्नता से हर्ष की, सन्तोष से प्रीति की, विषाद से भय की, उत्साह देखकर पराक्रम की, भ्रम न होने से मन की स्थिरता की, किसी वस्तु की इच्छा देखकर श्रद्धा की, किसी विषय के ग्रहण करने से मेधा की, नाम लेकर बुलाने से होश में होने की, स्मरणशक्ति से स्मृति की, शरमाने से लज्जा की, किसी वस्तु के लगातार सेवन से शील की, निषेध करने से द्वेष की, बाद में प्रकट होने वाले विपरीत परिणाम को देखकर छल-कपट की, लालच न करने से धैर्य की, आज्ञा का पालन करने से वश में होने की, रोगी के जन्मकाल के ज्ञान से आयु की, देश-विशेष में जन्म लेने से रुचि की, उपशय से सात्म्य की, उपशय और अनुपशय से गूढ़लिङ्ग रोग की, अरिष्टों को देखकर आयु के क्षीण हो जाने की, रोगी के सुख-दुःख को रोगी से पूछकर जान लेना चाहिये।

चतुर्विध परीक्षा

महर्षि चरक का कथन है—

परीक्ष्यकारिणो हि कुशला भवन्ति।

इसका तात्पर्य है कि रोगी की परीक्षा करने वाला ही कुशल चिकित्सक होता

है। सर्वप्रथम रोगी और रोग की परीक्षा करनी चाहिये। तदुपरान्त ही चिकित्सक को चिकित्सा कार्य में प्रवृत्त होना चाहिये। परीक्षा कार्य में असावधानी तथा उपेक्षित दृष्टि रखने से चिकित्सा कार्य में कदापि सफलता नहीं मिल सकती है। जो कार्य के तत्त्व को जानने वाला विद्वान् ज्ञान और बुद्धिरूपी दीपक के द्वारा अपने कार्य में प्रवेश नहीं करता, वह चिकित्सा करने में सफल नहीं होता।

परीक्षाविधि (परीक्षा के साधन)—परीक्षा उसे कहते हैं, जिसके द्वारा वस्तुओं का यथार्थ रूप में ज्ञान होता है—

परीक्ष्यन्ते व्यवस्थाप्यन्ते वस्तुस्वरूपाणि अनया इति परीक्षा।

प्रमाण परीक्षा के साधन होते हैं। प्रमाणों के द्वारा विषय का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना परीक्षा कहलाता है। रोगविज्ञान के मनीषियों ने परीक्षा करने की अनेक विधियों का उल्लेख किया है। इन विधियों के द्वारा रोगी की परीक्षा तथा उसको पीड़ित करने वाले रोगविशेष की परीक्षा करनी चाहिये। रोगपरीक्षा के लिये निदानपंचक का उपदेश दिया गया है व रोगी-परीक्षा के लिये विभिन्न आचार्यों ने अलग-अलग प्रकार की परीक्षा का वर्णन किया है। यथा—

द्विविध प्रीक्षा, त्रिविध परीक्षा, चतुर्विध परीक्षा, पञ्चविध परीक्षा, षड्विध परीक्षा, अष्टविध परीक्षा, दशविध परीक्षा।

चतुर्विध परीक्षा—आचार्य चरकानुसार इस पंचमहाभूत से बने संसार में सभी पदार्थ दो भागों में बंटे हुये हैं—

1. सत् एवं 2. असत्।

इन दोनों प्रकार से परीक्षा की जाती है[1]—

1. आप्तोपदेश (Authoritative testimony)
2. प्रत्यक्ष (Direct observation)
3. अनुमान (Inference)
4. युक्ति (Plan or experiment)

1. आप्तोपेदश (Authentic Statement)

आप्तजनों के प्रवचन को आप्तोपदेश कहते हैं।[2] आप्तजनों का ज्ञान असन्दिग्ध और निश्चित रहता है, वे तर्क के आधार पर आश्रित ज्ञान पर निर्भर नहीं होते हैं। वे

1. द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च, तस्य चतुर्विधा परीक्षा आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षः, अनुमानं युक्तिश्चेति। (च. सू. 11/17)
2. तत्राप्तोपदेशो नाम आप्तवचनम्। ....युक्त्यपेक्षः। (च. वि. 4/4)

स्मृति से भिन्न प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हैं और किसी विषय के एक देश का ज्ञान न रखकर सम्पूर्णरूपेण ज्ञान रखते हैं। वे राग व द्वेषविहीन होने से न कहीं आसक्ति रखते हैं, न कहीं किसी से ईर्ष्या-द्वेष रखते हैं। वे इन सद्गुणों से विभूषित होते हैं, इसलिए उनका वचन प्रमाण माना जाता है।

आप्तोपदेश द्वारा ज्ञेय विषय (Facts known by authentic statement)[1]—इस सम्बन्ध में बुद्धिमान वैद्य इस प्रकार उपदेश देते हैं कि एक-एक रोग को इस प्रकार जाने कि उस रोग का प्रकोप होता है, ऐसे कारण हैं, उसका ऐसा लक्षण है, उसका ऐसा स्थान है, ऐसी वेदनायें होती हैं, ऐसा रूप होता है, उसमें ऐसे शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध होते हैं, ऐसे उपद्रव होते हैं, ऐसे बढ़ता है, ऐसे स्थित होता है, ऐसे क्षय वाला है, उसका परिणाम ऐसा होता है, उसका यह नाम है और उसमें अमुक-अमुक औषधियों के योग चिकित्सार्थ प्रयुक्त होते हैं। उस रोग को दूर करने में प्रवृत्त होना चाहिये अथवा उसकी चिकित्सा करने से निवृत्त हो जाना चाहिये इत्यादि बातें आप्तोपदेश के द्वारा जानी जाती हैं।

2. प्रत्यक्ष (Direct Observation)

अपनी इन्द्रियों तथा मन द्वारा जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।[2] ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाह्य प्रत्यक्ष होता है और मन के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह मानस या आभ्यन्तर प्रत्यक्ष होता है।

प्रत्यक्ष-परीक्षा द्वारा ज्ञेय विषय (Examination by perecption)[3]—प्रत्यक्ष के द्वारा रोगपरीक्षा कर रोग के रहस्य को जानने की इच्छा रखने वाला वैद्य रसज्ञान को छोड़कर अपनी सभी इन्द्रियों से रोगी के शरीर में स्थित सभी इन्द्रियार्थों की परीक्षा करे। यथा—

आतुरगत इन्द्रियों के परीक्ष्य विषय—

श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा—आन्त्रकूजन, सन्धिस्फुटन, अंगुलिपर्वस्फुटन, स्वर, हृदय एवं फुप्फुस-ध्वनि आदि।

नेत्रेन्द्रिय द्वारा—शरीर का वर्ण, गठन, प्रमाण एवं कान्ति, शरीर का प्राकृतिक और वैकारिक भाव तथा नेत्र से दृश्य अन्य भाव आदि।

1. तत्रेदमुपदिशन्ति..........ज्ञायते। (च. वि. 4/6)
2. प्रत्यक्षं तु खलु तद्यत् स्वयमिन्द्रियैर्मनसा चोपलभ्यते। (चि. वि. 4/4)
3. प्रत्यक्षतस्तु..........उक्तम्। (चि. वि. 4/7)

घ्राणेन्द्रिय द्वारा—रोगी के देह के सब प्रकार के मल-मूत्र, कफ-स्वेद, व्रण आदि के गन्ध।

स्पर्शेन्द्रिय द्वारा—ज्वर, शोथ आदि रोगों में रोगी की त्वचा आदि के शीत या उष्ण, मृदु, कठिन, स्निग्ध, रूक्ष आदि।

रसनेन्द्रिय द्वारा—रसनेन्द्रिय द्वारा परीक्ष्य भावों की परीक्षा अनुमान से ही करनी चाहिये; जैसे यूका के अपसर्पण से शरीरवैरस्य और यूका के उपसर्पण से शरीरमाधुर्य आदि।

3. अनुमान परीक्षा (Inference)

प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाने के बाद उसके ही आधार पर तीन प्रकार का तथा तीनों कालों का अनुमान किया जाता है।[1]

अनुमान द्वारा ज्ञेय भाव (Entities to be known by inference)[2]

अनुमान के आधार पर	ज्ञेय भाव	अनुमान के आधार पर	ज्ञेय भाव
पाचनक्षमता	अग्नि	विषाद	भय
शब्दश्रवण	श्रोत्र	अविषाद	धैर्य
स्पर्शज्ञान	त्वक्	उत्साह	पराक्रम
रूपदर्शन	चक्षु	भ्रम नहीं होना	मन:स्थैर्य
रसज्ञान	जिह्वा	अभिप्राय	रुचि इच्छा
गन्धज्ञान	घ्राण	वस्तुज्ञान	मेधा
चिन्त्य आदि के ग्रहण	मन	नामग्रहण	चेतनता
कार्यप्रवृत्ति	विज्ञान	स्मरण	स्मृति
संग आसक्ति	रजोगुण	लज्जा	लज्जा
अज्ञानता	मोह	सतत अभ्यास	शील
अभिद्रोह	क्रोध	प्रतिषेध	द्वेष
दैन्य	शोक	विपरीत परिणाम	छल-कपट
आमोद	हर्ष	लालच न करना	धैर्य
सन्तोष	प्रीति	आज्ञा पालन	वश्यता
काल	वय	उपशय-अनुपशय	गूढ़ व्याधि
शुभ कार्य-प्रवृत्ति	कल्याण होना	उपचारविशेष	दोषप्रमाण
विकारहीनता	सात्त्विक होना	अरिष्टदर्शन	आयु:क्षय

1. प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते। (च. सू. 11/21)
2. इमे तु खल्वन्येऽप्येवमेव.................विद्यादिति। (च. वि. 4/8)

4. युक्तिपरीक्षा (Plan or Experiment)

अनेक कारणों के संयोग से उत्पन्न हुये अविज्ञात विषयों को विज्ञात विषयों के कार्य-कारणभाव के अनुसार जो बुद्धि देखती है अर्थात् ज्ञान कराती है, उसे युक्ति कहते हैं।[1] इस युक्ति के द्वारा तीनों कालों के विषयों का ज्ञान होता है।

● जिस प्रकार जल, कर्षण (जोती हुई भूमि), बीज और ऋतु (काल) के संयोग से जौ, गेहूँ, धान आदि की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार छः धातुओं के संयोग से गर्भों की उत्पत्ति होती है।[2] यह युक्ति है।

● जिस प्रकार मथ्य, मंथन क्रिया और मंथन—इन तीनों के संयोग से अग्नि की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार गुणवान् वैद्य, गुणवान् औषध, गुणवान् उपचारक और गुणवान् रोगी—इस चतुष्पाद का सम्पद् का युक्तियुक्त प्रयोग करने से रोग शान्त हो जाते हैं।

चरक ने विमानस्थान में युक्ति का समावेश अनुमान के अन्तर्गत ही कर दिया है—

अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्षः। (च.वि. 4/4)

युक्ति का महत्त्व—यद्यपि प्रमाणों के वर्णन के प्रसंग में आचार्य चरक ने युक्ति को अलग न मानकर उसे अनुमान प्रमाण की अनुग्राहिका माना है। किसी अज्ञात विषय में वैसा ही कार्य-कारणभाव देखकर उस अज्ञात का भी ज्ञान प्राप्त कर लेना ही युक्ति है।

युक्ति के अनेक उदाहरण देकर उसकी विशिष्टता मानी गई है, जिसका मुख्य लक्ष्य है कि इन अनेक उदाहरणों के ज्ञान से परिपक्व बुद्धि, चतुष्पाद की समुचित योजना करके रोग को दूर करने में सक्षम हो सके।

आयुर्वेद का मुख्य लक्ष्य है—रोग को दूर करना और उस दिशा में यत्र-तत्र सर्वत्र रोगनिदान, रोग की चिकित्सा, औषध की कल्पना आदि सभी प्रसंग में युक्ति की उपादेयता स्पष्ट ही प्रतीत होती है। इस प्रकार आयुर्वेद शास्त्रों में युक्ति को प्रमाण के रूप में और योजना के रूप में विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

एषा परीक्षा नास्त्यन्या यया सर्वं परीक्ष्यते।(च. सू. 11/26)

यही चार प्रकार की परीक्षा है। अन्य कोई परीक्षा नहीं है। इसके द्वारा सम्पूर्ण सत् तथा असत् परीक्षा की जाती है।

1. बुद्धिं पश्यति.................यथा। (च. सू. 11/25)
2. जलकर्षणबीजर्तुसंयोगात्.................निवर्हणी। (च. सू. 11/23-24)

षड्विध परीक्षा

आचार्य सुश्रुत ने रोग जानने के लिये छः प्रकार के उपाय बताये हैं—1. श्रोत्र 2. त्वचा 3. जिह्वा 4. नेत्र 5. घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय और 6. प्रश्न।[1]

1. **श्रोत्रविज्ञेय**—फेनयुक्त रक्त में गति उत्पन्न करने वाला वायु निकलते समय गति उत्पन्न करता है, उसे जानना चाहिये। उदरविकारों में अन्त्रकूजन, आटोप, वातरक्त में सन्धियों और पर्वों का स्फुटन, कास में घुर्घुराहट, सन्निपात ज्वर में कण्ठकूजन आदि इन सबकी परीक्षा श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा करनी चाहिये।

श्रवण-परीक्षा (Auscultation)— यह परीक्षा प्रत्यक्ष कर्ण, परीक्ष्य स्थान पर लगाकर भी की जा सकती है, परन्तु इसके लिए एक विशेष प्रकार का नाड़ी यन्त्र व्यवहृत है, उसे Stethoscope कहते हैं।

Examination of heart by auscultation—The stethoscope should combine both a bell type chest piece and a diaphragm. High pitched sounds such as aortic diastolic murmurs are heard better with the diaphragm and low pitched sounds as the third heart sound or mitral diastolic murmurs with bell.

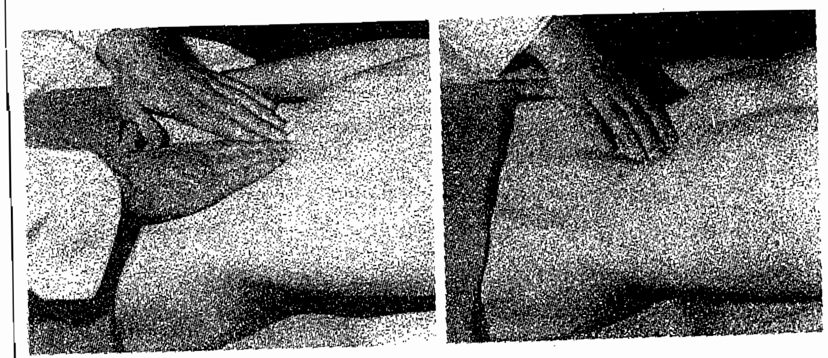

Palpation of the liver. (a) Both hands are placed flat on the abdomen with the fingers directed towards the costal margin and gradually moved upwards until resistance is encountered. The patient then takes a deep breath and the edge of the liver rides over the fingers. (b) An alternative method.

1. षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः, तद्यथा—पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति। (सु.सू. 10/3)

Abnormal heart sounds—In disease the following deviations from the normal may occur.

1. The sounds may have a different intensity, either increased or decreased.
2. The sounds may be abnormally split.
3. Low frequency sounds in diastole-third or fourth sounds may be heard.
4. Additionally high pitched sounds originating from abnornal valves may be heard.

2. **स्पर्शनेन्द्रिय-विज्ञेय**—ज्वर, शोथ आदि में शैत्य, उष्णता, श्लक्ष्णता, कर्कशता, मृदुता तथा कठिनता आदि भाव स्पर्शनेन्द्रिय से जानने योग्य हैं।[1]

इनके अतिरिक्त स्पर्श द्वारा स्पर्शासहत्व (Hyperesthesia), पीडनासहत्व (Tenderness), ग्रन्थि, अर्बुद आदि के आकार-प्रकार, आभ्यन्तर कोष्ठांगों की वृद्धि, चलता-अचलता (Mobile or fix) आदि की भी स्पर्श द्वारा परीक्षा की जाती है।

स्पर्शन (Palpation) के अतिरिक्त अंगुलीताडन-परीक्षा (Percussion) भी स्पर्शन-परीक्षा के अन्तर्गत आती है।

शीत-उष्ण परीक्षा—स्पर्श द्वारा सहज ज्ञेय गुणों में शीत-उष्ण प्रमुख है। शीत-उष्ण परीक्षा करते समय यदि सूक्ष्मता से परीक्षा करनी हो तो हस्ततल की अपेक्षा हस्तपृष्ठ से परीक्षा करनी चाहिये, क्योंकि निरन्तर कार्य करते रहने के कारण हस्ततल की त्वचा मोटी हो जाती है, जिससे तत्रस्थ संज्ञावाही नाड़ियों के तन्तु सूक्ष्म स्पर्श ग्रहण नहीं कर पाते हैं।

किसी अंगविशेष की शीत-उष्ण परीक्षा करते समय उसका प्राकृत भाग के साथ सापेक्षतापूर्वक ज्ञान करना चाहिये। यदि किसी शाखाविशेष या दक्षिण या वाम भाग का शीत-उष्ण परीक्षण करना है तो दक्षिण के साथ वाम या वाम के साथ दक्षिण अंग या ऊर्ध्व-अधः भाग की तुलना करते हुये परीक्षा करनी चाहिये; जैसे—पक्षाघात या रक्तसंवहन अवरोधजन्य व्याधियों में।

श्लक्ष्ण-कर्कश स्पर्श—प्रत्यक्षतः स्पर्शज्ञेय गुणों में श्लक्ष्ण-कर्कश प्रमुख हैं। यह परीक्षा मात्र बाह्य अंगों में, जहाँ प्रत्यक्ष स्पर्श किया जा सकता है, सम्भव है। अनेक व्याधियों में त्वचा रूक्ष गुण के कारण कर्कश और स्निग्ध गुण के कारण श्लक्ष्ण होती है।

1. स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेयाः शीतोष्णश्लक्ष्णकर्कशमृदुकठिनत्वादयः स्पर्शविशेषा ज्वरशोफादिषु। (सु. सू. 10/5)

मृदु-कठिन स्पर्श—स्पर्शन द्वारा बाह्य एवं आभ्यन्तर अंगों की मृदुता एवं कठिनता देखी जाती है। क्षयात्मक विकृति तथा मेदोसंचिति आदि विकृति में मृदु स्पर्श, वृद्ध्यात्मक विकृति एवं घातकार्बुद आदि में कठिन स्पर्श मिलता है। किसी अंगविशेष की मृदुता या कठिनता के लिये यह आवश्यक है कि चिकित्सक उसकी प्राकृत मृदुता-कठिनता से परिचित हो। यकृत्-वृद्धि, गुल्म, मांस-विकृति आदि में मृदुता-कठिनता का बहुत महत्त्व है।

स्पर्शासहत्व (Hyperesthesia)—वातनाड़ियों का सर्वांगीण शोथ या क्षोभ के कारण स्पर्शासहत्व मिलता है। अत्यधिक तीव्र शोथ के कारण स्थानिक रूप से स्पर्शासहत्व मिल सकता है। स्पर्शासहत्व की अवस्था में रोगी चिकित्सक के हलके हाथ का स्पर्श भी सहन नहीं कर पाता। कई बार तो वह वस्त्र आदि का स्पर्श भी सहन नहीं कर पाता। यदि स्पर्शा-सहत्व अल्प मात्रा में है तो रोमकूपों की विपरीत दिशा में अल्प दबाव के साथ हाथ ले जाते हुये स्पर्शपरीक्षा करनी चाहिए। सर्वांगवात (Peripheral neuritis), मधुमेहजन्य नाड़ीशोथ (Diabetic neuritis), मदात्यय (Alcohol neuritis), तीव्र शोथ (Acute inflammation), उदरावरण कलाशोथ (Peritonitis) आदि व्याधियों में स्पर्शासहत्व प्रमुखता से मिलता है।

पीडनासहत्व (Tenderness)—हस्तांगुलि के द्वारा अल्प दबाव देकर रुग्ण स्थान पर पीड़ा होती है या नहीं, यह देखना अनेक व्याधियों में निदान की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। पीडनासहत्व परीक्षण करते समय विशेष रूप से यह ध्यान रखना चाहिये कि अंगुलियाँ सीधी (Flat) न हों और न ही खड़ी हों; क्योंकि अनेक बार नाखूनों के कारण अल्प वेदना हो सकती है और पीड़नासहत्व से सम्बन्धित संकेत भ्रमात्मक मिल सकता है। अल्प दबाव होने पर वेदना होना तीव्र पीडनासहत्व (Severe tenderness) और अधिक दबाव देने पर वेदना होना अल्प या गम्भीर पीडनासहत्व (Mild or deep tenderness) का सूचक है। शोथ की विभिन्न अवस्थाओं में पीड़नासहत्व अनिवार्य रूप से प्राप्त होता है। आभ्यन्तर अंगों; यथा—यकृत्, गर्भाशय आदि में शोथ है तो गम्भीर स्वरूप का पीडनासहत्व होता है।

शोथ, ग्रन्थि, अर्बुद आदि की स्पर्श-परीक्षा—शोथ में उत्सेध, उष्णता, पीडनासहत्व, रक्तिमा एवं कर्महानि—इन पाँच आत्म-लक्षणों में प्रथम तीन स्पर्श से जाने जाते हैं। शोथ का आकार, मृदुता, कठोरता, रूक्षता-श्लक्ष्णता, पीडनासहत्व एवं अवेदनता आदि का ज्ञान स्पर्श परीक्षा से ही होता है। आमवात, सन्धिवात, श्लीपद, हृदयविकारजन्य पादशोथ एवं अन्यान्य शोथ-प्रधान व्याधियों के व्यवच्छेदक निदान में स्पर्श परीक्षा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। ग्रन्थि बाह्य है तो साक्षात् स्पर्श द्वारा ग्रन्थि का आयतन (Size), आकार (Shape), संघटन (Condensation), धारायें (Margins), सचलता-अचलता (Mobility/fixedness), सवेदन-अवेदन (Tender/nontender), कोषयुक्त या धातुलीनता आदि की परीक्षा की जाती है। आभ्यन्तर ग्रन्थियों में भी उपर्युक्त आधारों पर स्पर्श द्वारा परीक्षण करना चाहिये।

अर्बुद प्राय: कोष्ठ में होते हैं, अत: इनकी स्पर्श परीक्षा युक्तिपूर्वक स्थान के अनुरूप करनी चाहिये। अर्बुद की स्पर्श-कठोरता, श्लक्ष्णता, ग्रन्थिलता, गति अथवा अचलता, पीडनासहत्व आदि ज्ञान करने का प्रयत्न किया जाता है।

स्पर्श द्वारा चलत्ता-अचलत्ता की परीक्षा—शरीर के कुछ अंग सचल होते हैं और कुछ अचल होते हैं। कभी-कभी अचल अंगों में भी बन्धन आदि की विकृति अथवा शिथिलता के कारण विकृत गति मिलती है। यकृत्, प्लीहा, वृक्क आदि कोष्ठांगों की चलत्ता (Mobility) देखने के लिये युक्तिपूर्वक गम्भीर स्पर्शन द्वारा परीक्षा की जाती है। दीर्घ श्वास-प्रश्वास द्वारा यकृत् एवं प्लीहा की गति स्पर्श की जा सकती है। वृक्क-परीक्षा के लिए बाह्य श्वसन के साथ द्विहस्त (Bilateral) विधि से स्पर्श-परीक्षा करनी चाहिये एवं ऊर्ध्व-अध:, दक्षिण-वाम दबाव देकर सचलता का ज्ञान किया जा सकता है।

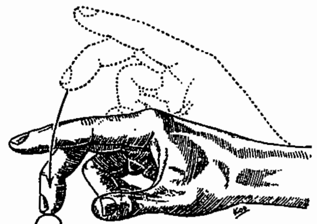

Correct method of percussion.
Note: 1. Movement at the wrist; 2. The vertical position of the terminal phalanx of the percussion finger as it strikes the other.

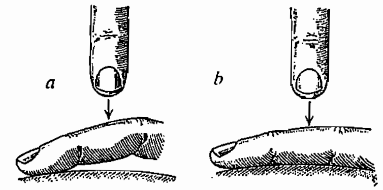

Errors in percussion. (a) Incorrect—the striking finger is not making close contact with the tissue to be percussed. (b) Correct position.

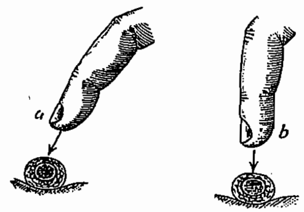

Errors in percussion. (a) Incorrect—the finger is not vertical as it strikes the other. (b) Correct method.

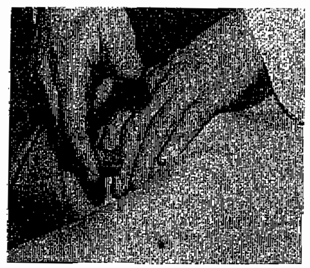

Percussion of the axilla

अंगुलिताड़न-परीक्षा (Percussion)—भौतिकशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार घन एवं सुषिर वस्तु पर आघात होने से भिन्न-भिन्न प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। अवकाशयुक्त अथवा वातपूरित अवयवों पर ताड़न से सुषिर ध्वनि (Resonant sound) तथा ठोस एवं द्रवपूरित अवयवों पर ताड़न से मन्दध्वनि (Dull sound) उत्पन्न होती है। शरीर में जहाँ अनेक कोष्ठांग अवकाशयुक्त हैं तो कुछ पूर्णतः अथवा अर्धतः घन होते हैं। विकृति की अवस्था में इन अवयवों की अंगुलिताडन परीक्षा करने पर प्राकृत ध्वनि की अपेक्षा विपरीत ध्वनि मिलती है। जैसे—फुफ्फुस के वातपूरित होने के कारण उनमें सुषिर ध्वनि ही मिलनी चाहिये, किन्तु फुफ्फुसीय अर्बुद अथवा वातश्लैष्मिक ज्वरजन्य घनता होने पर उस क्षेत्र में अंगुलिताड़न करने पर मन्द ध्वनि उत्पन्न होगी। अंगुलिताडन-परीक्षण करते समय जिस अवयव की परीक्षा करनी है, उस पर चिकित्सक अपना बाँयाँ हस्ततल रखे। यह ध्यान रखना चाहिये कि अवयव-भित्ति एवं हस्ततल पूरी तरह सटे हुये हों। फिर दाहिने हाथ की मध्यमा या तर्जनी अंगुलि को हथौड़े की तरह अल्प वक्र कर अवयव पर रखकर वाम हाथ की मध्यमा अंगुलि के पृष्ठ पर ताड़न करे और इस प्रक्रिया से उत्पन्न ध्वनि को सावधानीपूर्वक सुने कि वह सुषिर ध्वनि है या मन्द ध्वनि। यह परीक्षा प्राकृत स्थल से करते हुये विकृत स्थल की तरफ आना चाहिये। यदि ध्वनि के सन्दर्भ में सन्देह उत्पन्न हो रहा हो तो सापेक्ष रूप से आस-पास के क्षेत्र की अंगुलिताडन परीक्षा कर निश्चित कर सकते हैं।

3. **नेत्रेन्द्रियविज्ञेय** (Inspection)—शरीर की स्थूलता, कृशता, आयु के लक्षण उत्साह और विधि के विविध विकार नेत्रेन्द्रिय से ज्ञेय होते हैं। दर्शन (Inspection) में आपादमस्तक रोगी के शरीर का निरीक्षण बोलते, चलते, सोते और बैठते समय किया जाता है।[1]

4. **जिह्वेन्द्रियविज्ञेय**—सुश्रुताचार्य ने प्रमेहादि रोगों में मूत्रादि के रस का ज्ञान रसनेन्द्रिय से जानने के लिये लिखा है[2]; जबकि आचार्य चरक ने रसनेन्द्रिय से रस के ज्ञान का निषेध किया है और अनुमान से जानने के लिये कहा है। रोगी के मुख का रस प्रश्न से जाना जाता है। वातिक विकारों में मुख का रस कषाय या मधुर, कफज विकारों में मधुर-लवण तथा पैत्तिक विकारों में कटु-तिक्त होता है। ज्वर में मुख का रस फीका हो जाता है।

5. **घ्राणेन्द्रियविज्ञेय**—अरिष्ट लक्षणों में व्रण से तथा अन्य स्थान से जो गन्ध आती है, वह घ्राणेन्द्रिय से जानने योग्य होती है। मूत्रविषमयता में शरीर से मूत्र की

1. चक्षुरिन्द्रियविज्ञेयाः शरीरोपचयापचयायुर्लक्षणबलवर्णविकारादयः। (सु. सू. 10/8)
2. रसनेन्द्रियविज्ञेयाः प्रमेहादिषु रसविशेषाः। (सु.सू. 10/1)

गन्ध आती है। रक्तपित्त में निःश्वास में लौह की गन्ध आती है।[1]

6. **प्रश्न द्वारा विज्ञेय**—प्रश्न पूछकर रोगी का देश, रोगारम्भ काल, जाति तथा व्यवसाय, सात्म्य, रोग का कारण, वेदना की वृद्धि, बल, पाचकाग्नि इत्यादि बातें रोगी से प्रश्न पूछकर जानने योग्य हैं।

रोगी-परीक्षा

दर्शनादि त्रिविध परीक्षा—अष्टाङ्गहृदयकार[2] आचार्य वाग्भट ने रोगी व्यक्ति की परीक्षा के लिये तीन साधनों का उल्लेख किया है—

1. दर्शन 2. स्पार्शन 3. प्रश्न।

चरक ने भी इन तीन परीक्षाओं का उल्लेख किया है।[3]

1. **दर्शन-परीक्षा** (Inspection)—दर्शन-परीक्षा से चक्षु द्वारा देखने योग्य विषयों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है,[4] जैसे—

(i) शरीर या उसके अवयवों की वृद्धि	(viii) ग्लानि
(ii) शरीर या उसके अवयवों का ह्रास	(ix) हर्ष
(iii) आयु	(x) आकृति
(iv) लक्षण	(xi) प्रमाण
(v) बल	(xii) छाया
(vi) वर्ण	(xiii) रूक्षता
(vii) विकार	(xiv) स्निग्धता इत्यादि

नग्न नेत्रों से अथवा किसी यन्त्र की सहायता से जो भी परीक्षा की जाती है, वह सब दर्शन-परीक्षा कही जाती है। सूक्ष्म परीक्षण यन्त्र द्वारा जो सूक्ष्म वस्तुओं की परीक्षा की जाती है, वह दर्शन-परीक्षा का ही अंग है। इसी प्रकार शरीर के आभ्यन्तरीय अवयवों के विकारों का दर्शन (एक्सरे) क्षकिरणचित्र के द्वारा किया जाता है, यह भी दर्शनपरीक्षा ही है।

1. घ्राणेन्द्रियविज्ञेयाः अरिष्टलिङ्गादिषु व्रणानामव्रणानां च गन्धविशेषाः। (सु. सू. 10/10)
2. दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेताथ रोगिणाम्। (अ. हृ. सू. 1/22)
3. दर्शनप्रश्नसंस्पर्शैः परीक्षा त्रिविधा स्मृता।
वयोवर्णशरीराणामिन्द्रियाणां च दर्शनात्।। (च. चि. 25/22)
4. चक्षुरिन्द्रियविज्ञेयाः शरीरोपचयापचयायुर्लक्षणबलवर्णविकारादयः। (सु. सू. 10/5)

2. स्पार्शनपरीक्षा (Palpation)—दर्शन-परीक्षा से अज्ञेय विषयों को स्पर्श के द्वारा ज्ञात किया जाता है, जिससे तथ्य प्रकट किया जा सके।

(i) स्पर्श के द्वारा अंगों की मृदुता, कठोरता, कृशता, शोथ, ज्वर, पीड़ा, उष्णता, शीतलता, स्निग्धता, रूक्षता आदि का ज्ञान होता है।

(ii) शीताङ्ग सन्निपात में शरीर बर्फ के समान शीतल होता है।

(iii) पित्तप्रधान विकार में शरीर का स्पर्श उष्ण होता है।

(iv) वातविकार में शरीर में शुष्कता और शीतलता होती है।

(v) यकृद् वृद्धि, प्लीहा वृद्धि, गुल्म, ग्रन्थि, शोथ स्पर्श से परीक्ष्य होता है।

(vi) शून्यवात, पक्षाघात आदि में स्पर्श से स्थिति का ज्ञान होता है।

(vii) पहले समीपस्थ स्वस्थ प्रदेश का स्पर्श करना चाहिये, फिर रुग्ण या परीक्ष्य अवयव की परीक्षा करनी चाहिये।

Palpation of the left kidney

3. प्रश्नपरीक्षा (Interrogation)—प्रश्न पूछकर रोगी का देश, रोगारम्भ काल, जाति तथा व्यवसाय, वात-मूत्र-मल की प्रवृत्ति-अप्रवृत्ति, सात्म्य-असात्म्य, व्याधि-उत्पत्तिक्रम, प्रमुख वेदनायें, शरीरबल, अग्नि-बल, व्याधिवृद्धि या कमी का समय इत्यादि बातें रोगी से प्रश्न पूछकर जानने योग्य हैं।[1]

प्रश्नपरीक्षा (Interrogation) रोगी की परीक्षा का उपाय है। इसके दो विभाग होते हैं—

सामान्य प्रश्न (General interrogation)
विशेष प्रश्न (Special interrogation)

1. प्रश्नेन च विजानीयाद् देशं कालं जातिं सात्म्यमातङ्कसमुत्पत्तिं वेदनासमुच्छ्रायं बलमन्तरग्निं वातमूत्रपुरीषाणां प्रवृत्त्यप्रवृत्ती कालप्रकर्षादींश्च विशेषान्। (सु. सू. 10/8)

सामान्य प्रश्न में रोगी का नाम, आयु, व्यवसाय, विवाहित या अविवाहित, निवासस्थान, देश, वर्तमान रोग की अवस्था, कैसे आरम्भ हुआ, कैसे बढ़ता गया, क्या चिकित्सा की गई, उसका क्या परिणाम हुआ, रोगी के सामान्य स्वास्थ्य का वृत्तान्त, आहारसम्बन्धी एवं विशेष करके मादक द्रव्य-सेवनसम्बन्धी बातें, परिवार के स्वास्थ्य का परिचय इत्यादि बातें समाविष्ट होती हैं।

विशेष प्रश्न में रुग्ण संस्थान या अंग के बारे में प्रश्न होते हैं।

According to Modern Medical Science we can corelate 'प्रश्न परीक्षा' with 'History-taking of the Patient'.

History of the Patient

The aim of history taking is to elicit an accurate account of symptoms and of the clinical problem as a whole and the finding should be recoreded under the following heading:

1. Age, address, marital status and occupation.

2. **Presenting complaints**—The presenting complaint is the complaint which made the patient come to the doctor. Note the presenting complaint with duration.

3. **History of the present illness**—Ask the patient to tell you the story of the illness from begining. For example if the patient complains of pain then ask the following points—site, radiation, severity, timing, character, occurence or aggravation and relief.

4. **History of previous illness**—The previous history should include all important illness from infancy onwards. In some cases it may be necessary to communicate with doctors or hospitals that have treated the patient in the past. The name and if possible the address of the doctor or hospital concerned with the treatment of the previous illness should therefore be recorded.

5. **Menstrual history**—Women should be asked about menstruation. The menopause usually occurs about the age of 40 to 50 years. The menstrual flow is probably abnormal if it lasts for fewer than 2 or more than 8 days.

6. **Treatment history**—The treatment history should include details of drugs taken, including analgesics, oral contraceptives, psychotropic drugs, surgery, radiotherapy and psychotherapy. Adverse

reactions to drugs including hypersensitivity. It is essential to learn if the patient has had previous adverse effects from a drug so that its prescription can be avoided.

7. Family history—Note patient's position in the family and ages of children, if any. Usually it is only necessary to record the state of health, important illness and cause of death of immediate relatives.

8. Social and occupational history—Enquire about what may be grouped together as the patient's physical and emotional environment, the surrounding both at home and work, habits and own mental attitude to life and to work.

● Ask about—the exact nature of occupation, domestic and marital relationship, home surroundings, diet and use of alcohol and tobacco.

रोगीपरीक्षा-विधि

आयुर्वेदीय विधि से रोगी-परीक्षा के दो प्रमुख उद्देश्य हैं—

1. आतुरबलप्रमाण-विज्ञानीय एवं
2. व्याधिबलप्रमाण-विज्ञानीय।

आतुरबल-परीक्षा के लिये प्रकृति, सत्त्व, सारादि दशविध परीक्षा की जाती है। व्याधिबल-परीक्षा के लिये षडङ्ग एवं अष्टविध परीक्षायें की जाती हैं। इनके लिये चरकोक्त त्रिविध प्रमाणों तथा सुश्रुतोक्त षड्विध परीक्षाविधियों का प्रयोग किया जाता है और अन्ततः इन सब विधियों से परीक्ष्य भावों से सम्बन्धित ज्ञान के आधार पर रोग के निदानपञ्चक की व्याख्या करके क्रिया-कर्म की व्यवस्था करनी चाहिये।

आतुरबलप्रमाण-विज्ञानीय परीक्षा—रोगी के बल के प्रमाण को विशेष रूप से जानने के लिये 1. प्रकृति, 2. विकृति, 3. सार, 4. संहनन, 5. प्रमाण, 6. सात्म्य, 7. सत्त्व, 8. आहारशक्ति, 9. व्यायामशक्ति, 10. वय—इन दस प्रकारों से परीक्षा की जाती है।

दशविध परीक्षा

1. प्रकृति-परीक्षा—गर्भाधान-काल में जीवात्मा, शुक्र और शोणित के संयोग से गर्भ-शरीर बनते समय दोषारम्भ—बीजभाग में जिस दोष की अधिकता होती है, उसी के अनुसार मनुष्य की प्रकृति बनती है।

वातप्रकृति, पित्तप्रकृति, श्लेष्मप्रकृति, वात-पित्तप्रकृति, वात-श्लेष्मप्रकृति, पित्त-

श्लेष्मप्रकृति और सम धातुप्रकृति—ये सात प्रकार की प्रकृतियाँ होती हैं। गुण की दृष्टि से वातप्रकृति हीन, पित्तप्रकृति मध्यम और श्लेष्मप्रकृति उत्तम मानी जाती है। सम दोषप्रकृति सर्वश्रेष्ठ तथा तीनों प्रकार की द्विदोषज प्रकृतियाँ निन्द्य मानी जाती हैं। इन्हें दोषप्रकृति कहते हैं और इन्हीं को देहप्रकृति भी कहते हैं।

गर्भाधान-काल में शुक्र-शोणित में स्थित गर्भारम्भक पंचमहाभूतों में से किसी एक महाभूत की अधिकता से पार्थिव, आप्य, तैजस, वायव्य और नाभस—ये पाँच प्रकार की पाञ्चभौतिक प्रकृतियाँ बनती हैं।[1]

मानस गुणों की दृष्टि से 1. सात्त्विक, 2. राजस, 3. तामस—ये तीन प्रकार की मानस प्रकृतियाँ हैं।[2] ये मानस प्रकृतियाँ भी गर्भधान-काल में शुक्र-शोणित के मन बनाने वाले बीजांश में मन के सत्त्व, रज या तम—इन गुणों में से जिस गुण की अधिकता होती है, उसके अनुसार बनती है। सात प्रकार की दोषप्रकृतियाँ, पाँच प्रकार की पाञ्चभौतिक प्रकृतियाँ तथा तीन प्रकार की मानस प्रकृतियाँ गर्भशारीर प्रकृति (Genetic constitution) की ज्ञापक हैं। ये प्रकृतियाँ अपरिवर्तनशील हैं और जन्म से मृत्युपर्यन्त एक-सी रहती हैं। इनमें परिवर्तन आना अरिष्ट—मरणसूचक लक्षण माना गया है। इनके विपरीत छः प्रकार की जातशरीर प्रकृतियाँ हैं—जाति, कुल, वय, देश, काल, उभय, प्रत्यात्मनियता प्रकृति। ये जन्मोत्तर काल में मनुष्य के देह-मानस में देश, काल, वय, जाति, कुल आदि के प्रभाव से कुछ परिवर्तनशील होते हैं और व्यक्तित्व के अंग बन जाते हैं। इन्हें ही जातशरीर प्रकृति कहते हैं। ये परिवर्तनशील हो सकते हैं। रोगी के बलप्रमाण की परीक्षा में इन प्रकृतियों की परीक्षा आवश्यक है।

दोष-प्रकृति—

1. वातप्रकृति
2. पित्तप्रकृति
3. कफप्रकृति
4. वात-पित्तप्रकृति
5. पित्त-कफप्रकृति
6. वात-कफप्रकृति
7. त्रिदोष प्रकृति

सत्त्व अथवा **मानस प्रकृति**—

1. सात्त्विक प्रकृति 2. राजस प्रकृति 3. तामस प्रकृति।

सात्त्विक प्रकृति—

1. ब्राह्म 2. आर्ष 3. माहेन्द्र 4. याम्य 5. वारुण 6. कौबेर 7. गान्धर्व।

1. प्रकृतिमिह नराणां भौतिकी केचिदाहुः—
पवनदहनतोयैः कीर्तितास्तास्तु तिस्रः। स्थिरविपुलशरीरः पार्थिवश्च क्षमावान्।
शुचिरथ चिरजीवी नाभसः खैर्महद्भिः। (सु. शा. 4/80)

2. यद्गुणं चाभीक्ष्णं पुरुषमनुवर्तते सत्त्वं तत्सत्त्वमेवोपदिशन्ति मुनयो बाहुल्यानुशयात्। (च. सू. 8/9)

राजस प्रकृति

आसुर — राक्षस — पैशाच — सार्प — प्रैत — शाकुन

तामस प्रकृति

पाशव — मात्स्य — वानस्पत्य

भूत प्रकृति

वायव्य	आग्नेय	आप्य	पार्थिव	नाभस
(वातप्रकृति लक्षणयुक्त)	(पित्तप्रकृति लक्षणयुक्त)	(कफप्रकृति लक्षणयुक्त)	(स्थिर, विशाल, क्षमावान्)	(शुचि, चिर-जीवी, महान्)

2. विकृति-परीक्षा (Pathological examination)—'विकृति' विकार को कहते हैं। विकृति से भी रोगी की परीक्षा की जाती है। जैसे—विकार की परीक्षा उसके कारणभूत हेतु, दोष, दूष्य, देश, काल और बल के भेदों से और लक्षणों से करनी चाहिये। जिस व्याधि के दोष, दूष्य, प्रकृति, देश, काल के बल में समानता होती है और हेतु तथा लक्षण का बल अधिक होता है, वह व्याधि बलवान होती है। इसी तरह यदि दोष-दूष्यादि का बल अल्प होता है तो उस व्याधि का बल भी अल्प होता है।[1]

3. सार-परीक्षा (Examination of elemental tissues and mind)—सार द्वारा परीक्षा की विधि इस प्रकार है। पुरुष के बल का प्रमाण जानने के लिये आठ प्रकार के सारों का उपदेश किया जा रहा है—(i) त्वक्सार, (ii) रक्तसार, (iii) मांससार, (iv) मेदसार, (v) अस्थिसार, (vi) मज्जासार, (vii) शुक्रसार, (viii) सत्त्वसार। ये आठ सार हैं, जिनके माध्यम से रोगी की परीक्षा की जाती है।[2]

(i) **त्वक्सार**—

शारीरिक-लक्षण—त्वचा स्निग्ध, कोमल, प्रसन्न, कान्तियुक्त एवं निर्मल होती है।

विशेष-लक्षण—सुखी, भाग्यशाली, ऐश्वर्यवान, बुद्धि-विद्या-आरोग्य और आयुष्य-सम्पन्न होता है।

(ii) **रक्तसार**—

शारीरिक-लक्षण—कर्ण, नेत्र, मुख, जिह्वा, ओष्ठ, तलवे, नख, ललाट,

1. विकृतितश्चेति। विकृतिरुच्यते विकारः। तत्र विकारं हेतु-दोष-दूष्य-प्रकृति-देश-काल-बलविशेषैर्लिङ्गतश्च परीक्षेत, न ह्यन्तरेण हेत्वादीनां बलविशेषं व्याधिबलविशेषोपलब्धिः। (च. वि. 8/101)
2. सारतश्चेति। साराण्यष्टौ पुरुषाणां बलमानविशेषनार्थमुपदिश्यन्ते, तद्यथा—त्वग्रक्तमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रसत्त्वानीति। (च. वि. 8/102)

उपस्थ—ये अंग स्निग्ध, रक्तवर्ण, शोभायुक्त, कान्तिमान होते हैं।

विशेष-लक्षण—व्यक्ति सुखी, प्रखर बुद्धि, मनस्वी, सुकुमार, बलवान, ऊष्णता के प्रति असहिष्णु होता है।

(iii) **मांससार**—

शारीरिक-लक्षण—शंखप्रदेश, ललाट, गर्दन के पीछे, कपोल, हनु, स्कन्ध, उदर, कक्षा आदि अवयव दृढ़, गुरु और मांसल।

विशेष-लक्षण—मनुष्य क्षमाशील, धीर, धनी, बलवान, आरोग्य, चिरायुष्य, सरल स्वभाव का होता है।

(iv) **मेदसार**—

शारीरिक-लक्षण—वर्ण, स्वर, नेत्र, केश, लोम, नख, दन्त, ओष्ठ, मल, मूत्र में स्निग्धता होती है।

विशेष-लक्षण—वह धनवान, सुखी, ऐश्वर्यवान, सरल और सुकुमार होता है।

(v) **अस्थिसार**—

शारीरिक-लक्षण—उसके पार्ष्णि, गुल्फ, जानु, जत्रु, दाड़ी, शिर, पर्व, अस्थि, नख, दाँत स्थूल होते हैं।

विशेष-लक्षण—उत्साही, सक्रिय, सहिष्णु, दृढ़, शरीर वाला और आयुष्मान होता है।

(vi) **मज्जासार**—

शारीरिक-लक्षण—मृदु अंग वाला, बलवान, स्निग्ध वर्ण एवं स्वर वाला, स्थूल और गोल सन्धियों वाले होते हैं।

विशेष-लक्षण—दीर्घायु, बलवान, शास्त्रज्ञ, ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न सन्तान और सम्मानयुक्त होते हैं।

(vii) **शुक्रसार**—

शारीरिक-लक्षण—सौम्य दृष्टि, कामुक, स्निग्ध, वृत्त एवं सम दाँत वाले, स्निग्ध वर्ण-स्वर वाले और बृहत् नितम्बयुक्त होते हैं।

विशेष-लक्षण—स्त्रियों के प्रेमी, उपभोगप्रिय, बलवान्, सुखी, धन, सम्मान, सन्तान एवं आरोग्यसम्पन्न होते हैं।

(viii) **सत्त्वसार**—

विशेष-लक्षण—स्मृतिमान्, भक्तिमान्, कृतज्ञ, प्राज्ञ, शुचि, महोत्साही, दक्ष,

धीर, समरविक्रान्तयोद्धा, व्यवस्थित गति वाला, कल्याणकारक कार्य करने वाला और बुद्धिमान होता है।

4. संहनन-परीक्षा (Examination of compactness of body)—प्रत्येक व्यक्ति के शरीर का गठन भिन्न-भिन्न होता है। कोई सुगठित शरीर, बलवान, कष्टक्षम, क्रियाक्षम होता है तो कोई कुगठित शरीर, निर्बल, अकष्टक्षम तथा भीरु होता है और ऐसा रोगी चिकित्सा की क्रियायें सहन नहीं कर पाता है।

उत्तम संहनन वाले व्यक्ति पूर्ण आयु, स्वस्थ, क्रियाक्षम होते हैं एवं रोगग्रस्त होने पर धैर्यपूर्वक सहन करते हैं, चिकित्सा ग्रहण करते हैं। रोगी-शरीर की संहनन के आधार पर परीक्षा आवश्यक है। संहनन, संहति, संयोजन, सुसंहत, सुगठित—ये सभी शब्द एकार्थक हैं। जिसकी हड्डियाँ सम आकार में हों, सन्धियाँ सुदृढ़ हों, मांसपेशियाँ भली प्रकार गठित हों, पृथक्-पृथक् स्थित दिखें, रक्तसंवहन प्रवाहपूर्ण हो, ऐसे सुगठित शरीर को उत्तम संहनन या संहत करते हैं। ये पुरुष बलवान होते हैं। इसके विपरीत लक्षण वाले हीन संहनन होते हैं, जो अल्पबल होते हैं। दोनों के मिश्रित लक्षणयुक्त अर्थात् कुछ अंग, कुछ धातु सुगठित, कुछ अगठित, असंहत हो तो वह मध्यम संहनन कहलाता है। उत्तम, मध्यम, हीन—इन तीन प्रकार के संहनन को जानकर ही चिकित्सा-क्रम निर्धारित करना चाहिये।[1]

5. प्रमाण-परीक्षा (Body measurements)—प्रत्येक अंग का तथा शरीर की लम्बाई, चौड़ाई का एक निश्चित परिमाण होता है, इसे ही प्रमाण कहते हैं। समप्रमाण व्यक्ति बलवान, पूर्णायु, ओज, ऐश्वर्यादि से युक्त होता है। विषमप्रमाण होने पर बल, आयु, ओज, ऐश्वर्य आदि से हीन या मध्यम होता है। सम्पूर्ण प्रमाणों का वर्णन आचार्यों ने स्वयं के अंगुलिपर्व (अंगुल) के आधार पर किये हैं, जो बहुत ही समीचीन है। व्यक्ति के प्रमाणानुसार ही इसके अंगुल रहेंगे। एक ओर महर्षि सुश्रुत व्यक्ति की लम्बाई 120 अंगुल मानते हैं, वहीं दूसरी ओर महर्षि चरक ने 84 अंगुल लम्बाई मानी है।[2]

6. सात्म्य-परीक्षा (Body adaptability)—लगातार प्रयोग में लाने से जो वस्तु अपने अनुकूल हो जाती है, उसे सात्म्य कहते हैं।[3] जो पुरुष घी, दूध, मांसरस-सेवन के सात्म्य होते हैं और जो सर्वरससात्म्य होते हैं, वे बलवान, कष्ट सहन करने वाले और चिरजीवी होते हैं। जो रूक्षसात्म्य होते हैं और जिन्हें कोई एक ही रस सात्म्य

1. संहननतश्चेति। संहननं, संहतिः संयोजनमित्येकोऽर्थः। तत्र समसुविभक्तास्थिसुबद्धसन्धि-सुनिविष्टमांसशोणितं, सुसंहतं शरीरमित्युच्यते। तत्र सुसंहतशरीराः पुरुषाः बलवन्तः, विपर्ययेणाल्पबला मध्यत्वात् संहननस्य मध्यबला भवन्ति। (च. वि. 8/116)
2. प्रमाणतश्चेति। शरीरप्रमाणं पुनर्यथास्वेनाङ्गुलिप्रमाणेनोपदेक्ष्यते उत्सेधविस्तारायामैर्यथाक्रमम्। (च. वि. 8/117)
3. सात्म्यतश्चेति, सात्म्यं नाम तद्यत् सातत्येनोपसेव्यमानमुपशेते। (च. वि. 8/118)

होता है, वे प्रायः अल्प बल वाले, कष्ट सहन करने में असमर्थ, अल्पायु, अल्प साधन वाले होते हैं। इसी प्रकार जो लोग दो, तीन, चार रसों वाले पदार्थों और अनेक गुणों वाले मिले-जुले पदार्थों के सेवन के अभ्यस्त होते हैं, वे मध्यम बल वाले होते हैं।

त्रिविध सात्म्य

प्रवर	अवर	मध्यम
(सर्वरससात्म्य)	(एकरससात्म्य)	(व्यामिश्रसात्म्य)
घृत, क्षीर, तैल, मांसरस सात्म्य एवं बलवान	रूक्ष, एक रस वाले द्रव्य सात्म्य एवं अल्पबल	एक रस से अधिक रसयुक्त द्रव्य सात्म्य एवं मध्यमबल

7. सत्त्व-परीक्षा (Examination of mental constitution)—रोगी के मन का अध्ययन कर उसके रोग की परीक्षा करनी चाहिये। सत्त्व का अर्थ 'मन' है। आत्मा के साथ होकर वह शरीर का नियन्त्रण करने वाला होता है।[1] (i) प्रवरसत्त्व, (ii) मध्यमसत्त्व एवं (iii) अवरसत्त्वभेद से पुरुष तीन प्रकार के होते हैं।

(i) **प्रवरसत्त्व**—

लक्षण—प्रवर सत्त्व व्यक्ति सत्त्वसार होते हैं। वे छोटे शरीर के होने पर भी सत्त्व गुण की अधिकता होने से निज कारणों से अथवा आगन्तुक कारणों से उत्पन्न होने वाले रोगों या उपद्रव के आ जाने पर भी पीड़ारहित जैसे दिखते हैं।

(ii) **मध्यसत्त्व**—

लक्षण—मध्यम सत्त्व वाले दूसरे लोगों को अपने में रखकर अपने को स्वयं ही अवलम्बित करते हैं और दूसरों द्वारा ढाढ़स बँधाने पर आश्वस्त हो जाते हैं।

(iii) **हीनसत्त्व**—

लक्षण—जो व्यक्ति हीन मनोबल के होते हैं, वे अपने-आप को नहीं सम्भाल पाते हैं, न दूसरे व्यक्ति ही उन्हें सम्भाल पाते हैं, न उनमें मनोबल ला सकते हैं, क्योंकि वे लम्बे-चौड़े शरीर वाले भले ही हों, किन्तु थोड़ा-सा भी कष्ट नहीं सह पाते हैं, वे भयाक्रान्त, शोकसन्तप्त, लोभग्रस्त, मोहाकुल, अहंकार, मान-प्रतिष्ठा के घेरे में घिरे रहते हैं।

8. आहारशक्ति-परीक्षा (Examination of digestive power)—आहारशक्ति से रोगी की परीक्षा की जाती है। भोजन करने की शक्ति अर्थात् कितनी मात्रा में कोई व्यक्ति भोजन करता है और उसको पचाने की शक्ति है और कैसी है?

1. सत्त्वतश्चेति। सत्त्वमुच्यते मनः। तच्छरीरस्य तन्त्रकमात्मसंयोगात्। तत्त्रिविधं बलभेदेन—प्रवरं, मध्यमम्, अवरं चेति। अतश्च प्रवरमध्यावरसत्त्वाः पुरुषा भवन्ति। (चि. वि. 8/119)

यह देखकर बल और जीवित रहने के लिये आहार ही आधार है।[1]

9. व्यायामशक्ति-परीक्षा (Examination of strength by exercise)—व्यायाम करने की क्षमता के द्वारा भी रोगी की परीक्षा की जाती है। व्यक्ति के कार्य करने की शक्ति को देखकर व्यायामशक्ति की परीक्षा करनी चाहिये। कार्य करने की शक्ति से शरीर में उत्तम बल का अनुमान होता है।

10. वय-परीक्षा (Three phased age examination)—वय से भी रोगी की परीक्षा करनी चाहिये। काल के भिन्न-भिन्न प्रमाण के अनुसार शरीर की जो अवस्था होती है, उसे 'वय' कहते हैं। वह वय स्थूल दृष्टि से विचार करने पर तीन तरह का है—(i) बाल, (ii) मध्य, (iii) जीर्ण (वृद्ध)।

(i) **बाल्यावस्था**—इसमें शरीर की धातुयें पूरी तरह परिपक्व नहीं होती हैं। शरीर मृदु रहता है। मूँछ आदि युवावस्था के चिह्न नहीं होते। यह प्राकृत रूप से कफ-वृद्धि की अवस्था है। जन्म से 16 वर्षों तक कफ की प्रधानता एवं वृद्धि की अवस्था रहती है।

(ii) **मध्यमावस्था**—यह प्राकृत रूप से पित्त-वृद्धि की अवस्था है। इस वय:खण्ड में शरीर पूर्णत: विकसित, बल, वीर्य, पौरुष, पराक्रम आदि से युक्त हो जाता है। साथ ही बौद्धिक रूप से वस्तु को ग्रहण, धारण, स्मरण, वचन एवं विज्ञान की शक्तियाँ विकसित हो जाती हैं। मन भी शक्तियुक्त रहता है। धातुओं के प्राकृत कार्य परिलक्षित होते हैं।

(iii) **वृद्धावस्था**—60 वर्षों के बाद यह वय:खण्ड प्रारम्भ होता है। इसमें क्रमश: शरीर की धातुओं का बल कम होने लगता है तथा बौद्धिक क्षमतायें भी कम होने लगती हैं। इन्द्रियों के बल, वीर्य, पराक्रम, पुरुषार्थ घटने लगते हैं। वायु की प्राकृत रूप से वृद्धि होती है। बालों का पकना, झड़ना, दांतों का गिरना, झुर्रियाँ पड़ना आदि चिह्न प्रकट हो जाते हैं।

अष्टविध परीक्षा

सर्वप्रथम योगरत्नाकर ग्रन्थ में रोगी के आठ अंगों की परीक्षा करने का विधान बतलाया गया है। इन आठ अंगों में व्याधि के परिणामस्वरूप कुछ ऐसे विशिष्ट परिवर्तन देखने को मिलते हैं, जिनके आधार पर व्याधि-विनिश्चय किया जा सकता है।[2] ये आठ अंग हैं—नाड़ी, मूत्र, मल, जिह्वा, शब्द, स्पर्श, दृग् एवं आकृति। इनका विस्तृत वर्णन आगे किया जा रहा है।

1. आहारशक्तितश्चेति, आहारशक्तिरभ्यवहरणशक्त्या जरणशक्त्या च परीक्ष्या, बलायुषी ह्याहारायत्ते। (च. वि. 8/112)
2. रोगाक्रान्तशरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत्।
   नाड़ीं मूत्रं मलं जिह्वां शब्दं स्पर्शं दृगाकृती।। (योगरत्नाकर)

1. नाड़ी-परीक्षा (Pulse Examination)

पूर्वाभिमुख बैठे रोगी के दाहिने हाथ को अपने बाँयें हाथ का आधार देकर दक्षिण हस्तांगुलियों—तर्जनी, मध्यमा, अनामिका से नाड़ी-परीक्षा करें। रोगी की अंगुलियों को थोड़ा अन्दर की ओर मोड़कर परीक्षा करनी चाहिये। इससे स्पन्दनों का स्पर्श ठीक से मिलता है। नाड़ी-परीक्षा में तीन प्रकार से विचार किया जाता है—स्थान, गुण, गति। दोषस्थान के अनुसार वात ऊपर, पित्त बीच में तथा कफ नीचे की ओर क्रमश: तर्जनी, मध्यमा, अनामिका के नीचे स्वीकृत है। गुण का तात्पर्य है—उष्ण, शीत, रूक्ष, स्निग्ध, मृदु, कठोर, सूक्ष्म, पृथुल (मोटी) आदि। ध्यानपूर्वक नाड़ी-संस्पर्श द्वारा इन गुणों को ज्ञात किया जाता है।

नाड़ी की गति—अग्रभाग में वात वहन करने वाली, मध्य भाग में पित्त वहन करने वाली और अन्त भाग में श्लेष्मा वहन करने वाली नाड़ी होती है।[1]

वातज नाड़ी की गति—सर्प, जोंक आदि की गति की तरह टेढ़ी-मेढ़ी।

पित्तज नाडी की गति—काक, लाव, मण्डूकादि की गति की तरह चंचल[2]।

कफज नाड़ी की गति—हंस, मयूर, पारावत, कपोत और कुक्कुट की गति की तरह मन्द-मन्द होती है।[3]

वातज-पित्तज नाड़ी की गति—जो नाड़ी क्षण-क्षण में कभी सर्प की गति से चले, कभी मेढ़क की गति से चले, उसे वातज-पित्तज नाड़ी कहते हैं।[4]

वात-श्लेष्मयुक्त नाड़ी की गति—जो नाड़ी सर्प की गति से चलकर पुन: हंस की गति से चले।

पित्तज-श्लेष्मज नाड़ी की गति—जो नाड़ी वानर और हंस की गति से चले अर्थात् कभी चंचल और कभी मन्द चले।

सन्निपातज नाड़ी की गति—जो नाडी कठफोरनी की काठ काटने वाली गति से चले, उसे सन्निपातज नाड़ी कहते हैं।

असाध्य नाडी-गति—जिस नाड़ी की गति पहले पित्त की गति वाली हो और

1. अग्रे वातवहा नाडी मध्ये वहति पित्तला।
   अन्ते श्लेष्मविकारेण नाडी ज्ञेया बुधै: सदा।। (योगरत्नाकर 1/13)
2. सर्पजलौकादिगतिं वदन्ति विबुधा: प्रभञ्जने नाडीम्।
   पित्तेन काकलावकमण्डूकादेस्तथा चपलाम्।। (योगरत्नाकर 1/14)
3. राजहंसमयूराणां पारावतकपोतयो:।
   कुक्कुटस्य गतिं धत्ते धमनी कफसङ्गिनी।। (योगरत्नाकर 1/15)
4. मुहु: सर्पगतिं नाडीं मुहुर्भेकगतिं तथा।
   वातपित्तसमुद्भूतां तां वदन्ति विचक्षणा:।। (योगरत्नाकर 1/16)

बाद में वायु की गति वाली हो, पुनः कफ की गति वाली हो और जो पुनः अत्यन्त चक्र की तरह घूमे और जो भीषण जान पड़े, अपनी गति से गिर जाय और सूक्ष्मता को प्राप्त हो जाय, उस नाडी की गति को असाध्य नाड़ी कहते हैं।

काम और क्रोध से नाडी वेगवती होती है और चिन्ता एवं भय से युक्त मनुष्य की नाडी क्षीण होती है।

वातज ज्वर में नाड़ी की गति टेढ़ी, चंचल और स्पर्श में शीतल होती है। पित्तज-कफज ज्वर में नाड़ी की गति सूक्ष्म, शीतल, स्थिर होती है। कफज ज्वर में नाडी की गति मन्द, स्थिर, शीतल और स्निग्ध होती है। वात-पित्त ज्वर में नाड़ी की गति टेढ़ी, थोड़ी चंचल, कठिन होती है।

It is usual to examine the pulse before proceeding to the examination of heart. Most information is derived from radial artery, commonly called, the pulse, though it should be checked by examination of the brachial artery. The following points should be noted—

1. **Rate**—The pulse rate normally averages about 72/min. but in children is more rapid and in old age may become slow.

2. **Rhythm**—The normal pulse waves succeed one another at regular intervals, but respiatory variations are common in health, the pulse quickening with inspiration and slowing with expiration. The commonest irregularities detectable in the pulse are extrasystoles, atrial fibrillation, though variable heart block and atrial flutter may be suspected if the rate changes abruptly.

3. **Character**—Study the character or form of the arterial pulse wave by palpation of carotid pulse. The most important of these are—slow rising pulse, collapsing pulse, bisferiens pulse etc.

4. **Volume**—Estimate the volume of the pulse. This gives a rough guide to the pulse pressure which depends on the stroke volume and the compliance of arteries with normal vessels. The pulse volume gives an indication of the stroke volume. In older subjects the vessels are more rigid, causing a widened pulse pressure for the same stroke volume.

The pulse diagnosis : a scientific approach—A lady in her late forties visited a traditional practitioner for a remedy to an ailment from which she was suffering from. The healer felt her pulse and undoubtedly pronounced that she had undergone a hysterectomy

few years ago. The lady disagreed and moved out in a state of confusion and dissatisfaction. The matter was then discussed with her son, he was astonished and then discussed with the surgeon. The surgeon was surprised too. The fact that was kept as a secret was revealed by the three fingers of experienced healer. When we hear such story, we feel proud of Ayurvedic heritage.

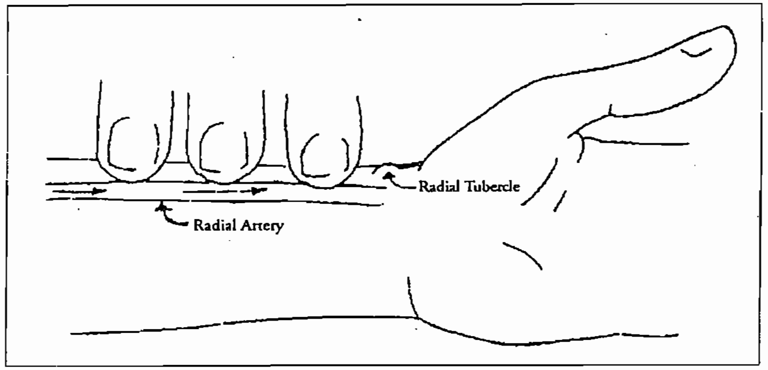

In the classical great compilations of Charaka, Sushruta and Vagbhata, we do not find much description of pulse diagnosis. The word *nadi* is mentioned in several places in the vedic literatures—Rigveda, Yajurveda, Atharvaveda, Upanishads etc. Charaka Samhita the most ancient text of Ayurveda with comprehensive knowledge of internal medicine and text of Madhava which focuses on diagnosis of diseases, doesn't mention pulse diagnosis anywhere. Sharngadhara in his treatise for the first time mentions about the systemic study of pulse. Later Bhavaprakasha improvised the subjective perception of art of pulse diagnosis. More recently Yoga Ratnakara includes pulse diagnosis in his text as one of the parameters for the diagnosis of a disease.

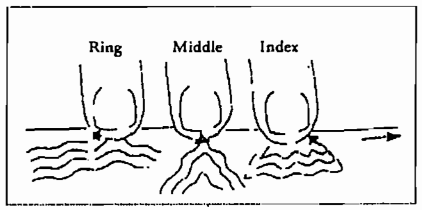

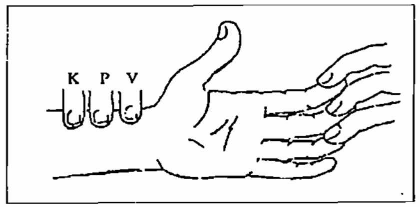

The Egyptian, Greek and Arabic medical system also contain some primitive knowledge of science of pulse reading. Where as Chinese system of medicine has well advanced theory for pulse examination, it emphasizes on examining pulse bilaterally with the position identical to Ayurveda. The Tibetan Medical Science also has an identical method of Chinese. Dr. Kazuo uebaba faculty ITOM, Japan being a doctor of western medicine has developed a device, which records the *vata, pitta* & *kapha* pulse. He has produced a graph on the computer screen which is sensed by the 3 receptors placed on the radial artey. When *vata, pitta, kapha* influencing agents were given and then the pulse was recorded, it was shown to be quite accurate. Recently the electronic giant, Sony was inspired by the principle of pulse diagnosis of oriental healing system. Sony's medical electronics research and development division has developed a device which reads the radial pulse and analyses the volume, tone, rythm and rate. With precision it can analyse the condition of heart and circulatory system. It indicates ischaemic changes in the heart also. The following is the detail how pulse diagnosis is conducted at their centre.

1. **Time**—Morning, empty stomach after the patient attends to the natural urges.

2. The physican after the prayer etc. with relaxed mind examine the patient.

Pulse	Characteristics	Location	Gati (Motion)
1. Vata Pulse	Fast, feeble, cold, light, thin, disappears on pressure.	Best felt under the index finger.	Moves like a cobra.
2. Pitta Pulse	Prominent, strong, high amplitude, hot, forceful, lifts up the palpating finger.	Best felt under middle finger.	Moves like a frog.
3. Kapha pulse	Deep, slow, broad wavy, thick, warm, regular.	Best felt under ring finger.	Moves like Swimming swan

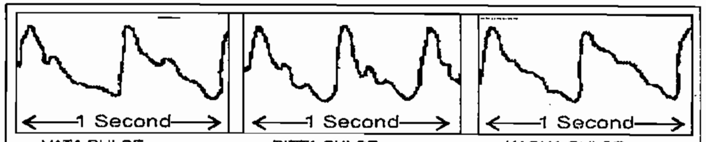

VATA PULSE
33 year healthy male
Superficial pulse : V
Deep pulse : VP
BP : 115/72
Rate : 74/min.

PITTA PULSE
33 year healthy male
Superficial pulse : PK
Deep pulse : PK
BP : 114/72
Rate : 71/min.

KAPHA PULSE
30 year healthy male
Superficial pulse : KP
Deep pulse : PKV
BP : 111/76
Rate : 69/min.

3. **Direction**—The physician preferably faces the north or east.

4. **Posture**—(i) Any comfortable posture facing each other.

(ii) Pulse examination is done in the right hand in male and left hand in female.

(iii) Patient's hand with semiflexed elbow, arm and palm supine, wrist partially extended, finger naturally flexed.

(iv) Physician holding the index, ring and middle fingers of the patients with his matching fingers of the opposite hand.

Position of fingers on radial artery—Index finger just proximal to radial tubercle, middle finger proximal to index and ring finger proximal to the middle finger with a appreciable space between the three.

2. मूत्र-परीक्षा (Examination of Urine)

अष्टविध परीक्षा में नाड़ी-परीक्षा के बाद द्वितीय स्थान पर मूत्र-परीक्षा का उल्लेख है, इससे ही मूत्र-परीक्षा का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। न केवल मूत्रवह संस्थान की मूत्रकृच्छ्र, प्रमेह, अश्मरी आदि व्याधियों में; अपितु अन्य संस्थान की सार्वदैहिक व्याधियों, जैसे—ज्वर, पाण्डु, कामला, अर्श, अतिसार आदि में भी मूत्रगत परिवर्तनों को आचार्यों ने व्याधि-लक्षणों के रूप में वर्णित किया है; यथा—श्वेतमूत्रता, पीतमूत्रता, कृष्णमूत्रता, मूत्राधिक्य, मूत्राल्पता आदि। कम द्रव पीने से, अधिक पसीना आने से, रक्तस्राव होने पर, जलोदर में तथा अतिसार में मूत्र कम मात्रा में निकलता है।

वात के प्रकोप के कारण मूत्र पाण्डुर वर्ण का, नील वर्ण का होता है।

पित्तदोष के कारण पीला या अरुण वर्ण का, तैल के समान गाढ़ा होता है।

कफप्रकोप के कारण फेनयुक्त, स्निग्ध एवं कमलजल के समान स्वच्छ होता है।

परीक्षणार्थ मूत्र-संग्रहविधि—योगरत्नाकर, चक्रदत्त आदि में व्यवस्थित रूप में मूत्र-परीक्षा का युक्तिपूर्वक वर्णन मिलता है। इतना ही नहीं, परीक्षा करने के लिये मूत्र कब, कैसे और किस प्रकार के पात्र में संगृहीत करना है, इसका भी वर्णन प्राप्त होता है। रात्रि के अन्तिम याम में चतुर्थ घटी में अर्थात् सूर्योदय से लगभग एक घण्टे

पूर्व वैद्य रोगी को उठाकर स्वच्छ कांचपात्र में मूत्र संगृहीत करे और सूर्योदय होने पर दिन के प्रकाश में उनकी परीक्षा करे।

मूत्र की प्रथम धारा छोड़कर मध्य की धारा से परीक्षणार्थ मूत्र लेना चाहिये। पहली धारा में स्थानिक बाह्य मूत्रमार्ग की विकृतियाँ और अन्त में मूत्राशय के तल में जमा तलछट के आने की सम्भावना रहती है। अत: मध्य धारा से ही मूत्र का संग्रह करना समीचीन होता है।

तैलबिन्दु द्वारा मूत्र-परीक्षा—मूत्र में तैल की बूंद डालकर उसके फैलने, न फैलने, विविध आकार धारण करने या डूब जाने आदि आधारों पर परीक्षा करने का विशिष्ट विधान आयुर्वेदशास्त्र में वर्णित है। इस तैलबिन्दु-परीक्षा से न केवल रोग का ज्ञान होता है; अपितु रोग के परिणाम एवं साध्यासाध्यता का भी संकेत मिलता है। मूत्र में तैलबूंद डालते ही यदि वह फैल जाय तो व्याधि साध्य है और न फैले तो व्याधि कष्टसाध्य है तथा यदि तैलबिन्दु मूत्र के तल में डूब जाती है तो व्याधि को असाध्य समझना चाहिये। यदि तैल की बूंद पूर्व दिशा की ओर प्रसरण करे तो समझना चाहिये कि रोगी शीघ्र ही निरोग और सुखी होगा। यदि दक्षिण दिशा की ओर बूंद का प्रसरण होता है तो रोगी ज्वरार्दित है और क्रमश: निरोग होगा। यदि तैल की बूंद का प्रसरण उत्तर दिशा की ओर होता है तो रोगी निश्चय ही आरोग्यता प्राप्त करेगा। यदि तैल-बिन्दु मूत्र में पश्चिम दिशा की ओर प्रसर करता है तो वह रोगी सुखी और आरोग्यता प्राप्त करता है। ईशान दिशा की ओर तैलबिन्दु बढ़े तो रोगी के जीवन की एक मास की अवधि होती है। मूत्र में तैलबिन्दु में छिद्र लक्षित हो तो रोगी को गतायु समझना चाहिये। जिस मूत्र में वायु की विकृति है, उसमें तैल-बिन्दु का आकार सर्प के समान होगा, पित्तदोष की विकृति के कारण छत्र के समान तैलबिन्दु की आकृति बनेगी। कफ की विकृति है तो मूत्र में तैलबिन्दु का आकार मोती के समान बनेगा।

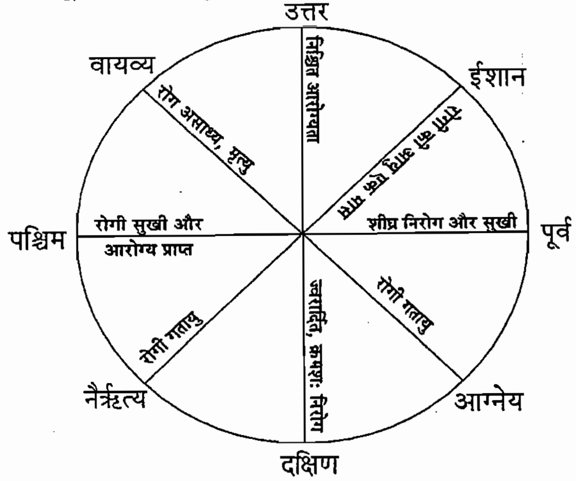

वातदोष-प्रकोप	पित्तदोष-प्रकोप	कफदोष-प्रकोप
मूत्र कृष्णाभ, नीलवर्ण, रूक्ष, कभी कम कभी अधिक रुक-रुक कर होता है।	पीले रंग का, दाह के साथ, मात्रा में कम।	श्वेत वर्ण, मात्रा में अधिक, फेनयुक्त, स्निग्ध, गन्दला होता है।
White in colour	Red in colour	Foamy

Colour of urine	Suffering disease
1. Dark brown or rice soup or watery or sandal wood water	1. Patient is suffering from indigestion
2. Rice washed water	2. Constipation
3. Smoke colour & copious red or yellow in colour	3. Fever
4. Smoky water & warm	4. Vata & pitta derailment
5. White & foamy urine	5. Vata & shleshma dosha

आकृति के आधार पर परीक्षा—

1. वातविकृति में बिन्दु का आकार — सर्पसदृश।
2. पित्तविकृति में बिन्दु का आकार — छत्रसदृश।
3. कफविकृति में बिन्दु का आकार — मोतीसदृश।
4. हंसपक्षी, तालाब, कमल, हाथी के सदृश आकृति — अरोग्यता।
5. चलनी (छलनी)-जैसी — कुलदोष।
6. मनुष्य का आकार — भूतदोष।
7. हल, कछुआ, भैंसा, बाण तीन या चार मार्गाकृति — असाध्य।

Examination of urine is predominently the method by which the diagnosis of urinary disease is established.

Colour—

1. Highly concentrated urine usually has a dark amber colour. It results loss of fluid as by sweating or diarrhoea. It also occur in heart failure.

2. Pale urine is found when the concentration of solids diminishes and urine is of large amount and usually of low specific grav-

ity. It occurs in certain type of chronic renal disease, in diabetes insipidus. A pale urine of high specific gravity occurs in diabetes mellitus.

Specific gravity—The normal specific gravity of urine is generally about 1.015 to 1.025. A persistently low specific gravity suggests chronic renal disease.

Smell—A strong ammonical smell is frequently found in infants and after decomposition when the urine has been left standing. Infection with Escherichia coli imparts a fishy odour.

Quantity—The amount of urine passed in 24 hours should be recorded. In health it averages 1500ml.

Chemical examination—Tests for the presence of protein, glucose, ketones, bilirubin, urobilinogen and blood should be done.

Pathological proteinuria—The persistent presence of more than 1 gm/l of protein in the urine generally indicates the presence of nephritis. Proteinuria occurs in eclampsia, amyloidosis and diabetes mellitus and in certain chemical poisons.

Haematuria—Haematuria may be due to haemorrhagic conditions, to disease of kidney or to lesions in the lower urinary tract. Haemorrhagic conditions can cause bleeding from the kidney or blood vessels. The renal diseases producing haematuria include acute forms of nephritis, trauma, infarction, malignant hypertension, congenital cystic kidney, nephrotoxic drugs, calculus, neoplasm, tuberculosis and acute bacterial infection.

Pyuria—Larger quantities of pus usually indicate an inflammatory lesion of the urinary tract.

Microscopical examination—The urine should always be examined microscopically. Apart from the presence of small numbers of red corpuscles and pus cells which may not be recognizable by chemical test, microscopical examination shows the presence of casts, crystals, foreign bodies, micro-organisms and parasites.

3. मल-परीक्षा (Examination of Stools)

वात के कोप से मल गाढ़ा अथवा सूखा हुआ होता है, साथ ही टूटा हुआ, फेनयुक्त, धूमिल वर्ण, कृष्ण वर्ण का होता है।

पित्त के कोप से मल पीलापनयुक्त होता है तथा कफ के कोप से श्वेत वर्ण का होता है।

यदि दुर्गन्धयुक्त, शीतल मल निकले तो उसे जीर्ण मल कहते हैं अर्थात् अधिक दिनों तक पेट में रुका हुआ मल समझना चाहिये।

अत्यन्त तीक्ष्ण अग्नि वाले मनुष्य का मल पिण्ड बंधा और सूखा होता है एवं मन्दाग्नि वाले का मल पतला होता है और जिसके मल में अत्यन्त दुर्गन्ध तथा चमक हो, वह असाध्य मल का लक्षण समझना चाहिये।

राजयक्ष्मा के प्रकरण में कहा गया है कि रोगी के मल की रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि मल ही शरीर का बल होता है।

साम-निराम मल की परीक्षा—मल को जल में डालकर मल के साम तथा निराम होने की परीक्षा की जाती है। यदि मल जल में डूब जाय तो साम मल है और यदि मल जल में तैरता रहे तो निराम मल जानना चाहिये।

मलपरीक्षा के अन्तर्गत आम तथा पक्व पुरीष के लक्षणों को ध्यान में रखा जाता है। वे लक्षण निम्नलिखित हैं—

1. आमावस्था में पुरीष भारी होने से जल में डूब जाता है।
2. जलनिमज्जन परीक्षा करने पर पक्व पुरीष जल में तैरता है।
3. अति द्रव (अत्यन्त पतला), अत्यन्त कठोर, शीतल (बहुत देर का रखा हुआ) पुरीष की जलनिमज्जन परीक्षा नहीं करनी चाहिये।

आम पुरीष—वातादि दोषयुक्त, जल में डूबने वाला, अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त, थोड़ा-थोड़ा आता है।

लक्षण—आटोप, विष्टम्भ, शूल, जी मिचलाना।

पक्व मल—वातादि दोष से अदूषित, दुर्गन्धरहित, जल में तैरने वाला, बन्धा हुआ, शरीर में लघुतायुक्त होता है।

आयुर्वेदीय दृष्टि से आम पक्व मल की जलनिमज्जन परीक्षा प्रचलित है, तथापि आधुनिक विज्ञान की विधि से पुरीष-परीक्षा करने पर पुरीषज कृमियों का सरलतापूर्वक ज्ञान हो जाता है।

पुरीष-परीक्षा को सामान्यत: दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(क) सामान्य पुरीष-परीक्षा (Routine stools test)

(i) भौतिक परीक्षा (Physical examination)
(ii) अणुवीक्षणीय (Microscopic examination)

(iii) रासायनिक (Chemical examination)

(ख) विशिष्ट पुरीष-परीक्षा (Special stool test)

(i) पुरीष-सम्बद्ध (Stool culture)

(ii) कुल वसा का मापन (Total fat estimation)

The nature of stool in different types of derailment is given below—

(a) Vata dosha—Hard stools & looks like dung of sheep.
(b) Pitta dosha—Yellow coloured stool.
(c) Shleshma dosha—White in colour.
(d) Suffering from fever—All above types of stool.

- Vata derailment is violet, the motion tends to be hard, foamy, smoky, astringent.
- Vata & shleshma derailment leads to hard & red stools.
- Pitta & vata derailment leads to hard & red stools with mucous dark yellow to black.
- Pitta & shleshma leads to hard, yellow, red with mucous stool.
- If patient suffering from indigestion tends to have frequent evacuation which is sparse with bad smell.
- If patient is suffering from chronic constipation, the motion is red & like dung of sheep.
- It patient is suffering from dropsy & gastromegaly, then the motion is white or foul smelling.
- The motion of T.B. patient is black in colour.
- The motion of obese patient who has backpain is green in colour.
- Extensively black, white, yellow, red-leading to death.
- Extremely hot stool—death sure.

The quantity, odour, colour, consistency and presence or absence of abnormal constituent in the stool should be systematically noted.

1. **Quantity**—This varies considerably in different individuals and according to the type of diet it may be considerably increased by undigested food as in the bulky stools of certain types of pancreatic diseases and malabsorption syndrome.

2. **Odour**—A certain degree of offensiveness is normal. When offensiveness is excessive some derangement of digestion or absorption should be suspected. Putrefaction of protein gives a musty smell.

3. **Colour**—The colour also varies with the type of diet, when peristalsis is excessive and the intestinal contents are hurried downwords, bile gives a yellowish green or greenish appearance to faeces.

4. **Consistency**—The abnormal stool has a pultaceous consistency. If too soft, it may have liquid or semi consistency of a diarrhoea stool. If the stool is unusually hard it may form rounded masses called scybala.

5. **Abnormal constituents**—Most of these are more easily recognized by microscopical exam. Excess of translucent, starch granules, which stains blue with iodine, suggests failure of carbohydrate digestion. Excess of fat is recognized by the light, greasy nature of stool and generally indicates failure of fat digestion. Foreign constituents such as gallstones, rarely enteroliths, but many types of worms may give valuable clues to the diagnosis.

4. जिह्वा-परीक्षा (Tongue Examination)

जिह्वा-परीक्षा हर एक बीमारी में एक नियमित-सी परीक्षा है। ऐसे तो अनेक बीमारियों में जीभ का रंग, आकार, आवरण, अंकुरस्पर्श, गति आदि में परिवर्तन होते हैं, किन्तु पाचन संस्थान की विकृतियों में ये परिवर्तन ज्यादा स्पष्ट एवं प्रमुखता से मिलते हैं।

जिह्वा रूक्षा खरस्पर्शा स्फुटिता मारुतेऽधिके।

आयुर्वेद में बताया गया है कि शरीर में वात का प्रकोप है तो जीभ रूखी, छूने से खुरदरी तथा बीच-बीच में फटी हुई-सी प्रतीत होती है।

रूक्षा श्यामा भवेत् पित्तात् लिप्तार्द्रा धवला कफात्।

शरीर में पित्त की वृद्धि है तो जीभ लाल रंग या कृष्णाभ दिखती है; जबकि कफ के प्रयोग में जीभ सफेद रंग की, जैसे उस पर कोई सफेद वस्तु का आवरण चढ़ा हो, ऐसी दिखती है और गीली रहती है।

परिदग्धा खरस्पर्शा कृष्णा दोषत्रयाऽधिके।

यदि शरीर में तीनों दोषों की विषमता है, जिसे आयुर्वेद में सन्निपात कहते हैं तो जिह्वा काले रंग की, छूने में खुरदरी, चारो ओर से जलनयुक्त मिलेगी।

The normal papillae of the tongue give rise to a furred appearance. Dryness of tongue is an important sign of dehydration. Anaemia, cyanosis and jaundice may be evident in the tongue. In cetain anaemias the tongue is depapillated i.e. smooth and shiny and sometimes sore. The tongue is large in acromegaly. Paralysis, atrophy, tremors and abnormalites of movement of the tongue and soft palate will be noted incidently but are refferred to under nervous system.

5. **शब्द-परीक्षा** (Speech Examination)

शब्द से व्यक्ति के स्वर का ग्रहण करना चाहिये। कफ के कोप वाले मनुष्य का स्वर गुरु होता है और पित्त के कोप वाले का स्वर स्फुट होता है एवं दोनों से रहित अर्थात् न गुरु न स्फुट हो तो वात के कोप वाले का स्वर समझना चाहिये।

जीर्णज्वर, संग्रहणी, धातुक्षय, राजयक्ष्मा, पाण्डु आदि व्याधियों में स्वर क्षीण होता है। कम्पवात, सार्दित पक्षाघात तथा गलगण्ड में सकम्प शब्द निकलता है। मस्तिष्कार्बुद में सहसा स्वरभेद एवं मुखीय नाड़ी की घातावस्थायुक्त पक्षाघात में विकृति के अनुसार स्वरभेद या मूकत्व मिलता है। रोगी के प्राकृत स्वर का ज्ञाता चिकित्सक इन परिवर्तन से रोगों के पूर्वरूप एवं लक्षणों का ज्ञान कर निदान करने में समर्थ होता है। बच्चों में कण्ठ एवं श्वसन संस्थानसम्बन्धी व्याधियों में स्वर-परिवर्तन प्रधानता से देखने को मिलता है। इन तथ्यों से स्पष्ट होता है कि न केवल कण्ठ एवं स्वरयन्त्र की स्थानिक व्याधियों में; अपितु सार्वदैहिक व्याधियों में भी रोगी के स्वर में परिवर्तन देखने को मिलते हैं, जो निदान में सहयोगी हो सकते हैं।

Dysarthria—Speech is often altered in character without being lost. Some type of abnormal speech may be recognized spontaneously. In lesions of the basal ganglia speech is unusually slow and monotonous, in cerebellar ataxia it has an interrupted character, lesion of the recurrent laryngeal nerve cause whispered speech.

6. **स्पर्श-परीक्षा**

त्वचा हमारे शरीर का मात्र आवरण ही नहीं; अपितु सबसे व्यापक ज्ञानेन्द्रिय 'स्पर्श-इन्द्रिय' का आश्रय होने के साथ-साथ हमारे अन्दर के मलों को बाहर निकालने का साधन, तापमान को नियमित रखने का साधन, रोगाणुओं के उपसर्ग रोकने का साधन तथा रोगनिदान का भी साधन है। सिर्फ बाहर के तापमान या वातावरण से

त्वचा में परिवर्तन नहीं आते; अपितु शरीर के अन्दर के तापमान एवं वातावरण त्वचा को अधिक प्रभावित करते हैं। शरीर की स्वस्थावस्था में त्वचा प्राकृत वर्ण की, स्निग्ध, मृदु, प्रभायुक्त एवं झुर्रियों से रहित होती है, वहीं विभिन्न रोगों के कारण इसमें विभिन्न प्रकार के परिवर्तन भी मिलते हैं।

पित्तरोगी भवेदुष्णो वातरोगी च शीतलः।
पिच्छिलः श्लेष्मरोगी स्यात्त्रिलिङ्गं सन्निपातवान्।।

वात के कारण त्वचा शीत और कृष्णवर्ण, पित्त के कारण उष्ण और पीतवर्ण तथा कफ के कारण चिमचिमी और श्वेतवर्ण की होती है। अग्निमान्द्य के कारण विबन्ध रोग होता है तथा कब्ज के कारण आंतों में इकट्ठे हुये मल और उसके विष के परिणामस्वरूप त्वचा का रंग कृष्णाभ होता है तथा जगह-जगह धब्बे पड़ जाते हैं। Addison's disease में त्वचा काली एवं गाँठदार हो जाती है। Raynaud's disease के कारण तामिया रंग के धब्बे-जैसे धूल-कण जमा मिलते हैं। मेदोरोग के कारण त्वचा पर चिकनाई ज्यादा दिखती है तथा मधुमेह (Diabetes) के कारण भी त्वचा चिपचिपी और लाल धारियों से युक्त मिलती है। चिन्ता, अवसाद (Depression) के कारण त्वचा की प्राकृतिक चमक नष्ट हो जाती है और झुर्रियाँ, रूखापन एवं श्यावता बढ़ जाती है। गठिया, फिरंग रोग, वातरक्त, कुष्ठ, रक्तविकार आदि के कारण त्वचा पर जगह-जगह ग्रन्थि दिखाई देती है। संखिया के विष के कारण त्वचा ताम्रवर्ण की तथा शीशे (Lead) के विष के कारण नीलवर्ण की होती है।

7. **दृक्-परीक्षा** (Eye Examination)

नेत्र हमारे शरीर के अन्दर होने वाले सूक्ष्मतम परिवर्तनों को भी प्रकट करते हैं; परन्तु ये परिवर्तन अत्यन्त सावधानीपूर्वक ही परिलक्षित किये जा सकते हैं।

नेत्रवर्ण, वैवर्ण्य, रक्तकेशिका, शोफ आदि के आधार पर नेत्रों की परीक्षा करनी चाहिये। रोगी का मुँह प्रकाश की ओर कर अथवा टार्च आदि की पर्याप्त रोशनी में नेत्रपरीक्षा करनी चाहिये। कामला की परीक्षा प्राकृतिक उजाले में करनी चाहिये, टार्च आदि की कृत्रिम रोशनी में नहीं। नेत्र का वर्ण श्वेताभ अथवा पीताभ श्वेत होने पर पाण्डु व्याधि का पीत अथवा पीताभ वर्ण कामला का सुनिश्चित संकेत देता है। कृमि, जीर्ण विबन्ध, अर्श, विषप्रभाव, हृत्कार्यावरोध आदि अवस्थाओं में कृष्णाभ तथा कृष्ण मण्डलयुक्त नेत्र हो जाते हैं। उच्च रक्तचाप, मधुमेह, वृक्कविकार, ऊर्ध्वग रक्तपित्त में नेत्रों की रक्तकोशिकायें विस्फारित मिलती हैं। पाण्डु, वृक्कक्रियाहानि, प्रोटीन की कमी में नेत्रवर्त्म में शोफ मिलता है। मानसिक तनाव में नेत्र विभ्रान्त, अवसाद में अन्दर को धँसे तथा उन्माद में वेचैनी लिये मिलते हैं।

The patient should be asked if he sees double (diplopia) and

note should be taken of squint (strabismus), drooping of eyelid (ptosis) or ocillation of eyeballs (nystagmus). The condition of pupil should be observed, wheather they are equal in size and reguler in outline, wheather abnormally dilated or contracted and wheather they react normally to light and accommodation.

8. **आकृति-परीक्षा** (Face Examination)

हमारे अन्दर की खुशी तथा दु:ख हमारे चेहरे पर स्पष्ट रूप से प्रकट होते हैं। पहला सुख निरोगी काया है और पहला दु:ख रोगी काया है। इसलिये रोग का एक नाम दु:ख भी है। आयुर्वेद में कहा गया है कि नित्य प्रात:काल उठकर अपनी आकृति देखनी चाहिये तथा अपनी स्वस्थता और अस्वस्थता का विचार कर उस दिन के कार्यक्रम तय करने चाहिये। यदि आकृति स्वस्थ है तो व्यस्त कार्यक्रम करना चाहिये और यदि आकृति अस्वस्थ है तो विश्रामपूर्वक दिनचर्या निश्चित करनी चाहिये। हमारे चेहरे पर आने वाले कुछ परिवर्तन (असामान्य) रोग-विशेष के ज्ञापक होते हैं। चिकित्सा-विज्ञान में कुछ बीमारियों के लिये तो 'लुक' जैसे डायबिटिक लुक, ट्यूबर-कुलर लुक, ल्युकोरियल लुक, इडियट लुक आदि शब्द प्रचलित हैं, जो पूर्णत: आकृति पर ही आधारित हैं।

1. मधुमेही का चेहरा—पसीने से चिपचिपा, अकारण लाल, माथे की कनपटी की सिरायें उभरी रहती हैं।
2. कुष्ठरोगी—तैल-सा पुता रहता है, गण्डप्रान्त पर चट्टे, नेत्रभू अस्त-व्यस्त नासिका नेत्रसन्धि के पास दबी रहती है।
3. खून की कमी—पीलापन लिये फूला सा।
4. कामला—पीला।
5. दमा—श्यावता (कालापन)।
6. विषद्रव्य बन रहा हो या विष-सेवन—चेहरा नीला।
7. पेट में कृमि—काले रंग के मण्डल (चकत्ते)।
8. स्त्रियों में मासिक धर्म की कमी—काले दाग दिखते हैं।
9. यक्ष्मा—गाल धंसे हुये, आँखें बाहर हो आई-सी, चेहरे की हड्डियाँ उभरी हुई दिखलाई पड़ती हैं।
10. मेदोरोग—चेहरा फूला हुआ, हन्वस्थि नीचे—मेदसंचय।
11. Hypothyroidism—चेहरा गोल और मोटा, रोगी बुद्धू की तरह दिखता है।
12. Hyperthyroidism—चेहरा लाल, आँखें बाहर को निकली हुई।
13. लकवे के रोगी—एक ओर खिंचा हुआ चेहरा, एक आँख सदा खुली रह सकती है।
14. वृक्क की बीमारियाँ—चेहरा फूला; खासकर सुबह के वक्त।

15. पुरानी आँव, अपचन, धातुक्षय, पुरानी खांसी, लीवर की खराबी, बवासीर बहुमूत्रता, चिन्ता आदि बीमारियों में आकृति म्लान, निस्तेज और रूक्ष दिखती है।

आकृति-परीक्षा के अन्तर्गत मुखाकृति-परीक्षा तथा शरीर-आकृति-परीक्षा आती है। We can corelate आकृति-परीक्षा with Examination of Abnormal Faces and Abnormal Gaits.

Faces

Abnormalities of colour may be most evident in the face but can be reliably detected only in natural light. Cyanosis, blue colour imparted by hypoxic blood, is usually best seen in the lips, nose and ears.

Thickening of the subcutaneous tissues may be seen in acromegaly and myxoedema, and puffiness of the eyelids in the latter condition may stimulate the true subcuta neus oedema of renal disease or superior vena caval obstruction.

A notable rounding of the facial contours is not uncommon in patients on corticosteroid therapy (moon face).

Parkinsonian facies in encephalitis lethargica.

Paget's disease: Enlargement of the head.

Exophthalmos. A rim of sclera is visible between the iris and the upper eyelid.

Myopathic facies. The loose pout of the lips is due to weakness of the orbicularis oris.

The rigidity of the facial muscles gives a characteristic immobility to the face which is known as the 'Parkinsonion faceis'. The expression is fixed and staring, blinking is infrequent, the patient smile little or not at all.

The facial weakness causes a characteristic myopathic facies with drooping of the lower lip and wasting of the facial muscles.

Paget's disease—The patient may notice painless alternation in the appearance of the skull and face.

Exophthalmos—Starring expression with abnormal exposure

of the sclera between iris and the eyelids. Exophthalmos is a notable feature of primary hyperthyroidism or from tumours affecting the orbit or from thrombosis of cavernous sinus.

Abnormal gaits

Descriptive term	Explanation	Site of lesion
Spastic (arm still)	Increased tone Circumduction	Upper motor neurone
Scissors	Bilateral adduction and contractures	Bilateral upper motor neurone
Wide based ataxia	Hypotonia	Post columns
Drunken ataxia	Hypotonia and incoordination	Cerebellum and connections
Festinating (arm still)	Hypertonicity Bradykinesia	Extrapyramidal
High stepping	Foot drop	Peripheral neuropathy Poliomyelitis Progressive muscular atrophy
Waddling	Hip muscle weakness	Muscular dystrophy hip damage
Limping	Short or painful leg	Leg or foot
Astasia-abasia	Cannot stand or walk	Hysteria

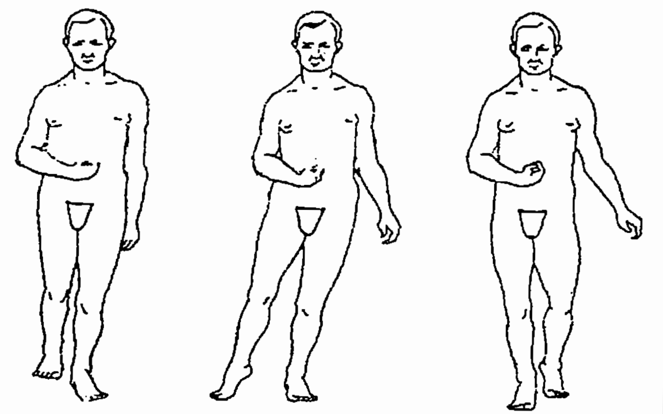

The gait in hemiplegia.

The study of the gait is complementary to that the posture in a neurological case.

The patient should be asked to walk across the floor with the legs uncovered and unhampered by clothes.

Spastic gaits are probably the commonest abnormal type. They result from upper motor neuron lesions such as hemiplegia and paraplegia.

In hemiplegia the affected limb is stiff and extended with the foot plantar flexed.

Scissor's gait of diplegia results from contracture in the adductors of the thighs and is rarely seen save in the cerebral diplegia of children. The legs cross in the act of walking. Lesions involving the posterior columns and cerebellum cause ataxia i.e. an unsteady and uncontrolled gait.

In tabes the hypotonia necessitates 'taking in the slack' in the muscles before these can be used effectively. The patient in walking, therefore, picks his feet well off the ground and then slams them down unnecessarily hard.

The ataxia of cerebellar disease is shown by a characteristic reeling or 'drunken man's gait' with a special tendency to fall to one side, sometimes the affected arm does not swing as the patient walks.

Postencephalitic state (Parkinsonism). The attitude is one of flexion, especially marked in this case at the hips.

Congenital cerebral diplegia. Crosslegged progression. 'Scissors' gait.

षडङ्ग परीक्षा

द्वौ बाहू, द्वे सक्थिनी, शिरोग्रीवम्, अन्तराधिः, इति षडङ्गमङ्गम्।

(च. शा. 7/8)

षडङ्ग शरीर—शरीर के अंगों का विभाग इस प्रकार है—दो हाथ, दो पैर, ग्रीवासहित शरीर और मध्य शरीर; अतः शरीर को षडङ्ग माना गया है। इन छः अंगों की युक्तिपूर्वक परीक्षा करनी चाहिये।

1. शिर-ग्रीवा।
2. चार शाखायें।
3. मध्य शरीर।

प्रैक्टिस ऑफ आयुर्वेदिक मेडिसिन

(कायचिकित्सा)

द्वितीय खण्ड : चिकित्सकीय पक्ष

1 ज्वर

ज्वर को सभी रोगों में प्रधान मानो गया है; क्योंकि मनुष्य के आदि और अन्त—दोनों समय ज्वर विद्यमान होता है। पौराणिक कथाओं के अनुसार ज्वर ग्यारह रुद्रों में से एक है। महेश्वर व श्रीकृष्ण के प्रभाव से माहेश्वर व वैष्णव ज्वर उत्पन्न हुए। माहेश्वर ज्वर उष्ण व वैष्णव ज्वर शीत था, वे परस्पर विरुद्ध एवं मारक थे। एक और कथा के अनुसार पार्वती के सती होने पर रुद्र के कोप से ज्वर की उत्पत्ति हुई। महर्षि चरकानुसार **इह खलु ज्वर एवादौ विकाराणाम् उपदिश्यते, तत्प्रथमत्वाच्छरी-राणाम्।** अर्थात ज्वर सभी रोगों में प्रधान है, इसीलिए इसका उपदेश भी पहले किया गया है। माधवनिदान में ज्वर की उत्पत्ति के सन्दर्भ में यह कहा गया कि दक्ष प्रजापति द्वारा किए गए तिरस्कार से कुपित रुद्र के निःश्वास से उत्पन्न ज्वर को पृथक् (वातज, पित्तज, कफज), द्वन्द्वज (वातपित्तज, वातकफज, पित्तकफज), संघातज (सन्निपातज), आगन्तुज भेद से आठ प्रकार का माना गया है। आगन्तुज के आगे भेद हैं—अभिघात, अभिषङ्ग, अभिचार, अभिशाप। चरकानुसार ज्वर के आठ भेद दोषानुसार कहे गए हैं—वात-पित्त-कफ-वातपित्त-वातकफ-पित्तकफ-वातपित्तकफ-आगन्तुज कारणों से। औपसर्गिक विशेष में, प्राधान्यता के अनुसार विषमज्वर, आन्त्रिकज्वर, ग्रन्थिकज्वर, श्लेष्मकज्वर, सन्धिकज्वर, श्वसनकज्वर, आक्षेपकज्वर, बृहन्मसूरिका, लघुमसूरिका, रोमान्तिका, दण्डकज्वर, कर्णमूलिकज्वर आते हैं, क्योंकि प्रायः हर एक उपसर्ग में ज्वर का आना देखा गया है। विषमज्वर के आगे भेद हैं—सन्तत, सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक, चतुर्थक। साथ ही शरीर की सात धातुओं—रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र के अनुसार भी ज्वर का वर्गीकरण किया गया है। ज्वर के सामान्य लक्षणों का विवेचन सुश्रुत संहिता में इस प्रकार प्राप्त होता है—

स्वेदावरोधः सन्तापः सर्वाङ्गग्रहणं तथा।
युगपद्यत्र रोगे च स ज्वरो व्यपदिश्यते।।

(सु. उ. 39/13)

अर्थात् स्वेद का अवरोध, सन्ताप तथा सभी अङ्गों का जकड़ जाना—ये तीनों लक्षण जिस रोग में एक साथ हों, उसे ज्वर कहा जाता है। महर्षि चरकानुसार आगन्तुज ज्वरों की सम्प्राप्ति है—

भूताभिषङ्गात् कुप्यन्ति भूतसामान्यलक्षणाः।

(च. चि. 3/115)

अर्थात् जो ज्वर जिस भूत के प्रकोप से होगा, उस भूत के सामान्य लक्षण उस ज्वर में भी होंगे। महर्षि सुश्रुतानुसार विषम ज्वर की सम्प्राप्ति है—

धातुमन्यतमं प्राप्य करोति विषमज्वरम्।

(सु. उ. 39/66)

अर्थात् रस-रक्त आदि किसी एक धातु में जाकर विषमज्वर को उत्पन्न करता है वह दोष जो बलवान होता है। ज्वर एक स्वतन्त्र व्याधि है—It is sustained elevation of body core temperature. इसके हेतु कुछ पता हैं और कुछ नहीं। आधुनिक दृष्टि से भी यह अभिघात (Trauma, Reaction) या शोथ (Inflammation) से होता है। इसमें Vasodilation हो जाती है, जिससे Metabolism बढ़ जाता है। तापमान बढ़ कर Fever को जन्म देता है। हमारे मस्तिष्क में जो Hypothalamus है, वह Heat regulating centre का काम करता है एवं Thermostat centre तापमान को निर्धारित करता है। सामान्य तापमान दर 97°-99° F होता है। Pyrogens के द्वारा ज्वर उत्पन्न होता है। तापमान मापक यन्त्र Thermometer द्वारा ज्वर की दर मालूम की जाती है। विशेष बातों पर उल्लेख किया जाता है—ज्वर का चढ़ना (Rise), उसका चलना (Course) एवं ज्वर का या तापमान का गिरना (Fall of temperature) इस Course के भेद किये गये हैं—Continous, Remittent, Undulated & Relapsing। वे व्याधियाँ जो ज्वर से जुड़ी हुई हैं—

1. Infections caused by bacteria, virus, etc.
2. Due to immune mechanism eg. Rheumatoid arthritis, Leukaemia.
3. Vascular inflammation eg. Phlebitis, Thrombophlebitis, Myocardial, Pulmonary or Cerebral infarction, Trauma etc.
4. Granulomatus व्याधि → Granuloma formation.

प्रमुख सन्दर्भ—

1. चरकसंहिता, चिकित्सा स्थान, अध्याय 3
2. सुश्रुतसंहिता, उत्तर खण्ड, अध्याय 39
3. अष्टाङ्गहृदय, निदान स्थान, अध्याय 2
4. माधवनिदान, पूर्व खण्ड, अध्याय 2

ज्वर—अर्थात् शरीर की उष्मा या संताप का बढ़ जाना।

पर्याय—व्याधि, आतङ्क, ज्वर, विकार, रोग।

ज्वर के भेद

1. ज्वर

सम	विषम
1. स्वल्प कारणों वाला	1. समज्वर से विपरीत लक्षणों वाला
2. उपद्रवरहित	2. तीक्ष्ण
3. एकाश्रय वाला	3. प्रेत तथा ग्रहों से उत्पन्न
4. सुखपूर्वक चिकित्सा करने योग्य	4. विषम गति से उत्पन्न
5. बहिर्मार्ग	
6. लघुपाकी	

2. ज्वर

निज	आगन्तुज
शारीरिक दोषों से उत्पन्न	अभिघातादि से उत्पन्न

सामान्य निदान—

1. स्नेहन-स्वेदन-वमन-विरेचन-निरूहण-अनुवासन।
2. रक्तमोक्षण का मिथ्या/अतियोग होना।
3. शस्त्र, पाषाण, दण्ड आदि का आघात।
4. श्रम करना, धातु[1] क्षय होना, अजीर्ण, विषग्रस्त होना।
5. असात्म्य भोजन एवं मिथ्या आहार-विहार सेवन।
6. शोकग्रस्त होना।
7. काम क्रोध, भयादि का मन में आवेश।

सम्प्राप्ति[1]—मिथ्या आहार-विहार एवं प्रकोपक काल → दोषप्रकोप → आमाशय में दोष सञ्चय → कोष्ठाग्न का बहिर्गमन → रसवह, स्वेदवह स्रोतों में अवरोध → दोषों का रस के साथ सर्वशरीर में फैलना → ज्वर की अभिनिवृत्ति।

दोष : पित्तप्रधान   **अधिष्ठान** : सर्वशरीर
दूष्य : रस   **स्रोतस** : रसवह, स्वेदवह

पूर्वरूप निज ज्वर[2]—

1. शरीर में थकावट   2. बेचैनी

1. मिथ्याहारविहाराभ्यां दोषा ह्यामाशयाश्रयाः।
बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरदाः स्यू रसानुगाः।। (माधव निदान 2/2)

2. श्रमोऽरतिविवर्णत्वं वैरस्यं नयनप्लवः।
इच्छाद्वेषौ मुहुश्चापि शीतवातातपादिषु।।
जृम्भाऽङ्गमर्दो गुरुता रोमहर्षोऽरुचिस्तमः।
अप्रहर्षश्च शीतं च भवत्युत्पत्स्यति ज्वरे।। (सु. उ. 39/25-26)

3. मुख का स्वाद बिगड़ना
4. शारीरिक वर्ण में विकृति
5. अङ्गों में भारीपन
6. आँखों में भारीपन
7. नींद का अधिक आना
8. अङ्गों का काँपना
9. अविपाक
10. दुर्बलता
11. मानसिक दुर्बलता
12. भोजन से क्लेश
13. मधुर आहार से द्वेष
14. जम्भाई आना
15. शरीरांगों में पीड़ा
16. चक्कर आना
17. शब्दासहिष्णुता

सामान्य लक्षण—

1. संताप होना
2. अरुचि
3. तृष्णा का अनुभव
4. अङ्गमर्द
5. हृदय में पीड़ा

भेद एवं रूप—

वातज[1]—अङ्गों का कांपना, कण्ठ सूखना, ओष्ठ सूखना, नींद न आना, अङ्गों में रूक्षता, शिर:शूल, हृदयशूल, अङ्गों में वेदना, मल का बन्ध जाना, जम्भाई आना।

पित्तज[2]—तीक्ष्ण वेगी ज्वर, अतिसार, वमन, कण्ठ पाक, मुखपाक, स्वेद, कटुमुखता, पीतनेत्रता, अङ्गमर्द, निदान सेवन से हानि।

कफज[3]—गात्र गीले कपड़े से ढका प्रतीत, वेग मन्द, मुख स्वाद मधुर प्रतीत, अन्न में अरुचि, शरीर में भारीपन, स्रोतों में अवरोध, नेत्रश्वेतता, अपचन।

वात-पित्तज[4]—प्यास, मूर्च्छा, भ्रम, दाह, निद्रानाश, शिर:पीड़ा, भोजन में

1. वेपथुर्विषमो वेग: कण्ठौष्ठपरिशोषणम्।
निद्रानाश: क्षवस्तम्भो गात्राणां रौक्ष्यमेव च।।
शिरोहृद्गात्ररुग्वक्त्रवैरस्यं गाढविट्कता।
शूलाध्माने जृम्भणं च भवन्त्यनिलजे ज्वरे।। (सु. उ. 39/29,30)
2. वेगस्तीक्ष्णोऽतिसारश्च निद्राल्पत्वं तथा वमि:।
कण्ठौष्ठमुखनासानां पाक: स्वेदश्च जायते।।
प्रलापो वक्त्रकटुता मूर्च्छा दाहो मदस्तृषा।
पीतविण्मूत्रनेत्रत्वं पैत्तिके भ्रम एव च।। (सु. उ. 39/31,32)
3. स्तैमित्यं स्तिमितो वेग आलस्यं मधुरास्यता।
शुक्लमूत्रपुरीषत्वं स्तम्भस्तृप्तिरथापि च।।
गौरवं शीतमुत्क्लेदो रोमहर्षोऽतिनिद्रता।
प्रतिश्यायोऽरुचि: कास: कफजेऽक्ष्णोश्च शुक्लता।। (सु. उ. 39/33, 34)
4. तृष्णा मूर्च्छा भ्रमो दाह: स्वप्ननाश: शिरोरुजा।
कण्ठास्यशोषो वमथू रोमहर्षोऽरुचिस्तम:।
पर्वभेदश्च जृम्भा च वातपित्तज्वराकृति:। (सु. उ. 39:47)

अरुचि, आंखों के सामने अंधेरा छाना, जम्भाई आना।

1. वात-कफज[1]—गीले कपड़े से ढका प्रतीत, सन्धियों में पीड़ा, नींद अधिक आना, शरीर में भारीपन, शरीर में जकड़ाहट, पसीना अधिक आना।

2. पित्त-कफज[2]—मुख के भीतर कफ का लेप, तिक्तास्यता, मूर्च्छा, खांसी, अरुचि, तृष्णा, कभी शीत कभी दाह प्रतीत।

3. सन्निपातज[3]—अस्थियों की सन्धियों में पीड़ा, शिर:शूल, क्षण में दाह व क्षण में शीतता, तन्द्रा, मूर्च्छा, थकावट, अङ्गों में शिथिलता, उदर में भारीपन।

सन्निपातज ज्वर

नामभेद—

1. कुम्भीपाक
2. प्रोणुर्नाव
3. प्रलापी
4. अन्तर्दाह
5. दण्डपात
6. अन्तक
7. एणीदाह
8. हारिद्रक
9. अजघोष
10. भूतहास
11. यन्त्रापीड़
12. संन्यास
13. संशोषि

चरक के मत से 13 सन्निपात—

अधिक बढ़े हुए दो दोष और एक हीन	→ 3
अधिक बढ़ा हुआ एक दोष और दो हीन	→ 3
एक हीन, एक मध्य, एक अधिक बढ़ा हुआ दोष	→ 6
तीनों दोष अधिक बढ़े हुए का भेद	→ 1
	योग 13

असाध्य लक्षण[4]

1. दोष का भली-भाँति रुकना।
2. पाचकाग्नि क्षीण होना।

1. स्तैमित्यं पर्वणां भेदो निद्रा गौरवमेव च।।
शिरोग्रह: प्रतिश्याय: कास: स्वेदाप्रवर्तनम्।
सन्तापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृति:।। (सु. उ. 39/48-49)
2. लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा मोह: कासोऽरुचिस्तृषा।
मुहुर्दाहो मुहु: शीतं श्लेष्मपित्तज्वराकृति:।। (सु. उ. 39/50)
3. क्षणे दाह: क्षणे.......................।
.......................दोषाणां सन्निपातज्वराकृति:।। (च. चि. 3/103-108)
4. दोषे विबद्धे नष्टेऽग्नौ सर्वसम्पूर्णलक्षण:।
सन्निपातज्वरोऽसाध्य: कृच्छ्रसाध्यस्ततोऽन्यथा। (च. चि. 3/109)

अवधि[1]

वातप्रधान → 7वें दिन
पित्तप्रधान → 10वें दिन
कफप्रधान → 12वें दिन
} भयङ्कर रूप धारण कर शान्त या रोगी को मार डालता है।

उपद्रव[2]—

अन्त में कान की जड़ में एक भयङ्कर शोथ।

आगन्तुज ज्वर[3]

अभिघात ज्वर	अभिचार ज्वर	अभिशाप ज्वर	अभिषङ्ग ज्वर
किसी शस्त्र से, पत्थर की चोट से, गिरने से, असात्म्य वस्तु के शरीर में प्रवेश करने से शरीर में विषाक्तता हो जाती है, जिसके परिणाम-स्वरूप ज्वर हो जाता है।	तन्त्र, मन्त्रों के प्रयोग, अनिष्टकारक मारण-उच्चाटन आदि द्वारा व्यक्ति ज्वराक्रान्त हो जाता है। इससे चित्त में चञ्चलता, विकलता होती है।	ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध, सिद्ध, तपस्वी जनों के अपमान करने से उनके शाप द्वारा जो ज्वर होता है।	क्रोध, शोक, भय, काम आदि द्वारा उत्पन्न ज्वर।

पुनरावर्तक ज्वर (Relapsing Fever)

निदान	लक्षण
1. ज्वर छूट जाने पर सम्पूर्ण बल से पहले अपथ्य सेवन।	1. शीत
	2. कम्पन
2. दोषों का संशोधन ढंग से न हुआ हो।	3. शिर:शूल
	4. अस्थि-सन्धि शूल।
3. कुछ दोष शरीर में रह गये हों।	5. पाण्डु, कामला, शोथ आदि।
4. बदपरहेज़ी से ज्वर का लौट आना।	6. थोड़े समय बाद पुन: शीत कम्प के साथ ज्वर।

विषम ज्वर

विषमो विषमारम्भः क्रिया कालोऽनुषङ्गवान्।

---

1. सप्तमे दिवसे प्राप्ते दशमे द्वादशेऽपि वा।
पुनर्घोरतरो भूत्वा प्रशमं याति हन्ति वा।। (सु. उ. 39/45)
2. सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः।
शोथः सञ्जायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते।। (च. चि. 3/287)
3. अभिघाताभिचाराभ्यामभिशापाभिषङ्गतः।
आगन्तुर्जायते दोषैर्यथास्वं तं विभावयेत्।। (माधव निदान 2/26)

निदान

निज	आगन्तुज
1. आरम्भ से अल्प दोष	1. पर-भूताभिषङ्ग (जीवाणु)
2. ज्वरमुक्त दोष	
3. स्वभावत: धातुवैषम्य	

सम्प्राप्ति[1]

मिथ्या आहार-विहार
↓
दोष का पुन: प्रकोप
↓
धातुओं में दोष-सञ्चय
↓
विषमारम्भ, विषमक्रिया
↓
एवं विषमकालपूर्वक ज्वर
↓
निज विषम ज्वर —— **विषम ज्वर**

विषमारम्भ-क्रिया-कालपूर्वक ज्वर
↓
आगन्तुक विषम ज्वर —— **विषम ज्वर**

विषम ज्वर का वर्गीकरण[2]

ज्वर नाम	धात्वाश्रय[3]	ज्वर वेग
1. सन्तत[4] (Continuous/ Remittent fever)	रस	7 दिन (वातज) 10 दिन (पित्तज) 12 दिन (कफज) तक सतत चलने वाला ज्वर
2. सतत[5] (Double quotidian fever)	रक्त	रात दिन मिलाकर दो बार

---

1. दोषोऽल्पोऽहितसम्भूतो ज्वरोत्सृष्टस्य वा पुन:।। (माधव निदान 2/31)
धातुमन्यतमं प्राप्य करोति विषमज्वरम्। (सु. उ. 39/66)
2. सन्तत: सततोऽन्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकौ। (अ. हृ. नि. 2/57)
3. सन्ततं रसरक्तस्थ: सोऽन्येद्यु: पिशिताश्रित:।। (माधवनिदान 2/32)
मेदोगतस्तृतीयेऽह्नि, त्वस्थिमज्जागत: पुन:।
कुर्याच्चतुर्थकं घोरमन्तकं रोगसङ्करम्।। (सु. उ. 39/67)
4. सप्ताहं वा दशाहं व द्वादशाहमथापि वा।
सन्तत्या योऽविसर्गी स्यात् सन्तत: स निगद्यते।। (माधव निदान 2/34)
5. अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तते।

ज्वर नाम	धात्वाश्रय	ज्वर वेग
3. अन्येद्युष्क[1] (Quotidian fever)	मांस	रात-दिन मिलाकर एक बार आवेग
4. तृतीयक[2] (Tertian fever)	मेद	हर तीसरे दिन आवेग
5. चतुर्थक[3] (Quartan fever)	अस्थि, मज्जा	हर चौथे दिन ज्वर का आवेग

धातुगत ज्वरों के रूप

रस धातु ज्वर[4]—शरीरगौरव, दीनता, अंगशैथिल्य, उद्वेग, छर्दि, अरुचि, अंगमर्द।

रक्त धातुगत ज्वर[5]—शरीर पर लाल एवं उष्ण पिड़िकायें, तृष्णा, रक्तष्ठीवन, दाह, राग, भ्रम, प्रलाप।

मांस धातुगत ज्वर[6]—अन्तर्दाह, तृषा, मोह, ग्लानि, मलप्रवृत्ति, दौर्गन्ध्य।

मेद धातुगत ज्वर[7]—प्रस्वेद, अधिक प्यास, बार बार छर्दि होना, ग्लानि, अरुचि।

अस्थि धातुगत ज्वर[8]—विरेचन, वमन, अस्थि में भेदनवत् पीड़ा, अस्थि में कूजन, गात्रविक्षेप, श्वास।

मज्जा धातुगत ज्वर[9]—हिक्का, श्वास, कास, भ्रम, शरीरत्वक् शीत, अन्तदाह।

शुक्र धातुगत ज्वर[10]—शिश्नस्तब्धता, शुक्रस्राव, मृत्यु।

1. अन्येद्युष्कस्त्वहोरात्र एककालं प्रवर्तते।। (माधव निदान 2/35)
2. तृतीयकस्तृतीयेऽह्नि.......................।
3. चतुर्थेऽह्नि चतुर्थकः.......................। (सु. उ. 39/70-71)
4. गुरुता हृदयोत्क्लेशः सदनं छर्द्यरोचकौ।
   रसस्थे तु ज्वरे लिङ्गं दैन्यं चास्योपजायते।।
5. रक्तनिष्ठीवनं दाहः स्वेदश्छर्दन-विभ्रमौ।
   प्रलापः पिडका तृष्णा रक्तप्राप्ते ज्वरे नृणाम्।।
6. पिण्डिकोद्वेष्टनं तृष्णा सृष्टमूत्रपुरीषता।
   ऊष्माऽन्तर्दाहविक्षेपौ ग्लानिः स्यान्मांसगे ज्वरे।।
7. भृशं स्वेदस्तृषा मूर्च्छा प्रलापश्छर्दिरेव च।
   दौर्गन्ध्यारोचकौ ग्लानिर्मेदःस्थे चासहिष्णुता।।
8. भेदोऽस्थ्नां कूजनं श्वासौ विरेकश्छर्दिरेव च।
   विक्षेपणं च गात्राणामेतदस्थिगते ज्वरे।।
9. तमःप्रवेशनं हिक्का कासः शैत्यं वमिस्तथा।
   अन्तर्दाहः महाश्वासो मर्मच्छेदश्च मज्जगे।।
10. मरणं प्राप्नुयात् तत्र शुक्रस्थानगते ज्वरे।
   शेफसः स्तब्धता मोक्षः शुक्रस्य तु विशेषतः।। (सु. उ. 39/83-88)

ज्वर के उपद्रव

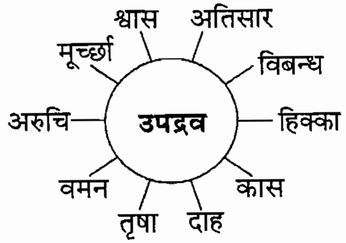

साध्य[1]-असाध्य[2] ज्वर

साध्य:
1. रोगी बलवान हो
2. ज्वर अल्प दोष वाला हो
3. उपद्रवरहित

असाध्य:
1. अनेक हेतुओं से उत्पन्न
2. अनेक लक्षणों से युक्त
3. तीव्र, गम्भीर धातुगत
4. श्वास-कासयुक्त ज्वर

ज्वरमोक्ष के पूर्वरूप[3]-रूप[4]

पूर्वरूप:
1. शरीर में दाह
2. स्वेद
3. भ्रम
4. तृषा
5. वमन
6. अतिसार
7. संज्ञानाश
8. मुख में से दुर्गन्ध

रूप:
1. स्वेद प्रवृत्ति
2. शरीर में लाघव
3. शिर में कण्डू
4. मुखपाक
5. छींक
6. भूख लगना

चिकित्सा सिद्धान्त

1. ज्वरजनक कारणों का परित्याग करना चाहिये।
2. ज्वर पित्तप्रधान व्याधि है, अतः पित्तह्रासकर तथा पित्तप्रसादन औषधों का प्रयोग करें।

1. बलवत्स्वल्पदोषेषु ज्वरः साध्योऽनुपद्रवः।। (च. चि. 3/50)
2. हेतुभिर्बहुभिर्जातो बलिभिर्बहुलक्षणः।। (माधव निदान 2/66)
   ज्वरः प्राणान्तकृद्यश्च शीघ्रमिन्द्रियनाशनः। (च. चि. 3/50)
3. दाहः स्वेदो भ्रमस्तृष्णा कम्प-विड्भिदसंज्ञता।
   कूजनं चास्यवैगन्ध्यमाकृतिर्ज्वरमोक्षणे।। (माधव निदान 2/74)
4. स्वेदो लघुत्वं शिरसः कण्डू पाको मुखस्य च।
   क्षवथुश्चान्नलिप्सा च ज्वरमुक्तस्य लक्षणम्।। (सु. उ. 39/322)

3. ज्वर के बढ़े हुए तापमान को कम करना प्रधान लक्ष्य मानें, क्योंकि सन्ताप ही ज्वर है।

4. दोष की प्रधानता के अनुसार चिकित्सा का निर्धारण करना चाहिये।

5. रोगी एवं रोग की स्थिति के अनुसार शोधन या शमन उपचार करे।

6. आम को निकालने के लिये वमन और पित्त को निकालने के लिये विरेचन कराना चाहिये।

7. ज्वर में दाह हो तो दाह प्रशमार्थ सहस्रधौत घृत तथा चन्दनादि तैल लगाना चाहिये।

8. वमन-विरेचन के बाद यवागुओं का प्रयोग करना चाहिये।

9. षडंगपानीय पिलाना चाहिये।

पथ्यापथ्य—

पथ्य—गोदुग्ध, जीर्णशालि, मूंग, द्राक्षा, दाड़िम।

अपथ्य—गुरु, असात्म्य, विदाही अन्न, व्यायाम, स्नान, चंक्रमण।

औषध-प्रयोग—

1. देह और धातु की पुष्टि के लिये बलकारक और बृहंण आहार द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये।

2. पित्तनाशक द्रव्यों से पकाये दूध, घृत तथा तिक्त एवं शीत द्रव्यों का प्रयोग।

3. विषमज्वर में पीने के लिये मण्ड के साथ मदिरा और खाने के लिये मुर्गी, तीतर, मोर का मांस।

4. षट्पल घृत का पान या हरड़ प्रयोग/त्रिफला क्वाथ का पान।

5. स्नेहन, स्वेदन के बाद ज्वर के वेग आ जाने पर युक्तिपूर्वक नील का पञ्चाङ्ग, अजमोदा, सफेद निशोथ और कुटकी के क्वाथ का पान करें।

योग—

1. सञ्जीवनी वटी	4. प्रवाल पिष्टी	7. ज्वरकेसरी रस
2. त्रिभुवनकीर्ति रस	5. मृगशृंग भस्म	
3. विषतिन्दुक वटी	6. मृत्युञ्जय रस	

व्यवस्था-पत्र—

1. गोदन्ती भस्म : 500 मि. ग्रा.
   जहरमोहरा पिष्टी : 250 मि. ग्रा.
   रसादि वटी : 250 मि. ग्रा.
   यह तीन-तीन घण्टे पर दिन में चार बार मधु के साथ।

2. त्रिभुवनकीर्ति रस : 125 मि. ग्रा.
   गोदन्ती भस्म : 500 मि. ग्रा.
   टंकण भस्म : 250 मि. ग्रा.
   अमृतासव : 500 मि. ग्रा.
   यह तीन-तीन घण्टे पर दिन में चार बार मधु के साथ।

2 रक्तपित्त

बिना किसी बाहरी आघात के शरीर के भीतरी कारणों से होने वाले रक्तस्राव को रक्तपित्त कहते हैं। इस रोग में दुष्ट पित्त से दूषित रक्त किसी भी मार्ग से बाहर निकलने लग जाता है। यह एक महारोग है। इसकी निरुक्ति के बारे में आचार्य सुश्रुत लिखते हैं—**रक्तञ्च पित्तञ्च इति रक्तपित्तम्।**

आचार्य चरक के अनुसार **संसर्गात् लोहितप्रदूषणात् लोहितगन्धवर्णानुविधानाच्च पित्तं लोहितपित्तं (रक्तपित्तं) इत्याचक्षते।** (च. नि. 2/5)

चरक के टीकाकार चक्रपाणि ने रक्तपित्त शब्द की 3 प्रकार की निरुक्ति दी है—

1. रक्तयुक्तं पित्तं रक्तपित्तं इति प्रथमा निरुक्तिः।
2. रक्ते दूष्ये पित्तम् इति द्वितीया।
3. रक्तवत् पित्तं रक्तपित्तम्, इति तृतीया निरुक्तिः।

(च. नि. 2/5 पर चक्रपणि)

आचार्य चरक ने रक्तपित्त चिकित्साध्याय में रक्तपित्त के नामकरण के बारे में कहा है कि—

संयोगाद् दूषणात्तत्तु सामान्याद् गन्धवर्णयोः।
रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तं मनीषिभिः।।

(च. चि. 9)

इसकी उत्पत्ति के (आदि उत्पत्ति) के विषय में चरक में कहा गया है कि प्राचीन काल में दक्ष प्रजापति के यज्ञ के नष्ट होने पर रुद्र के क्रोध और अमर्षरूपी अग्नि से सन्तप्त शरीर और प्राण वाले प्राणियों में ज्वर के बाद रक्तपित्त का प्रकोप हुआ।

इसके निदान में मुख्यत: पैत्तिक आहार-विहार (जैसे कि अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, तीक्ष्ण, क्षार पदार्थ तथा व्यायाम, आतप आदि) का अति सेवन तथा क्रोध, भय, शोक आदि का ज्यादा करना आता है। इस तरह निदानों से प्रकुपित पित्त व रक्त के कारण पित्त तथा रक्त में वृद्धि होती है, जिससे पित्त अपनी-अपनी उष्मा के द्वारा अन्य धातुओं से द्रवांश को रक्त में खींच लेता है, जिससे रक्त की वृद्धि हो जाती है। दूषित पित्त यकृतों से प्लीहा में पहुंच कर सभी रक्तवह स्रोतों को अवरुद्ध कर देता है, जिससे संसर्गपूर्वक विमार्गगमन होता है, जिससे रक्तवाहिनियाँ फटकर रक्तपित्त उत्पन्न करती हैं। जिस व्यक्ति में कफ की अधिकता हो, उसके शरीर में कफ

के संसर्ग से ऊपर जाता हुआ रक्तपित्त मुख, नासिका, नेत्र, कर्ण से निकलता है। जिसके शरीर में वात की अधिकता हो, उसमें वात के संसर्ग से नीचे जाकर वह मूत्रमार्ग, गुदा से निकलता है तथा कफाधिक-वातप्रधान शरीर में कफ-वात के संसर्ग से ऊपर-नीचे दोनों मार्गों से निकलता है। कभी-कभी वह रोमकूपों से भी निकलने लगता है। इसके पूर्वरूप में अरुचि, भोजनोत्तर कण्ठदाह, वमन, घृणायुक्त वमन, स्वरभेद, अङ्ग-शिथिलता, हाथ-पैर में जलन, मुख से लोहा या मछली की-सी गन्ध आना आदि प्रमुख हैं।

रक्तपित्त की पहचान के लिये इसकी सम्प्राप्ति, पूर्वरूप और लक्षण के अतिरिक्त रक्त की परीक्षा भी जरूरी है। रक्तपित्त के रक्त से मिले अन्न को यदि कुत्ते-कौवे को खाने को दें तो वे भी इसे नहीं खाते। रक्तरञ्जित वस्त्र सूखने पर धोने से दाग नहीं छूटता है।

जो रक्तपित्त एकदोषज, अल्पवेग, नवीन, उपद्रवरहित, ऊर्ध्वग हो, वह साध्य होता है। इसमें विरेचन को सर्वश्रेष्ठौषध व प्रधान उपचार बताया गया है। रक्तपित्त की चिकित्सा में विपरीत मार्ग से दोषहरण का सिद्धान्त अपनाने का निर्देश है। ऊर्ध्वग रक्तपित्त में अधोग विरेचन ही श्रेष्ठ है।

जो रक्तपित्त द्विदोषज, मध्यमवेग, अल्प उपद्रवयुक्त, अल्प बल रोगी में तथा अधोग हो, वह याप्य होता है। इसमें अगर ऊर्ध्वग 'वमन' कराया जाय, तो वह केवल वेगमार्ग का ही विरोधी होगा और वमन से न वात का और न ही पित्त का शमन होगा; अपितु इससे दोनों के बढ़ने की सम्भावना होगी। इसमें पित्तशामक रसों में से केवल मधुर रस ही वात को शान्त करता है। अत: सीमित औषधों व प्रतिमार्गहरण उपचार की अनुपयोगिता के कारण यह याप्य है।

जो रक्तपित्त त्रिदोषज, अतिवेगयुक्त, उपद्रव वाला, क्षीण शरीरी में, अनशनकारी, रक्तवमनकर्ता आदि में तथा उभयमार्गी तथा रोमकूपप्रवृत्त रक्त हो, वह असाध्य होता है। इसमें प्रतिमार्गहरण का सिद्धान्त चरितार्थ नहीं होता, क्योंकि यदि वमन या विरेचन कराया जाए तो इन दोनों ही हालातों में रक्तस्राव की सम्भावना होने से मृत्यु का संशय है। दूसरी बात यह है कि उभयमार्गी होने से इसकी चिकित्सा नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें सभी दोषों को जीतने वाली औषध देना उचित है और विरुद्ध मार्ग वाली रक्तपित्तोपयोगी औषध है। अत: यह रक्तपित्त असाध्य होता है।

प्रमुख सन्दर्भ—

1. चरकसंहिता, निदान स्थान, अध्याय-2
2. चरकसंहिता, चिकित्सा स्थान, अध्याय-4
3. सुश्रुतसंहिता, उत्तर तन्त्र, अध्याय-45
4. अष्टाङ्गहृदय, निदान स्थान, अध्याय-3
5. अष्टाङ्गहृदय, चिकित्सा स्थान, अध्याय-2
6. माधवनिदान, अध्याय 9

निरुक्ति[1]—**रक्तं च तत् पित्तं रक्तपित्तम्।**[2]

NIDAN
पैत्तिक आहार—तीक्ष्ण, उष्ण, क्षार, अम्ल, लवण आदि का अति सेवन।
विहार—आतप, व्यायाम, अतिव्यवाय आदि।
मानसिक हेतु—शोक आदि।

→सम्प्राप्ति[3,4] पित्तप्रकोप → प्रकुपित पित्त के अपने ही गुणों द्वारा
↓ ↓
'रक्तं च तत् पित्तं रक्तपित्तम्' ——— रक्तदुष्टि
↓
दुष्टि पित्त से दूषित रक्तस्राव → ऊर्ध्वगामी → पित्त + कफ
अधोगामी → वात + पित्त
उभयगामी → कफ + पित्त + वात
↓
रक्तपित्त

पूर्वरूप[5]—शरीरावयव-शिथिलता
—शीत पदार्थ-सेवन की इच्छा
—उल्टी होना
—श्वास में लोह-सी गन्ध आना
—गले से धुँआ सा उठने का आभास

वातज[6]—1. श्याव वर्णमिश्रित रक्तवर्ण, 2. झागदार, 3. पतला, 4. रूक्ष-युक्त रक्तस्राव।

पित्तज[7]—1. क्वाथ के रंग जैसा, 2. काले रंग का, 3. गोमूत्र के रंग का, 4. चिकना काला, 5. सुरमा, 6. गृहधूम के सदृश रक्तस्राव।

कफज[8]—1. गाढ़ा, 2. पाण्डु वर्ण, 3. स्नेहयुक्त, 4. पिच्छिल रक्तस्राव।

1. संयोगाद् दूषणात्तु सामान्याद् गन्धवर्णयोः।
रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तं मनीषिभिः।। (च. चि. 4/8)
2. घर्म-व्यायाम शोकाध्व-व्यवायैरतिसेवितैः।
तीक्ष्णोष्ण-क्षार-लवणैरम्लैः कटुभिरेव च।। (मा. नि. 9/1)
3. पित्तं विदग्धं स्वगुणैर्विदहत्याशु शोणितम्।
ततः प्रवर्तते रक्तमूर्ध्वं चाधो द्विधाऽपि वा।। (सु. उ. 45/4)
4. ऊर्ध्वं नासाक्षि-कर्णास्यैर्मेढ्र-योनि-गुदैरधः।
कुपितं रोमकूपैश्च समस्तैस्तत् प्रवर्तते।। (अ. हृ. नि. 3/7)
5. सदनं शीतकामित्वं कण्ठधूमायनं वमिः।
लोहगन्धिश्च निःश्वासो भवत्यस्मिन् भविष्यति।। (सु. उ. 45/7)
6. श्यावारुणं सफेनं च तनु रूक्षं च वातिकम्। (च. चि. 4/11)
7. रक्तं पित्तं कषायाभं कृष्णं गोमूत्रसन्निभम्।
मेचकागारधूमाभमञ्जनाभं च पैत्तिकम्।। (च. चि. 4/12)
8. सान्द्रं सपाण्डु सस्नेहं पिच्छिलं च कफान्वितम्। (च. चि. 4/10)

द्वन्द्वज—1. वात-पित्त, 2. पित्त-कफ, 3. कफ-वात के सम्मिलित लक्षण।
सन्निपातज—प्रकृतिसम-समवाय आरब्ध लक्षण।

उपद्रव[1]—

1. दौर्बल्य	7. पाण्डुता	13. अरुचि
2. कास	8. दाह	14. शिर में ताप की अधिकता
3. श्वास	9. मूर्च्छा	15. हृदय में असह्य पीड़ा
4. ज्वर	10. अधृति	16. भोजन का न पचना
5. वमन	11. प्यास का अति लगना	17. दुर्गन्धियुक्त थूक आना
6. मद	12. अतिसार	

साध्यासाध्यता—

साध्य	याप्य	असाध्य
ऊर्ध्वरक्तपित्त	अधोग रक्तपित्त	उभयमार्गी रक्तपित्त
एकदोषज	द्विदोषज	त्रिदोषज
बलवान रोगी	अल्पबल रोगी	हीनबल रोगी
अल्पवेग रोगी, नवीन रोग	मध्यवेग	अतिवेगयुक्त
उपद्रवरहित	अनवीन रोगी	उपद्रवयुक्त
हेमन्त, शिशिर में उत्पन्न	अल्प उपद्रव	अनशनकारी रोगी
	शीतभिन्न ऋतुज	अतिमात्रा प्रवृत्त रक्त

चिकित्सा-सूत्र

1. इसमें सबसे पहले रोगमार्ग के विपरीत मार्ग से दोषहरण का सिद्धान्त अपनाने का निर्देश है—**प्रतिमार्गं च हरणं रक्तपित्ते विधीयते** अर्थात् ऊर्ध्वग रक्तपित्त में अधोग मार्ग/विरेचन तथा अधोग रक्तपित्त में ऊर्ध्वग वमन कराने का निर्देश है।

2. देश-दोष-काल-प्रकृति आदि का विचार करके सन्तर्पण चिकित्सा करें।

3. मधुर-तिक्त-कषाय प्रधान रुचिकर गन्ध-वर्ण-रसयुक्त मृदु आहार दें।

4. शीतल द्रव्यों से अभ्यंग, शीत जलावगाहन, शीतल गृहशयन, स्नान आदि की व्यवस्था करें।

5. बलवान तथा भोजन करने वाले रोगी के बढ़े हुए रक्तपित्त के रक्तस्राव को ग्राही औषधों से पहले ही स्तम्भन न करें।

1. दौर्बल्य-कास-श्वास-ज्वर-वमथु-मदाः तन्द्रिता-दाह-मूर्च्छा
भुक्ते चान्ने विदाहस्त्वधृतिरपि सदा हृद्यतुल्या च पीडा।
तृष्णा कण्ठस्य भेदः शिरसि च दवनं पूतिनिष्ठीवनञ्च।
द्वेषो भक्तेऽविपाको विरतिरपि रते रक्तपित्तोपसर्गाः।। (सु. उ. 45/9)

6. बल, मांस, अग्नि जिनकी क्षीण न हो, दोष बढ़े हों, उनका अपतर्पण करें।

7. बल-मांसादि से क्षीण रोगी का संशमनोपचार करें।

8. बलवान बहुदोष रोगी के अधोग रक्तपित्त को वमन कराकर तथा ऊर्ध्वग रक्तपित्त को विरेचन करा कर शोधन करें।

9. जो भी आहार-विहार हो, रक्तपित्तनाशक हो।

10. बालक, वृद्ध, शोष रोगी तथा वमन-विरेचन के अयोग्य रोगी के प्रवृत्त रक्तस्राव को स्तम्भन औषधों से शीघ्र रोकना चाहिये।

11. सामान्यत: आम के कारण रक्त तथा पित्त उत्क्लिष्ट होते हैं, अत: आमपाचनार्थ सर्वप्रथम रोगी के बलाबल, दोषानुसार लंघन करावें।

संशोधन चिकित्सा

तर्पण—

1. ऊर्ध्व रक्तपित्त रोगी को धान के लावा का सत्तू घोलकर घी-चीनी मिलाकर समय-समय पर पिलायें।

पेयजल—

2. हाऊबेर, रक्तचन्दन, खस, मोथा, पर्पटचूर्ण 25 ग्रा. डाल कर, 2 ली. जल में पकावें, आधा बचने पर ठण्ढ़ा कर पीने को दें।

रेचन—

3. अमलतास गुद्दी, आंवला, निशोथ 20-20 ग्रा. लेकर, 1/2 ली. जल में क्वाथ बना कर, उसमें मधु, चीनी मिलाकर पिलायें।

फलरस—

4. मोसम्मी, अंगूर, सेव, मीठा अनार का रस तथा ग्लूकोज़ का घोल दें।

अरुचि में—

5. फलरसों या तर्पणयोगों को खट्टा अनारदाना चूर्ण या आमलक चूर्ण मिलाकर दें अथवा 1 ग्रा. यवानीषाडव चूर्ण दें।

पेया—

6. अधोग रक्तपित्त में पेया, विलेपी या मण्ड पिलायें।

वमन—

7. पेया खिचड़ी 2 से 4 भोजन वेला में देने के अनन्तर जब वमन कराना हो तो पहले गन्ने का रस पिलाकर मदनफल 6 ग्रा., मुलेठी 3 ग्रा. चूर्ण करके मधु से चटायें।

संशमन चिकित्सा

1. थोड़ा-थोड़ा बर्फ चूसने को दें। पूर्ण विश्राम करावें।

शमन—

2. अरूस के पत्ते को पुटपाक विधि से पकाकर उसका रस निचोड़ कर मधु व चीनी मिलाकर पिलावें।

निर्सगोपचार—

3. रोगी को चित्त लिटाकर शिर पर शीतल जल की पट्टी रखें।

4. पृष्ठप्रदेश की कशेरुकाओं पर गर्म जल से सेक करने पर मस्तिष्क में से रक्त शीघ्र ही नीचे की ओर आकृष्ट हो जाता है।

रक्तरोधक योग—

5. पके गूलर, गम्भारी फल, हरड़, मुन्नका पीसकर खिलावें।

6. खदिर, प्रियंगु, रक्त कचनार पुष्पचूर्ण मधु से दें।

7. वासादि क्वाथ, आटरूषकादिक्वाथ, ह्रीबेरादि क्वाथ आदि का प्रयोग करावें।

8. रक्त चन्दन, लोध्र, मुलेठी चूर्ण में मधु मिलाकर दिन में 3 बार दें।

सिद्ध योग—

1. उशीरादि चूर्ण	7. शुक्तिभस्म
2. एलादि वटी	8. स्वर्णमाक्षिक भस्म
3. उशीरासव	9. शतावरी घृत
4. सुधा-निधि रस	10. रसामृत रस
5. चन्द्रकला रस	11. वासावलेह
6. मुक्तापिष्टी	

व्यवस्था पत्र—

ऊर्ध्वग रक्तपित्त में—

1. 3-3 घण्टे पर—

रक्तपित्तकुलकण्डन	: 500 मि. ग्रा.
बोल पर्पटी	: 1 ग्रा.
लाक्षा चूर्ण	: 4 ग्रा.
प्रवाल पिष्टी	: 500 मि. ग्रा.
शु. स्वर्णगैरिक	: 2 ग्रा.
तृणकान्त पिष्टी	: 500 मि. ग्रा.

1×4 दूब के रस/मधु से।

2. प्रात:-सायं

कुष्माण्ड खण्ड : 20-25 ग्रा.
अथवा
नारिकेल खण्ड : 20-25 ग्रा.
1×1 बकरी/गाय का दूध/शीत जल से

3. भोजनोत्तर

उशीरासव : 40 मि. ग्रा.
1+2 समान जल से

4. एलादि वटी : 3 ग्रा. प्रतिदिन चूसना

अधोग रक्तपित्त में—

1. 3-3 घण्टे पर

कामदुघा रस	: 500 मि. ग्रा.
स्वर्णमाक्षिक भस्म	: 500 मि. ग्रा.
बोल पर्पटी	: 1 ग्रा.
शु. स्वर्णगैरिक	: 1 ग्रा.
लाक्षा चूर्ण	: 2 ग्रा.
मोचरस	: 4 ग्रा.

1×4 रसौंत 1 ग्रा. तथा मधु से

2. भोजनोत्तर

लोध्रासव : 40 मि. ली.
1×2 समान जल से

3. प्रात: सायं

उशीरादि चूर्ण : 4 ग्रा.
1×2 मधु से

3 पाण्डु रोग

पाण्डुत्वेनोपलक्षितो रोग: पाण्डुरोग: अर्थात् जिस रोग में त्वचा, नख, नयन, आदि के स्वाभाविक वर्ण के विपरीत उनमें पाण्डु वर्ण दृष्टिगोचर हो, उसे पाण्डु रोग कहते हैं। स्वाभाविक वर्ण के विपरीत पाण्डु वर्ण होना और इन्द्रियशैथिल्य पाण्डु रोग का प्रत्यात्म लक्षण है। रक्त वर्ण की कमी से यह स्वाभाविक है, अत: रक्तकणों की विकृति का इससे साक्षात् सम्बन्ध है। किन्हीं विशेष कारणों से रक्तकणों का विनाश उनकी उत्पत्ति से अधिक हो या रक्तकणों का निर्माण अस्वाभाविक होकर आकार में बड़ा या छोटा हो तो भी वह अपने नियत कर्म प्राणवायु के वहन को ठीक से नहीं कर पाते; अत: पाण्डु रोग की उत्पत्ति होती है। यह रक्तवह स्रोतस् की व्याधि है। इसमें रक्तविकृति प्रधान है और यह पित्तप्रधान रोग है। पाण्डु रोग के कारणों में 'मृतिका-भक्षण' और 'कृमिकोष्ठता' का वर्णन अत्यन्त वैज्ञानिक है। पाण्डु का शोथ और अतिसार जैसे लक्षणों से सम्बन्ध भी महत्त्वपूर्ण है। कामला को भी पाण्डु का उपद्रव माना गया है। पाण्डु को चिरकारी और कृच्छ्रसाध्य माना गया है। पाण्डु रोग के पाँच भेद माने गये हैं—वातज, पित्तज, कफज, त्रिदोषज, मृतिका-भक्षणजन्य पाण्डु। निदान सेवन से पित्तप्रधान वात दोष प्रकुपित होता है, वायु द्वारा समस्त देह में पित्त फैलता है और कफ, वात रक्तादि को दूषित कर रक्ताल्पता से त्वचा में विवर्णता होकर पाण्डु रोग उत्पन्न होता है। मृत्तिका-भक्षणजन्य पाण्डु में निदानों से त्रिदोष प्रकोप होकर स्रोतोवरोध होता है, जिससे अग्निमांद्य हो धातुपोषण में कमी होकर पाण्डु रोग की उत्पत्ति होती है। पाण्डु रोग की चिकित्सा के लिऐ संशोधन में पहले स्नेहन, फिर वमन-विरेचन करवाना चाहिये। फिर संशमन दोषानुसार देना चाहिये, फिर औषधसिद्ध घृत का सेवन करवाकर लघुपञ्चमूल सिद्ध जल का सेवन करवाना चाहिये। यदि पाण्डु रोग की सही समय पर चिकित्सा न हो तो शरीर का वर्ण श्वेत हो जाने पर, चेहरा शोफयुक्त, तीव्र अतिसार, ज्वरयुक्त पाण्डु आदि लक्षण उत्पन्न होने पर यह रोग असाध्य हो जाता है।

प्रमुख सन्दर्भ

1. च. चि. 16
2. सु. उ. 44
3. वा. चि. 13
4. मा. नि. 8

निदान[1]—

मृत्तिकाभक्षण और

आहारज—क्षार, अम्ल लवण, उष्ण, विरुद्ध, असात्म्य, सेम, उड़द, तिल की खली, तिल-तैल, मद्य, मिट्टी खाना।

विहारज—व्यायाम, अधिक मैथुन, ऋतुवैषम्य, मल-मूत्रादि वेग-धारण, शोधन चिकित्सा का व्यतिक्रम होना।

मानस भाव—कामवासना, चिन्ता, भय, शोकादि।

सम्प्राप्ति चक्र[2]—क्षार अम्ल लवण आदि निदान → पित्तप्रधान वातादि दोष-प्रकोप → वायु द्वारा समस्त देह में पित्त का प्रसर → कफ वात रक्तादि दूषण → रक्ताल्पता → त्वचा की विवर्णता → **पाण्डु रोग।**

लक्षण—

वातज[3]—1. त्वचा, नेत्र, नख, मुख, मल, मूत्र का रूक्ष, कृष्ण अरुण वर्ण होना, 2. शरीर में सूचीवेधनवत् पीड़ा, कम्पन, दाह, आनाह, भ्रम, शूलादि।

पित्तज[4]—1. मल-मूत्र का पीलापन, 2. दाह, ज्वर, तृषा, 3. शरीर का वर्ण पीला, 4. अम्लपित्त जैसा कड़वा स्वाद, खट्टी डकार व अन्न का विदाह होना।

कफज[5]—1. मुख से कफ का स्राव, तन्द्रा, आलस्य, शरीर में भारीपन, 2. शोथ, 3. त्वचा, मल, मूत्र, नेत्र का श्वेत वर्ण होना।

---

1. व्यायाममम्लं लवणानि मद्यं मृदं दिवास्वप्नमतीव तीक्ष्णम्।
   निषेवमाणस्य प्रदूष्य रक्तं दोषास्त्वचं पाण्डुरतां नयन्ति।। (सु. उ. 44/3)
2. समुदीर्णं यथा पित्तं हृदये समवस्थितम्।
   वायुना बलिना क्षिप्तं स्रोतोभिर्दशभिः सृतम्।।
   प्रपन्नं केवलं देहं त्वङ्मासान्तरमाश्रितम्।
   प्रदूष्य कफवातासृक्त्वङ्मांसानि करोति तत्।।
   पाण्डुहारिद्रहरितान् वर्णान् बहुविधांस्त्वचि।। (च. चि. 16/9-11)
3. त्वङ्मूत्रनयनादीनां रूक्षकृष्णारुणाभताः।
   वातपाण्ड्वामये तोदकम्पानाहभ्रमादयः।। (मा. नि. 8/4)
   अङ्गमर्दं रुजं तोदं कम्पं पार्श्वशिरोरुजम्।
   वर्चःशोषास्यवैरस्यशोफानाहबलक्षयान्।। (च. चि. 16/18)
4. पीतमूत्रशकृन्नेत्रो दाहतृष्णाज्वरान्वितः।
   भिन्नविट्कोऽतिपीताभः पित्तपाण्ड्वामयो नरः।। (मा. नि. 8/5)
5. कफप्रसेकश्वयथुतन्द्रालस्यातिगौरवैः।
   पाण्डुरोगी कफाच्छुक्लैस्त्वङ्मूत्रनयनाननैः।। (मा. नि. 8/6)

त्रिदोषज[1]—1. ज्वर, 2. अरुचि, 3. वमन, 4. प्यास, 5. क्लम।

मृद्‌भक्षण—1. शोष, 2. उदर में कृमि, 3. रक्त व कफमिश्रित मल का पतला होना, 4. बल, वर्ण, अग्नि का नाश।

मृत्तिका-भक्षणजन्य पाण्डु[2]—

1. मृत्तिकाभक्षण	= कषाय मिट्टी	=	वातप्रकोप
	क्षार मिट्टी	=	पित्तप्रकोप
	मधुर मिट्टी	=	कफप्रकोप
2. अत्यधिक व्यायाम	= वातप्रकोप		
3. अत्यधिक अम्ल, लवण, तीक्ष्ण पदार्थ मद्य सेवन	= पित्तप्रकोप		
4. अत्यधिक मधुर, गुरु पदार्थ सेवन	= कफप्रकोप		

उदर में कृमि

त्रिदोष प्रकोप → स्रोतोवरोध → अग्निमान्द्य → भोजन के पाचन और शोषण का अभाव → 1. रस की कमी, 2. धातुक्षय, 3. ओजक्षय → **पाण्डु।**

चिकित्सा-सूत्र (मृत्तिका भक्षणजन्य पाण्डु)

1. निदानों का परित्याग।
2. स्नेहन करके तीक्ष्णौषध से विरेचन कराकर पथ्याहार-सेवन।
3. दोषविशेषानुसार औषध एवं आहार।
4. रोगी के बलाबल का विचार कर तीक्ष्ण विरेचन देकर शरीर से मृत्तिका को निकालकर वमन करावें।

---

1. ज्वरारोचकहृल्लासच्छर्दितृष्णाक्लमान्वितः।
   पाण्डुरोगी त्रिभिर्दोषैस्त्याज्यः क्षीणो हतेन्द्रियः।। (मा. नि. 8/7)
2. मृत्तिकादनशीलस्य कुप्यत्यन्यतमो मलः।
   कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम्।।
   कोपयेन्मृद्रसादींश्च रौक्ष्याद्भुक्तं विरूक्षयेत्।
   पूरयत्यविपक्वैव स्रोतांसि निरुणद्धि च।।
   इन्द्रियाणां बलं हत्वा तेजो वीर्यौजसी तथा।
   पाण्डुरोगं करोत्याशु बलवर्णाग्निनाशनम्।। (च. चि. 16/27-29)

चिकित्सा—

1. इस रोगी में स्नेह का क्षय हो जाता है; अत: रूक्षता अधिक होती है। अत: पञ्चतिक्त घृत, पञ्चगव्य घृत आदि 25-30 मि. ली. दिन में 3 बार दूध से दें।

2. शोधनोपरान्त पुराना चावल, जौ, गेहूँ, मसूर, जांगल मांसरस-सेवन।

3. हरीतकी-चूर्ण : 3 ग्रा.
   गोमूत्र : 100 मि. ली.
   1×2

4. मुलहठी चूर्ण : 2 ग्रा. = 1×3 (मधु से)

सिद्ध योग—

5. तीक्ष्ण विरेचन (इच्छाभेदी रस-500 मि. ग्रा. शर्बत से) तथा मृत्तिका-भक्षण का निषेध करें।

6. हरीतकी चूर्ण : 3 ग्रा. गोमूत्र से दें।

7. धात्र्यवलेह व द्राक्षावलेह : 10-10 ग्रा. = 1×2

8. शिलाजीत वटक : ग्रा. = 1×2 (गोदुग्ध से)।

व्यवस्था पत्र—

1. कृमिमुद्गर रस : 1/2 ग्रा.
   विडङ्गादि लौह : 1 ग्रा.
   नवायस लौह : 1 ग्रा.
   1×3 (विडङ्ग, पलाशबीज चूर्ण—3-3 ग्रा. तथा मधु से)

2. भोजनोत्तर—लोहासव : 50 मि. ली. = 1×2 (समान जल से)

चिकित्सा सूत्र (अन्य पाण्डुरोगों में)

1. पाण्डु के सभी निदानों का त्याग।
2. स्नेहन करके तीक्ष्ण द्रव्यों के प्रयोग से विरेचन करके पथ्य व्यवस्था करें।
3. दोषविशेषानुसार औषध एवं आहार।
4. वातज पाण्डु में स्नेहप्रधान औषध।
   पित्तज पाण्डु में तिक्त एवं शीत वीर्य औषध।
   कफज पाण्डु में कटु-तिक्त एवं उष्णवीर्य औषध।
   सन्निपातज पाण्डु में मिश्रित द्रव्य प्रयोग।
5. औषध-सिद्ध घृत का सेवन।
6. लघुपञ्चमूल से सिद्ध जल का प्रयोग।

चिकित्सा[1]**—**

1. रूक्षता दूर करने के लिये पञ्चतिक्त घृत, पञ्चगव्य घृत, कल्याणक घृत, दाड़िमादि घृत, कटुकादि घृत, हरिद्राघृत, जो भी हो उसके 25-30 मि. ली. दिन में 3 बार दूध में पिलायें।

2. स्नेहनोपरान्त वातिक पाण्डु में 500 मि. ली. दूध, 1000 मि. ली. गोमूत्र मिलाकर विरेचनार्थ पिलावे।

- पित्तज पाण्डु में निशोथ चूर्ण—4-4 ग्रा. + चीनी।
- कफज पाण्डु में—हरीतकी चूर्ण 5 ग्रा. + समान चीनी।

3. शोधनोपरान्त पुराना चावल, जौ, गेहूँ, मूँग, मसूर पथ्य में दे।
4. हरीतकी चूर्ण 3 ग्रा. + 100 मि. ली. गोमूत्र में दिन में दो बार।
5. पिप्पली चूर्ण 2 ग्रा. + मधु दिन में 3 बार।

सिद्ध योग—

1. योगराज रस : 300 मि. ग्रा. = 1×3 (मधु से)
2. फलत्रिकादि क्वाथ : 20 मि. ली. = 1×2 (मधु से)
3. धात्री लौह : 500 मि. ग्रा. = 1×2 (मधु से)
4. शिलाजतु वटक : 500 मि. ग्रा. = 1×2 (गोदुग्ध से)
5. पुनर्नवा मण्डूर : 500 मि. ग्रा.
   मधु : 5 ग्रा.
   घी : 10 ग्रा.
   1×2

व्यवस्था-पत्र—

वातज पाण्डु में—

1. योगराज : 1-1/2 ग्रा. = 1×3 (गोघृत—5 ग्रा. एवं मधु—10 ग्रा. से)
2. कुमार्यासव : 40 मि. ली. = 1×2 (भोजनोत्तर समान जल से)

वातज पाण्डु में—

1. धात्री लौह : 1-1/2 ग्रा. = 1×3 (धात्र्यवलेह 20 ग्रा. से)
2. द्राक्षासव : 40 मि. ली. = 1×2 (भोजनोत्तर जल से)

कफज पाण्डु में—

1. पुनर्नवासव : 5 मि. ली. = 1×2 (समान जल से)
2. आरोग्यवर्धिनी वटी : 1 ग्रा. = 1×1 (जल से सोते समय)

---

1. तत्र पाण्ड्वामयी स्निग्धैस्तीक्ष्णैरूर्ध्वानुलोमिकैः।
संशोध्यो मृदुभिस्तिक्तैः कामली तु विरेचनैः।। (च. चि. 16/40)

4

कामला

जिस रोग में मनुष्य का शरीर भेक वर्णसदृश या कदली पुष्पसदृश वर्ण हो जाता है, उसे कामला रोग कहते हैं। कामला शुद्ध पैत्तिक रोग है। इसमें पाण्डु के समान रक्त की दुष्टि प्रधान रूप से होती है और लक्षणों की प्रतीति प्रधान रूप से त्वचा में होती है। इसलिये चरक ने पाण्डु रोग की प्रवर्धमानावस्था को कामला माना है। हारीत ने भी कामला और हलीमक को पाण्डु का ही रूपविशेष माना है। सुश्रुतसंहिता में कामला को पाण्डु के अतिरिक्त अन्य रोगों का भी उपद्रव माना गया है। परतन्त्र एवं स्वतन्त्र भेद से कामला दो प्रकार का होता है। पाण्डु के बाद होने वाला कामला परतन्त्र कामला कहलाता है। आश्रयभेद से कामला दो प्रकार का होता है। कोष्ठाश्रित कामला तथा शाखाश्रित कामला। पाण्डु रोगी के अत्यधिक पित्तल पदार्थ सेवन से कामला रोग की उत्पत्ति हो सकती है। कामला रोगी के नेत्र, त्वक्, मुख, नख हारिद्र वर्ण के होते हैं। उसे मल-मूत्र रक्तपित्त वर्ण का आता है। कामला में रक्त एवं मांस पित्त द्वारा दूषित होते हैं। कुम्भकामला, हलीमक, पानकी—यह सब कामला की उत्तरोत्तर अवस्थायें हैं। आधुनिक दृष्टि से यह Jaundice है।

कामला का वर्णन—

1. चरक, चिकित्सा स्थान—16
2. सुश्रुत, उत्तर तन्त्र—44
3. अष्टाङ्गहृदय, निदान—13
4. अष्टाङ्गहृदय, चिकित्सा—16
5. माधवनिदान (पाण्ड्वादि रोगनिदान) में मिलता है।

निदान—

1. अति स्त्री-सम्भोग
2. अम्ल-लवण का अधिक सेवन
3. मद्य प्रयोग
4. मिट्टी खाना
5. दिवाशयन
6. तीक्ष्ण पदार्थ का प्रयोग
7. विरुद्ध आहार
8. वेगावरोध

9. पाण्डु रोगी का पित्तवर्धक आहार खाना

सम्प्राप्ति[1]—

पाण्डु रोगी → अत्यधिक पित्तल पदार्थ सेवन → पित्त का और अधिक दूषण → रक्त, रस, मांस का अत्यधिक दूषण → कामला रोग।

सम्प्राप्ति घटक—

दोष : पित्त
दूष्य : शाखा
अधिष्ठान : कोष्ठ (महास्रोतस्)
शाखा (रक्तादि धातु + त्वचा)

लक्षण[2]—

1. हारिद्र वर्ण नेत्र, त्वक्, मुख, नख।
2. रक्त-पीत वर्ण मल-मूत्र।
3. भेक वर्ण।
4. हतेन्द्रिय।
5. दाह, अविपाक, दौर्बल्य, सदन, अरुचि, कर्षण।

शाखाश्रित कामला

निदान—

1. रूक्ष, शीत, गुरु तथा मधुर आहारों का सेवन।
2. व्यायाम न करना।
3. वेगावरोध।

सम्प्राप्ति—

(a) पित्तवर्धक पदार्थों के सेवन से → प्रवृद्धपित्त → मार्गकफ से आवृत → प्राकृतिक आशय में न आकर → शाखागत → पित्त पुनः कोष्ठ में नहीं आता → **शाखाश्रित कामला।**

(b) पित्त यकृत् या धमनी पित्ताश्मरी या गण्डूपद कृमी → Intra-luminal obstruction → पित्तनलिका बन्द → **शाखाश्रित कामला** → पित्तरञ्जक द्रव्य यकृत् में बढ़ गया → अभिव्यक्ति सर्वप्रथम आंखों की कला में → मुख कला में → नासिका

1. पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते।
तस्य पित्तमसृङ्मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते। (च. चि. 16/34)
2. हारिद्रनेत्रः स भृशं हारिद्रत्वङ्नखाननः।
रक्तपीतशकृन्मूत्रो भेकवर्णो हतेन्द्रियः।। (च. चि. 16/35)

तथा मसूड़ों में रक्तस्राव की प्रवृत्ति → त्वचा → तिलपिष्ट मल-मूत्र रक्तमिश्रित → **सर्वशरीर।**

(c) जन्म से ही पित्तनलिका में विकृति → Intra-luminal obstruction → पित्तनलिका बन्द → शाखाश्रित कामला।

(d) किसी अर्बुद द्वारा दबाव पड़ने पर → Extra-luminal obstruction → पित्तनलिका बन्द।

लक्षण—

1. नेत्र, मुख, मूत्र, त्वचा हारिद्र वर्ण
2. पुरीष में श्वेत वर्ण
3. आटोप
4. हृदय प्रदेश में पीड़ा
5. दुर्बलता
6. मन्दाग्नि
7. पार्श्वशूल
8. हिक्का
9. श्वास
10. अरुचि
11. ज्वर

कोष्ठशाखाश्रित कामला

- अति स्त्रीसम्भोग
- अम्ल-लवण का अधिक सेवन
- मद्य प्रयोग
- दिवाशयन
- तीक्ष्ण पदार्थ का प्रयोग
- विरुद्धाहार
- असात्म्य सेवन
- वेगावरोध
- पाण्डु रोगी का पित्तवर्धक आहार खाना

सम्प्राप्ति—

निदान → पित्तज प्रधान त्रिदोष प्रकोप → रक्तकणनाश → मलभूत पित्त का निर्माण → Malaria, kala-azar haemolytic disorders → Auto-antibodies → mechanical trauma → Excessive haemolysis → Increased formationof stercobilinogen & urobilinogen.

↓

पित्त का कोष्ठ एवं शाखा में गमन

→ शाखा में गमन Due to increased load of bilirubin than normal → Accumulation of unconjugated bilirubin in the plasma.

→ कोष्ठ में गमन → Increased seceration of stercobilinogen.

लक्षण—

1. नेत्र, मूत्र, नख, त्वचा, मुख हारिद्र वर्ण
2. मूत्र एवं पुरीष का रक्तमिश्रित पीत वर्ण
3. दाह[1]
4. अपचन
5. दुर्बलता
6. थकावट
7. अरुचि
8. इन्द्रियशक्ति का क्षीण होना

कुम्भकामला[2]

जब चिकित्सा में उपेक्षा करने से शरीर में रूक्षता आ जाती है, तब शरीर के विभिन्न अवयवों में शोथ उत्पन्न हो जाता है। सन्धियों में भेदन करने की-सी पीड़ा होती है। इसे कुम्भकामला कहते हैं। इसमें रोगी के पुरीष-मूत्र का रंग कृष्ण-पीत वर्ण का होता है।

निदान—

1. अति स्त्रीसम्भोग
2. अम्ल-लवण का अधिक सेवन
3. मद्य प्रयोग
4. मिट्टी खाना
5. दिवाशयन
6. तीक्ष्ण पदार्थ का प्रयोग
7. विरुद्ध आहार
8. असात्म्य सेवन
9. वेगावरोध
10. पाण्डु रोगी का पित्तवर्धक आहार खाना

सम्प्राप्ति—

कामला के पुराना होने से → मांस धातु का पित्त के द्वारा दूषित होना → शरीरावयवों में शोथ → सन्धिपीड़ा → **कुम्भकामला।**

1. दाहाविपाक-दौर्बल्य-सदनारुचिकर्षितः।
कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रया मता। (च. चि. 16/36)
2. कालान्तरात् खरीभूता कृच्छ्रा स्यात् कुम्भकामला।
कृष्णपीतशकृन्मूत्रो भृशं शूनश्च मानवः।। (च. चि. 16/37)

लक्षण[1] - असाध्य

- छर्दि (वमन)
- अरोचक
- हल्लास
- ज्वर
- क्लम
- विड्भेद (अतिसार)
- श्वास कास

हलीमक (Chronic Obstructive Jaundice)

लक्षण[2]—

जब पाण्डु रोगी का वर्ण हरा, श्याव, पीला हो जाय, बल-उत्साह का नाश हो जाय, तन्द्रा, आलस्य, अरुचि, मन्दाग्नि, मन्द-मन्द ज्वर, मैथुन में असमर्थता, अङ्गमर्द, श्वास, तृष्णा, भ्रम उत्पन्न हो जाय → **हलीमक।**

रोग उत्पत्ति—वात तथा पित्त की प्रधानता से।

सम्प्राप्ति—कुम्भकामला के रोगी द्वारा मिथ्या आहार-विहार से → वात-पित्त प्रकोप → शरीर, नख, नेत्र, त्वचादि का नील, हरा, पीला वर्ण होना → **हलीमक।**

पानकी (Jaundice Complicated with Diarrhoea)

लक्षण[3]—

1. सन्ताप
2. अतिसार
3. बाहर-भीतर पीतवर्णता
4. नेत्रों में पाण्डुता

शाखाश्रित कामला

चिकित्सा-सूत्र—

1. सर्वप्रथम स्नेहन करें। इस हेतु पञ्चगव्य घृत, महातिक्त घृत, कल्याणघृत का प्रयोग करें।
2. फिर तिक्त द्रव्यों से बने मृदु विरेचन का प्रयोग।
3. फिर प्रशमन उपचार।
4. कफ का ह्रास कर मार्गावरोध दूर करने, पित्त की वृद्धि करने तथा वायु के

---

1. छर्दरोचकहृल्लासज्वरक्लमनिपीड़ित:।
नश्यति श्वासकासार्तो विड्भेदी कुम्भकामली।। (मा. नि. 8/21)
2. ज्वराङ्गमर्दभ्रमसादतन्द्राक्षयान्वितो लाघरवकोऽलसाख्य:।
तं वातपित्ताद्धरिपीतनीलं हलीमकं नाम वदन्ति तज्ज्ञा:।। (सु. उ. 44/12)
3. सन्तापो भिन्नवर्चस्त्वं बहिरन्तश्च पीतता।
पाण्डुता नेत्रयोर्यस्य पानकी लक्षणं भवेत्।। (मा. नि. 8)

निरूह के लिये कटु-अम्ल-लवण-तीक्ष्ण एवं उष्ण द्रव्यों का प्रयोग।[1]

चिकित्सा—

1. रूक्ष, अम्ल, कटु द्रव्य + मोर, तीतर मुर्गे का मांस → पित्त को कोष्ठ में लाने के हेतु।
2. आहार के साथ सूखी मूली या कुलथी-यूष सेवन
3. मातुलुङ्गादि योग 1×3
4. अमलतास फल गूदा : 2 ग्राम
   त्रिकटु चूर्ण : 2 ग्राम
   1×2 (गन्ने के रस से)
5. इच्छाभेदी रस : 250 मि. ग्रा. आधा गिलास शर्बत से (कोष्ठशोधनार्थ)
6. निशोथचूर्ण : 4 ग्रा.
   या सोंठ : 3 ग्रा.
   1×2 (द्विगुण चीनी से)
7. अमलतास फल का गुदा : 2 ग्रा.
   त्रिकटु चूर्ण : 2 ग्रा.
   1×2 (गन्ने के रस से)
8. अन्य उपचार और पथ्य सामान्य कामला की चिकित्सा की भाँति करें।

कोष्ठ शाखाश्रित कामला

चिकित्सा—

1. निदान का परित्याग
2. महातिक्त घृत, पञ्चगव्य घृत, कल्याण घृत, हारिद्र घृत या द्राक्षाघृत का सेवन करके स्नेहन करें, फिर तिक्त द्रव्य प्रयोग से विरेचन करा कर शमन चिकित्सा करें।
3. विरेचनार्थ—

1. निशोथ चूर्ण : 6 ग्रा.
   चीनी : 12 ग्रा.
2. इच्छाभेदी रस : 250 मि. ग्रा. (आधा गिलास शर्बत से)
3. स्वर्णक्षीरी मूल : 6 ग्रा.
   काली निशोथ : 6 ग्रा.
   देवदारु बुरादा : 6 ग्रा.
   सोंठ : 6 ग्रा.
   } कल्क + 200 मि. ली. दूध 900 मि. ली. जल + चीनी पकाकर पिलायें।

---

1. वृद्ध्या विष्यन्दनात् पाकात् स्रोतोमुखविशोधनात्।
शाखां मुक्त्वा मला: कोष्ठं यान्ति वायोश्च निग्रहात्।। (च. सू. 28/33)

4. (1) दन्तीमूल चूर्ण का कल्क : 6 ग्रा.
चीनी : 12 ग्रा.
1×2

(या)

(2) निशोथ चूर्ण : 3 ग्रा.
चीनी : 6 ग्रा.
1×2 (त्रिफला क्वाथ से)

5. त्रिफला चूर्ण : 6 ग्राम = 1×1 (सुबह)
अथवा—गुडूचि क्वाथ
अथवा—दारुहरिद्रा क्वाथ

6. (1) पतली मूली स्वरस : 50 मि. ली.
चीनी : 20 ग्रा.
1×2

(2) द्रोणपुष्पी शाक सेवन
(3) दारुहल्दी+हल्दी चूर्ण+मधु से

7. रोगी को पूर्ण विश्राम दें।

सिद्धयोग—

8. नवायस लौह : 50 मि. ग्रा.
पुनर्नवा मण्डूर : 50 मि. ग्रा.
शंख भस्म : 250 मि. ग्रा.
1×1 (पुनर्नवा स्वरस+मधु से)

बाद में—फलत्रिकादि क्वाथ—1×2

9. ज्वर होने पर—सुदर्शन चूर्ण : 3 ग्रा. = 1×2 (सुखोष्ण जल से)
10. योगराज : 1 ग्रा. = 1×3 गोदुग्ध से
11. शिलाजतु वटक : 500 मि. ली. = 1×2 (गोदुग्ध से)
12. कुमार्यासव, लोहासव, : 500 मि. ली.
पुनर्नवासव : 1×2 (समान जल से भोजनोत्तर)
13. आरोग्यवर्धिनी, कालमेघ नवायस, द्राक्षादि घृत प्रयोग
14. शतपत्र्यादि योग : 1×2 (जल से)
15. हल्दी, गेरू, आंवला के सम मात्रा में साफ पत्थर पर रगड़कर बनाये गये अञ्जन से पीलापन दूर हो जाता है।

व्यवस्था-पत्र—

1. पुनर्नवा मण्डूर : 500 मि. ग्रा.
नवायस लौह : 500 मि. ग्रा.
शंख भस्म : 250 मि. ग्रा.
1×2 दारूहल्दी चूर्ण (3 ग्रा.) + मधु (6 ग्रा.) से

2. उसके बाद
फलत्रिकादि क्वाथ : 50 मि. ली. = 1×2 मधु से

3. 9 बजे व 2 बजे
अग्नितुण्डी वटी : 250 मि. ग्रा.
कासीस भस्म : 250 मि. ग्रा.
आरोग्यवर्धिनी : 1 ग्रा.
लोकनाथ रस : 25 मि. ग्रा.
1×2 (मधु से)

4 भोजनोत्तर—लोहासव : 50 मि. ली. = 1×2 (समान जल से)

5. रात को सोते समय त्रिफला चूर्ण : 6 ग्रा. (जल से)

5 कास

'कासनात् कास:' इस धातु से ऊर्ध्व गति अर्थ में 'कास' शब्द सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त 'कसति शिर: कण्ठादूर्ध्वं गच्छति वायुरिति कास:' इस क्रिया में वायु कण्ठ से ऊपर सिर की ओर जाती है; अत: इसे कास कहते हैं।

कास खांसी को कहते हैं। जब प्राणवायु भी उदान वायु के साथ मिलकर वेग के साथ कण्ठ से बाहर निकलती है, तब गले की खराबी से सर्दी-जुकाम होने या खर सेवन होने से साँय-2 की ध्वनि निकलती है, उसे कास कहते हैं। यह कभी सूखी आवाज वाली खाँसी होती है तो कभी कफ लिये हुये गीली खाँसी होती है और खाँसने पर कफ बाहर निकलता है।

खाँसी जब पूर्व में उत्पन्न किसी दूसरे रोग के बिना होती है तो उसे कास रोग कहते हैं; लेकिन यदि यह अन्य रोगों के साथ उत्पन्न हो तो उसे उन रोगों का एक लक्षण माना जाता है।

कास में सुश्रुत ने केवल सामान्य कारणों का वर्णन किया है। चरक ने प्रत्येक प्रकार के कास के कारणों का पृथक्-पृथक् वर्णन किया है, परन्तु इन्होंने ऐसा करते समय धूम आदि सामान्य कारणों का उल्लेख नहीं किया है। सुश्रुत द्वारा वर्णित कास के सामान्य कारणों को बाह्य तथा आभ्यन्तर हेतुओं के रूप में समझा जा सकता है।

कास के मुख्य रूप से पाँच प्रकार के भेद हैं—

1. वातज 3. कफज 5. क्षयज
2. पित्तज 4. क्षतज

ये पाँचों प्रकार के कास क्रम से उत्तरोत्तर बलवान हैं। अर्थात् क्षयज कास अन्य सभी से बलवान है। कास के दोषों में वात प्रधान दोष है और दूष्य स्वर, रस, अन्न तथा अधिष्ठान गल है।

कास के विशेष पूर्वरूप; जैसे—

1. गलशूक,
2. कण्ठ कण्डु,
3. भोज्यावरोध आदि से पहचाने जा सकते है।

वातज, पित्तज, कफज कास साध्य होते हैं। क्षतज, क्षयज कास पूर्ण लक्षणों

के साथ होने पर क्षीण व्यक्ति में असाध्य होते हैं; परन्तु यह बलवान रोगी में कभी याप्य तथा कभी साध्य होते हैं। वृद्धावस्था में सभी प्रकार के कास याप्य होते हैं।

प्रमुख सन्दर्भ—

1. चरक, चिकित्सा स्थान-18 3. अष्टाङ्गहृदय, चिकित्सा
2. सुश्रुत, उत्तर तन्त्र-52 4. माधवनिदान-कास निदान

निदान—

1. **सामान्य**[1]—

- धूम (धूमोपघातात्)
- रज
- अतिव्यायाम
- रूक्षान्न का अति सेवन
- भोजन के विमार्गगमन से
- क्षवथु वेगावरोध

2. **विशेष**[2]—

कास (भेदानुसार)—

- वातज → (शीत-रूक्ष-कषाय द्रव्यों का सेवन) (अति व्यायाम)।
- पित्तज → (कटु-उष्ण-विदाही-अम्ल-क्षारीय पदार्थों का अति सेवन) (क्रोध-अग्नि-सूर्य ताप)।
- कफज → (गुरू-अभिष्यन्दी-मधुर स्निग्ध द्रव्यों का सेवन) (अतिनिद्रा)।
- क्षयज → (असात्म्य भोजन-वेगधारण-शोक, विषम भोजन)।
- क्षतज → (अतिव्यवाय-अत्यधिक मार्गगमन अतिसाहस-युद्ध)।

सम्प्राप्ति[3]—

निदान { प्राणवह स्रोतों में वैगुण्य-संग-कास / वातप्रकोप-रस दुष्टि-कफोत्पत्ति-कफष्ठीवन } आर्द्रकास

निदान → वातप्रकोप → प्राण वायु → उदानानुगत → प्राणवह स्रोतस् → वेग से बहिर्गमन → शुष्क कास।

1. धूमोपघाताद्रजसस्तथैव व्यायामरूक्षान्ननिषेवणाच्च।
विमार्गगत्वादपि भोजनस्य वेगावरोधात् क्षवथोस्तथैव।। (सु. उ. 52/4)
2. अतिव्यवायभाराध्वयुद्धाश्वगजविग्रहै:।
रूक्षस्योर:क्षतं वायुर्गृहीत्वा कासमावहेत्।। (च. चि. 18/20)
3. प्राणो ह्युदानानुगत: प्रदुष्ट: सम्भिन्नकांस्यस्वनतुल्यघोष:।
निरेति वक्त्रात् सहसा सदोष: कास: स विद्वद्भिरुदाहृतस्तु।। (सु. उ. 52/5)

पूर्वरूप[1]—

- शूकपूर्ण गलास्यता,
- कण्ठ कण्डू,
- भोजन निगलने में कष्ट।

साध्य—

वातज[2]—हृदय, शंख, शिर व पार्श्वशूल, मुख का कृश होना, अधिक वेगवान कास, शुष्क कास, बल, स्वर व ओजःक्षय।

पित्तज[3]—उरोदाह, मुखशोष, ज्वर, तृष्णा, पाण्डु, मुख का स्वाद तिक्त होना, कटु रस व पीले रंग की दाहयुक्त छर्दि।

कफज[4]—मुख कफलिप्त, अरुचि, शिरोरुक्, कण्ठकण्डू, सान्द्र कफष्ठीवन, शैथिल्य।

याप्य—

क्षयज—सर्वशरीर में शूल, ज्वर, मोह, पूययुक्त रक्तष्ठीवन, शोष, प्राणक्षय।

क्षतज—प्रथम शुष्क तथा पश्चात् रक्तष्ठीवनयुक्त कास, स्वर व पर्वभेद, कण्ठ व उरस् में शूल, कपोतवत् कूजन।

वातज कास-चिकित्सा—सर्वप्रथम स्नेह से उपचार। वातनाशक औषधियों से सिद्ध स्नेह, धूम, लेह, परिषेक व स्निग्ध स्वेद का प्रयोग। बस्ति प्रयोग, कण्टकारी घृत, पिप्पल्यादि घृत, त्र्यूषणादि घृत, रास्ना घृत का प्रयोग। विडंगादि चूर्ण, द्विक्षारादि चूर्ण, शुण्ठ्यादि चूर्ण, अगस्त्य हरीतकी प्रयोग। मनःशिलादि धूम, इङ्गुदी त्वगादि धूमप्रयोग। मधुयष्टी सौंफ द्राक्षा → समभाग लेकर चूर्ण बनायें, 2 माशे की मात्रा दिन में 3 बार।

पैत्तिक कास-चिकित्सा—कफयुक्त पैत्तिक कास में वमन, पैत्तिक कास में विरेचन। वमन/विरेचनोपरान्त पेया, देकर संसर्जन क्रम। पिप्पली मुस्ता यष्टी द्राक्षा दूर्वामूल शुण्ठी → समभाग लेकर बनाये अवलेह का घी व मधु के साथ प्रयोग।

1. पूर्वरूपं भवेत्तेषां शूकपूर्णगलास्यता।
कण्ठे कण्डूः च भोज्यानामवरोधश्च जायते।। (च. चि. 18/5)
2. हृच्छङ्खमूर्धोदरपार्श्वशूली क्षामाननः क्षीणबलस्वरौजाः।
प्रसक्तवेगश्च समीरणेन कासेत्तु शुष्कं स्वरभेदयुक्तः।। (सु. उ. 52/18)
3. उरोविदाहज्वरवक्त्रशोषैरभ्यर्दितः तिक्तमुखस्तृषार्तः।
पित्तेन पीतानि वमेत्कटूनि कासेत्स पाण्डुः परिदह्यमानः।। (सु. उ. 52/19)
4. प्रलिप्यमानेन मुखेन सीदन् शिरोरुजार्तः कफपूर्णदेहः।
अभक्तरुग्गौरवसादयुक्तः कासेद् भृशं सान्द्रकफः कफेन।। (सु. उ. 52/10)

शर्करादि लेह, त्वगादि लेह, पिप्पल्यादि लेह प्रयोग। सूतशेखर (2 रत्ती) कर्पूरादि चूर्ण (1 माशा) मिलाकर 1 मात्रा बनाये। ऐसी 2 मात्रा दिन में दो बार।

कफज कास-चिकित्सा—प्रथम वमन द्वारा शोधन। कफशामक कटु, रूक्ष उष्ण जौ का प्रयोग। पुष्करमूलादि पानीय कट्फलादि पानीय दार्व्यादि लेह पिप्पल्यादि लेह प्रयोग। शुण्ठी अतिविषा मुस्ता कर्कटशृंगी हरीतकी कर्पूर → इनका चूर्ण + हींग व सैंधव नमक गरम पानी के साथ। सौवर्चलादि चूर्ण, दशमूलादि चूर्ण, कण्टकारी घृत, कुलत्थादि घृत प्रयोग। रससिन्दूर (2 रत्ती) सेंका हुआ सिन्दूर (1 रत्ती) 1 मात्रा दिन में 3 बार।

क्षयज कास-चिकित्सा—नवीन क्षयज कास में बृंहण व अग्निसन्दीपन चिकित्सा। आरग्वध फल मज्जा द्राक्षा का रस तिल्वक का क्वाथ—इनमें से किसी एक से साधित घृत का प्रयोग करें, इससे सम्यक् शुद्धि हो जाती है। मांसभक्षी पशुओं के मांसरस का प्रयोग। द्विपञ्चमूलादि घृत, गुडूच्यादि घृत, कासमर्दादि घृत, हरीतकी लेह, जीवन्त्यादि लेह प्रयोग। अधिक कास हो तो काली मिर्च चूर्ण को मधु, घी, शर्करा मिलाकर चाटना चाहिये।

क्षतज कास-चिकित्सा—बलवर्धक तथा मांसवर्धक आहार। मधुर तथा जीवनीय द्रव्यों का प्रयोग। पिप्पल्यादि लेह का प्रयोग। दूध, घृत और मधु का पर्याप्त उपयोग। मांसरसों का विधान। द्राक्षा चूर्ण (1 माशा) प्रवाल भस्म (4 रत्ती) प्रवाल सितोपलादि चूर्ण (1 माशा) = 1 मात्रा (दिन में तीन बार च्यवनप्राश 1/2 तोला के साथ)।

सामान्य चिकित्सा-सिद्धान्त

सामान्य शोधन-चिकित्सा—सर्वप्रथम देवदारु तैल से स्नेहन पश्चात् उपनाह व वाष्पस्वेद।

वमनार्थ—मदनफल (4 भाग), सैंधव (1 भाग), वचा (2 भाग) मिलाकर आधा तोला की मात्रा में मधु + लवणजल के साथ दें।

विरेचनार्थ

- हरीतकी, द्राक्षा, यष्टिमधु, गुलाबकलिका व शुण्ठी को समान मात्रा में लेकर चूर्ण बनाये।
- इस चूर्ण की 2-2 तोला मात्रा प्रातः एक बार पानी से लें।

दशमूल क्वाथ की निरुहबस्ति—एरण्ड तैल (6 भाग), लशुन (8 भाग), हींग (1 भाग), सैन्धव (3 भाग) इनकी 1/2 तोला मात्रा से अनुवासन बस्ति।

कास की सामान्य मुख्य औषधियाँ—

- यष्टीमधु
- कण्टकारी
- वासा
- हरिणशृंग
- शृंगभस्म

व्यवस्था-पत्र—

1. वासा चूर्ण : 600 मि. ग्रा.
   कण्टकारी चूर्ण : 600 मि. ग्रा.
   पिप्पली : 600 मि. ग्रा.
   हरिद्रा : 600 मि. ग्रा.
   बिभीतक : 600 मि. ग्रा.
   1 मात्रा (ऐसी मात्रा 3 बार वासावलेह के साथ दिन में)
2. बंगभस्म : 250 मि. ग्रा.
   सूतशेखर : 250 मि. ग्रा.
   सितोपलादि चूर्ण : 1 ग्राम
   रससिन्दूर : 125 मि. ग्रा.
   1 मात्रा (ऐसी दो मात्रा प्रात:-सायं मधु के साथ)
3. व्योषादि वटी/एलादि वटी : 6 वटी (एक दिन में चूसने के लिये)

कास रोग में—

पथ्य → लाजा, गोधूम, माष, मूंग, द्राक्षा, दाड़िम, उष्ण जल, बकरी का दूध।
अपथ्य → स्निग्ध-मधुर अन्न, दही, धूम्रपान, मैथुन।

व्यवस्था-पत्र (वातज कास)—

1. शृंग्यादि चूर्ण : 6 ग्राम
   अर्कलवण : 2 ग्राम
   टंकण : 1 ग्राम
   3 मात्रा (जल/मधु से दिन में 3 बार)
2. चन्द्रामृत : 1 ग्रा.
   अभ्रक भस्म : 400 मि. ग्रा.
   यवक्षार : 400 मि. ग्रा.
   3 मात्रा (मुलहठी चूर्ण 2 ग्राम व दिन में 3 बार मधु से)
3. च्यवनप्राश : 30 ग्रा.
   प्रवाल भस्म : 300 मि. ग्रा.
   2 मात्रा (सुखोष्ण दूध से प्रात:-सायं)
4. कनकासव : 50 मि. ली. (समान जल से पीना भोजनोत्तर 2 बार)
5. एलादि वटी (1-1 गोली) चूसना 5-6 बार।

व्यवस्था पत्र (पित्तज कास)—

1. शृंगाराभ्र : 500 मि. ग्रा.
   प्रवाल भस्म : 500 मि. ग्रा.
   गोदन्ती भस्म : 1 ग्रा.
   बृहत् सितोपलादि चूर्ण : 6 ग्राम
   4 मात्रा (वासारस 1 चम्मच मधु से 3-3 घण्टे पर 4 बार)

2. तालीसादि या समशर्कर चूर्ण : 6 ग्राम = 2 मात्रा (जल से) भोजन से 1 घण्टा पूर्व 2 बार।

3. वासारिष्ट : 40 मि. ली. = 2 मात्रा (समान जल मिलाकर पीना भोजनोत्तर 2 बार)।

4. एलादि वटी/लंवगादि वटी (दिन में 5-6 बार गोली चूसना)

5. यष्ट्यादि चूर्ण (या) पञ्चसकार चूर्ण : 4 ग्राम = 1 मात्रा (सुखोष्ण जल से रात में सोते समय)।

व्यवस्था-पत्र (कफज कास)—

1. लक्ष्मीविलास रस : 500 मि. ग्रा.
   चन्द्रामृत रस : 1 ग्रा.
   कफकेतु रस : 500 मि. ग्रा.
   4 मात्रा (पान के रस व मधु से 3-3 घण्टे पर 4 बार)
2. रससिन्दूर : 500 मि. ग्रा.
   शृंगभस्म : 1 ग्राम
   टंकण : 500 मि. ग्रा.
   3 मात्रा (मधु से दिन में 3 बार)

3. शृंग्यादि चूर्ण/समशर्कर चूर्ण : 3 ग्राम = 1 मात्रा (सुखोष्ण जल से 1 बजे/3 बजे)।

4. कनकासव : 40 मि. ली. = 2 मात्रा समान जल मिलाकर पीना (भोजनोत्तर 2 बार)।

5. लवंगादि/खदिरादि वटी (4-6 गोली) चूसना

व्यवस्था पत्र (क्षतज कास)—

1. चन्द्रामृत रस : 1 ग्राम
   प्रवालपिष्टी : 1/2 ग्राम
   शुभ्रा भस्म : 1/2 ग्राम
   लाक्षा चूर्ण : 3 ग्राम
   3 मात्रा (वासापत्र-स्वरस और मधु से प्रात:-सायं और मध्याह्न)
2. शृंगाराभ्र : 500 मि. ग्रा.
   प्रवालपञ्चामृत : 250 मि. ग्रा.
   तालीसादि चूर्ण : 2 ग्राम
   2 मात्रा (च्यवनप्राश 4 ग्राम दूध के साथ भोजन के बाद 4 बार)
3. वासारिष्ट : 40 मि. ली. = 2 मात्रा (समान जल मिलाकर पीना, भोजन के उपरान्त 2 बार)।
4. एलादि वटी 4-6 गोली चूसना।
5. समशर्कर चूर्ण : 4 ग्राम = 1 मात्रा (सुखोष्ण जल से रात में सोते समय)।
6. वासाचन्दनादि तैल (अभ्यङ्गार्थ)।

व्यवस्था-पत्र (क्षयज कास)—

1. नारदीय लक्ष्मीविलास : 500 मि. ग्रा.
   प्रवाल पञ्चामृत : 500 मि. ग्रा.
   मृगशृंग भस्म : 1 ग्राम
   रससिन्दूर : 500 मि. ग्रा.
   सितोपलादि चूर्ण : 3 ग्राम
   3 मात्रा (च्यवनप्राश 10 ग्राम के साथ दूध से दिन में 3 बार)
2. यवानीषाडव चूर्ण : 6 ग्राम = 2 मात्रा (भोजन के तुरन्त पूर्व 2 बार)।
3. द्राक्षारिष्ट : 500 मि. ली. = 2 मात्रा (भोजनोत्तर 2 बार समान जल मिलाकर पीना)।
4. एलादि वटी/व्योषादि (1-1 गोली चूसना)।

●

6 श्वास रोग

श्वास शब्द की निरुक्ति—'श्वस प्राणने' धातु से श्वास शब्द बना है, जिसका अर्थ है—प्राणधारणार्थ प्राणवायु का श्वास मार्ग से भीतर प्रवेश करना।

अथवा 'श्वस जीवने' धातु से घञ् प्रत्यय करने पर यह शब्द बनता है, जिसका अर्थ है—वायु जीवन का व्यापार।

श्वास का फूलना या दम का फूलना 'श्वास रोग' कहलाता है। वेग के साथ वायु की ऊर्ध्व गति को श्वास रोग कहते हैं। जैसे—लोहार की भाथी से वेग के साथ वायु निकलती है, उसी तरह कण्ठ से वेग के साथ बार-बार वायु का निकलना श्वास रोग है। इस श्वास को लेने तथा छोड़ने में कष्ट का होना प्राणवह स्रोतस् में प्राणवायु के यातायात या विनिमय में बाधा होने का प्रतीक है। यह रोग प्राणवह स्रोतस् में अवरोधात्मक विकृति का परिणाम है। जब श्वास प्रणाली या फुफ्फुस के वायुकोषों में वायु-प्रवेश के लिये स्थान कम होता है तो प्राणवायु को ग्रहण करने के लिये बार-बार शीघ्रता से श्वास लेना पड़ता है, यही श्वास रोग है। कफप्रकोपपूर्वक प्रकुपित जो प्राणवायु स्रोतसों को अवरुद्ध कर सब ओर व्याप्त हो जाती है अथवा गति करती है, उसे श्वास रोग कहते हैं। श्वास वस्तुत: वातरूप ही है; किन्तु साधारण अवस्था में केवल वायु श्वास कष्ट को उत्पन्न नहीं करता; परन्तु जब वह कफ से अवरुद्ध हो जाता है तब श्वास रोग को उत्पन्न कर देता है। हृदय-फुफ्फस-श्वासवाहिनी-महाप्राचीरा पेशी के अधिकांश विकार, आमाशय का आध्मानमूलक विकार, वृक्व एवं रक्तवाहिनियों के उच्च रक्तनिपीड़युक्त विकार तथा विषमताओं की गम्भीर अवस्था उत्पन्न होने पर श्वासकृच्छ्र होता है। हृदय, रक्तवाहिनियाँ एवं उच्च रक्तनिपीड़ के कारण श्वासकृच्छ्र उत्पन्न होने पर वेग का प्रारम्भ प्राय: मध्यरात्रि में, शीत अधिक पड़ने पर या गुरु भोजन अथवा परिश्रम के बाद होता है। तमक श्वास का आक्रमण प्राय: रात्रि के अन्तिम प्रहर में, धूल, धुआँ, शीत, वर्षा आदि के कारण उद्धत हुआ ज्ञात होता है। श्वास रोग का स्थानिक कारण है—श्वासनलिका के ऊपरी भाग में किसी प्रकार का शोथ, वक्ष:स्थ किसी अङ्ग में शोथ होना, श्वास क्रिया में सहायक पेशियों की क्रिया में बाधा, तुण्डिकाशोथ होना आदि। पाण्डु, अतिसार, ज्वर, मेदोवृद्धि, अग्निमांद्य, उदावर्त आदि रोगों से भी श्वास की उत्पत्ति हो सकती है।

आधुनिक मत से उरोवात (Emphysema), Allergy, संन्यास (Coma),

जानपदिक शोफ (Epidemic dropsy), मूत्र-विषमयता (Uraemia), अत्यधिक हृदयाभिघात (Congestive heart failure) भी श्वास को जन्म देते हैं।

प्रमुख सन्दर्भ—

1. चरकसंहिता, चिकित्सा स्थान 17
2. सुश्रुतसंहिता, उत्तर तन्त्र 51
3. अष्टाङ्गहृदय, चिकित्सा स्थान 4
4. माधवनिदान 12

निदान व सम्प्राप्ति[1]—

विदाही, गुरु, विष्टम्भी, रूक्ष, शीतल — वातप्रकोपक आहार
शीतल स्थान, धूल, धूम, तीव्र वायु, वेगावरोध — वातप्रकोपक विहार

निदान

वातदुष्टि → वातवह स्रोतोऽवरोध → प्राणवायु विमार्ग गमन → श्वसन कर्म बाधित → श्वासकष्ट।

कफदुष्टि → कफदुष्टि → अग्निमान्द्य → आम → रसदुष्टि → कफवृद्धि

प्राणवह स्रोतोऽवरोध → **श्वास रोग**

पूर्वरूप[2]—

- हृदय प्रदेश में पीड़ा
- पार्श्वशूल
- आध्मान
- आनाह
- मुख के स्वाद का फीका होना
- शंख प्रदेश में सुई चुभोने जैसी वेदना

1. यदा स्रोतांसि संरुध्य मारुत: कफपूर्वक:।
विष्वग्व्रजति संरुद्धस्तदा श्वासान् करोति स:।। (च. चि. 17/44)
2. प्राग्रूपं तस्य हृत्पीडा शूलमाध्मानमेव च।
आनाहो वक्त्रवैरस्यं शङ्खनिस्तोद एव च।। (सु. उ. 51/6)

लक्षण[1]—

महाश्वास (वातप्रबल कफ)—1. रोगी उन्मत्त साण्ड की फुंकार की गर्जना की तरह शब्दयुक्त व कष्टयुक्त श्वास लेता है, 2. संज्ञाशून्य, 3. मुख खुला, आंखें फैली, 4. मल-मूत्र का अवेग, 5. वाणी रुकावटसहित, 6. उदास, 7. श्वास की ध्वनि दूर से सुनाई देती है। (अव्यक्त लक्षण → साध्य, सम्पूर्ण लक्षण → असाध्य)।

ऊर्ध्वश्वास (वातप्रबल कफ)—1. रोगी देर तक बाहर की ओर श्वास छोड़ता है, भीतर की ओर ग्रहण नहीं कर पाता, 2. प्राणवह स्रोतस् कफव्याप्त, 3. बेहोशी, 4. मुखशोष, 5. बेचैनी, 6. दृष्टि ऊपर की ओर खिंची हुई (अव्यक्त लक्षण → साध्य, सम्पूर्ण लक्षण → असाध्य)।

छिन्नश्वास (वात कफाधिक)—1. रुक-रुक कर श्वास लेना, 2. हृदय प्रदेश में पीड़ा, 3. आनाह, 4. स्वेदाधिक्य, 5. मूर्च्छा, 6. बस्ति प्रदेश में दाह, 7. आंखें अश्रुपूर्ण, 8. क्षीणता, 9. मुखशोष, 10. कान्तिरहित चेहरा, 11. प्रलाप (अव्यक्त लक्षण → साध्य, सम्पूर्ण लक्षण → असाध्य)। शीतोपचार (उपशय), उष्णोपचार (अनुपशय)।

तमकश्वास (कफप्रधान वात)—1. जोर लगा कर श्वास बाहर फेंकना, 2. आँखों के सामने अंधेरा, 3. प्यास अत्यधिक, 4. मूर्च्छित-सा, 5. लेटने/सोने पर श्वास की तकलीफ का बढ़ना व बैठने से आराम, 6. उष्ण वस्तुयें, स्थान व वातावरण आरामदेह 7. अत्यधिक स्वेद (कृच्छ्रसाध्य)।

क्षुद्रश्वास (वाताधिक कफ)—1. श्रमजन्य श्वास, 2. साधारण वेग, 3. आराम करने पर व बैठने पर शान्त हो जाने वाला (साध्य)।

तमक श्वास—

प्रतमक—पित्तप्रधान तमक श्वास लक्षणों के साथ ज्वर, मूर्च्छा।
सन्तमक—मन में तमोगुण की अधिकता। तम:प्रवेश मुख्यत:।

चिकित्सा-सिद्धान्त

1. निदानों का परित्याग।
2. कफ व वातनाशक औषध, पेय पदार्थ व अन्न।
3. कफ की अधिकता होने पर पहले वमन तथा उसके बाद विरेचन कराकर शोधन पश्चात् पथ्य आहारपूर्वक शमन चिकित्सा।
4. लवणमिश्रित स्नेह से अभ्यङ्ग।

1. क्षुद्रकस्तमकश्छिन्नो महान् ऊर्ध्वश्च पञ्चधा।
भिद्यते स महाव्याधि: श्वास एको विशेषत:।। (सु. उ. 51/5)

5. अभ्यङ्ग के बाद स्नेहन हो जाने पर नाड़ी स्वेद, प्रस्तर स्वेद या सङ्कर स्वेद।

6. स्वेदन पश्चात् स्निग्ध आहार, कफ को बढ़ा कर, वमन द्वारा इसका नि:सारण करें।

7. तमक श्वास रोगी को वातनाशक द्रव्यों के प्रयोग से विरेचन करायें।

8. वमन-विरेचन पश्चात् रोगी को संसर्जन क्रम करायें।

सामान्य चिकित्सा—

1. घृतप्रयोग—

(क) हरीतकी, विडलवण, हींग के कल्क से सिद्ध पुराना घृत 10 ग्राम की मात्रा में सुखोष्ण जल से दिन में तीन बार प्रयोग करें।

(ख) शृंग्यादि घृत, तालीशादि घृत, वासाघृत आदि का प्रयोग।

(ग) अडूसे के पञ्चाङ्ग से निर्मित क्वाथ तथा कतक से सिद्ध किया घृत 10 ग्राम और 15 ग्राम मधु मिलाकर दिन में तीन बार।

2. अनारदाना या बिजौरा नींबू का रस कुलथी के यूष में डालकर सेंधानमक मिलाकर पिलाना।

3. शुद्ध सरसों का तेल 15 ग्राम, गुड़ 15 ग्राम मिलाकर प्रतिदिन 2 बार सेवन 2-3 सप्ताह तक।

4. छोटी पीपर व सेंधा नमक मिलाकर 1 ग्राम को 1 चम्मच भांरगी और सोंठ के क्वाथ में गुड़ मिलाकर सेवन।

5. मुक्तादि चूर्ण 1 ग्राम मधु से दिन में 3 बार।

6. पीपर, पोहकर मूल, सोंठ, दालचीनी चूर्ण।

7. पुष्करमूल, यवक्षार, काली मिर्च के समभाग चूर्ण को 1-1 ग्रास की मात्रा में दिन में 4 बार सुखोष्ण जल से।

8. लिसोड़ा की पत्ती के क्वाथ में यवक्षार 2 रत्ती मिलाकर पिलाने से श्वास रोग शान्ति।

सिद्धयोग चिकित्सा—

1. (क) श्वासकुठार रस, (ख) श्वासकासचिन्तामणि रस, (ग) महाश्वासारि लौह, (घ) मन:शिलादि घृत, (ङ) मल्लसिन्दूर, (च) प्रवाल, मुक्ता, शङ्खभस्म, (छ) कर्पूरादि चूर्ण एवं (ज) वासारिष्ट, कनकासव आदि परीक्षित औषधियाँ हैं।

2. भारंगी, हल्दी, वासा, पुष्करमूल, अर्कदुग्ध, धत्तूरपत्र स्वरस, भावित कज्जली, रसमाणिक्य, अम्लवेत का प्रयोग।

आवस्थिक चिकित्सा—

क्षुद्र श्वास में—

शृंगभस्म	: 1 ग्राम
श्वासकुठार रस	: 1/2 ग्राम
रससिन्दूर	: 300 मि. ग्रा.
	3 मात्रा (3-3 घण्टे पर पान के रस और मधु से)

तमकश्वास में—1. श्वासान्तक वटी-शुद्ध कुचला, छोटी पीपर, लवंग, मुलहठी समभाग को बहेड़े के क्वाथ में 12 घण्टे खरलकर 20 मि. ग्रा. की गोली, सुबह-शाम गोदुग्ध से 1-1 गोली 2. अभ्रक भस्म मलसिन्दूर, रससिन्दूर इत्यादि का प्रयोग।

अग्निमांद्यजन्य श्वास—क्रव्याद रस।

प्रतमक पित्त श्वास—लौह भस्म, प्रवाल भस्म, गोदन्ती भस्म, प्रवालपञ्चामृत, लक्ष्मीविलास आदि का प्रयोग।

हृद्रोग सह श्वास—सूतशेखर, महावातराजरस, प्रवालपञ्चामृत, अर्जुनारिष्ट-प्रयोग।

कफप्रकोपज श्वास—कफकुठार, आनन्दभैरव, वासारिष्ट प्रयोग।

तीव्रश्वास—सोमचूर्ण (1-2 ग्रा.) मधु के साथ।

व्यवस्था-पत्र—

1. श्वासकास चिन्तामणि	: 300 मि. ग्रा.
मुक्तादि चूर्ण	: 300 मि. ग्रा.
अपामार्ग क्षार	: 500 मि. ग्रा.
श्वासकुठार	: 300 मि. ग्रा.
तालीसादि चूर्ण	: 3 ग्रा.
	3 मात्रा (ताम्बूल पत्र स्वरस आधा चम्मच और मधु से)

(अथवा) श्वासकास चिन्तामणि	: 300 मि. ग्रा.
मृगशृङ्ग भस्म	: 500 मि. ग्रा.
नरसार	: 500 मि. ग्रा.
मधुयष्टी चूर्ण	: 3 ग्राम
	3 मात्रा (वासावलेह 5 ग्राम और मधु से 4-4 घण्टे 3 बार)

2. शृंग्यादि चूर्ण लवणयुक्त : 4 ग्राम
   अर्क लवण : 2 ग्राम
   टंकन : 300 मि. ग्रा.
   2 मात्रा (सुखोष्ण जल से 1 बजे व 2 बजे)
3. भोजनोत्तर 2 बार
   कनकासव : 200 मि. ली.
   द्राक्षारिष्ट : 20 मि. ली.
   कलमी सोरा : 1/2 ग्राम
   2 मात्रा (बराबर जल मिलाकर पीना चाहिये)
4. एलादि वटी (1-1 गोली) 6 बार (2-2 घण्टे पर चूसना)
5 आरोग्यवर्धनी वटी 1 ग्राम = 1 मात्रा (सुखोष्ण जल से रात में सोते समय)

7 हिक्का

निरुक्ति—हिक् इति कृत्वा शब्दायते इति हिक्का।

इस रोग में उदानसहित प्राणवायु हिक् शब्द के साथ मुख से बाहर आता है। यह रोग प्राणों की हिंसा करता है। इसीलिये इसको हिक्का कहते हैं। आयुर्वेद साहित्य में हिक्का का वर्णन श्वास के साथ किया गया है; परन्तु सम्प्राप्ति की दृष्टि से हिक्का रोग श्वसन संस्थान से संचालित होते हुये भी पाचन संस्थान से अधिक निकट है। हिक्का कई रोगों के लक्षण के रूप में तथा स्वयं में एक व्याधि के रूप में भी जाना जाता है। हिक्का और हिध्मा दोनों पर्याय शब्द हैं।

हिक्का रोग कफवातात्मक है; परन्तु इसकी उत्पत्ति पित्तस्थान (आमाशय—पच्यमानाशय) से होती है। जब पित्त स्थान अन्नपाचन का कार्य ठीक नहीं करता तब हिक्का रोग उत्पन्न होता है। यह रोग हृदय और रसादि धातुओं का शोषण करने वाला है। इस दृष्टि से कुछ विद्वान् अम्ल रसप्रधान पाचक पित्त की कमी या अधिकता से हिक्का रोग का सम्बन्ध जोड़ते हैं। कफयुक्त वायु प्राणवाही, उदकवाही और अन्नवाही स्रोतों को रोककर पाँच प्रकार की हिक्काओं को उत्पन्न करता है। तात्पर्य यह है कि प्राणवह, उदकवह तथा अन्नवह स्रोतों में कफ के कारण वायु रुक जाता है और जब कफ की रुकावट होती है तब वायु उन स्थानों से हिक्का के रूप में निकलता है। अन्नजा, यमला, क्षुद्रा, गम्भीरा, महाहिक्का आदि पाँच हिक्काओं का वर्णन मिलता है। साधारण मानसिक कारण, तीक्ष्ण आहार और गम्भीर विषमयताओं के कारण कष्टकारक हिक्का की उत्पत्ति होती है। हिक्का का वेग प्रबल होने पर श्वसन, आहार, निद्रादि सभी क्रियाओं में व्यवधान उत्पन्न होता है। हिक्का कभी-कभी अत्यन्त साधारण स्थिति में होती है, जो बिना चिकित्सा किये ठीक हो जाती है। जैसे अन्नजा हिक्का; परन्तु उसका अत्यन्त भयङ्कर मारक रूप भी हो सकता है, जैसे गम्भीरा तथा महाहिक्का की स्थिति में होता है। वस्तुत: हिक्का डायफ्राम के क्लोनिक कन्ट्रेक्षन के कारण उत्पन्न होती है। आमाशय क्षोभ तथा हृदय, यकृत्, पित्ताशय, वृक्क, फफ्फुसावरण की अनेक विकृतियों में हिक्का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण होता है। अम्लोत्कर्ष (Acidosis) गम्भीर विषमयतायें, वातनाडी संस्थान की विकृतियाँ तथा तीव्र स्वरूप के संक्रामक ज्वरों में हिक्का को उद्धृत किया जा रहा है—महाप्राचीरा पेशी असामयिक, अनैच्छिक एवं आकस्मिक संकोचों के कारण एवं उपजिह्वा के द्वार के आकस्मिक बन्द हो जाने के कारण हिक्का की उत्पत्ति होती है। हिक्का को सामान्य भाषा में हिचकी भी कहते

है। हिक्का एक स्वतन्त्र व्याधि नहीं मानी जाती। अनेक व्याधियों में इसकी उपस्थिति क्रूर ग्रहों के समान भयकारक समझी जाती है। इसीलिये हिक्का का शामक उपचार करते हुये मूल व्याधि के निदान तथा उपचार की व्यवस्था ध्यानपूर्वक करनी चाहिये।

प्रमुख सन्दर्भ—

1. चरकसंहिता, चिकित्सा स्थान, अध्याय 17
2. सुश्रुतसंहिता, उत्तर तन्त्र, अध्याय 50
3. अष्टाङ्गहृदय, चिकित्सा स्थान, अध्याय 4
4. माधवनिदान, हिक्का श्वास निदान 1

निदान[1] व सम्प्राप्ति[2]—

आहारसम्बन्धी	**विहारसम्बन्धी**	**अन्य निदान**
विदाही	शीतल स्थान में निवास	मर्म स्थान पर आघात
गुरु	तेज हवा में रहना	वमन/विरेचन का अतियोग
विष्टम्भी	अधिक व्यायाम	अतिसार, ज्वर, रक्तपित्त
रूक्ष	शक्ति से अधिक कार्य	विसूचिका धातुक्षय,
अभिष्यन्दि	वेगविधारण	विषविकार
पदार्थों का अतिसेवन	उपवास	आमदोष, आनाह
शीतलाहार		
शीतल पेय		

उदानसहित कफसंयुक्त प्राणवायु प्रकोप → प्राणवायु वेग से यकृत्, प्लीहा, आन्त्र में → मुख द्वारा बाहर की ओर हिक्-हिक् शब्द की ध्वनि → **हिक्का रोग।**

पूर्वरूप[3]—

- ऊरु-कण्ठ गौरव
- मुख का स्वाद कषाय रस युक्त
- कुक्षि में आटोप
- मन की अस्थिरता

1. विदाहीगुरुविष्टम्भिरूक्षाभिष्यन्दिभोजनैः।
शीतपानासनस्थानरजोधूमातपानिलैः।।
व्यायामकर्मभाराध्ववेगाघातापतर्पणैः।
हिक्का श्वासश्च कासश्च नृणां समुपजायते।। (सु. उ. 50/3-4)
2. मुहुर्मुहुर्वायुरुदेति सस्वनो यकृत्प्लिहान्त्राणि मुखादिवाक्षिपन्।
स घोषवानाशु हिनस्त्यसून् यतस्ततस्तु हिक्केति भिषग्भिरुच्यते।। (सु. उ. 50/6)
3. कण्ठोरसोर्गुरुत्वं च वदनस्य कषायता।
हिक्कानां पूर्वरूपाणि कुक्षेराटोप एव च।। (च. चि. 17/18)

सामान्य रूप—

1. यकृत्, प्लीहा, आन्त्र से वेग से श्वास का बाहर निकलना।
2. श्वास का बार-बार मुख की ओर आना।

भेद[1]—

- महाहिक्का (महावेग वाली)
- गम्भीरहिक्का (गम्भीरध्वनि युक्त)
- व्यपेता हिक्का (चरक) (आहार पाचनानन्तर)
  यमला हिक्का (सुश्रुत) (आहार पाचनानन्तर)
- क्षुद्रा हिक्का (मृदु)
- अन्नजा हिक्का (भोजन में अत्यधिक मसाले डालने से)

पूर्वरूप—

लक्षण (असाध्य)

महाहिक्का (सर्वगात्री)—सतत वेग, मर्मपीड़ित, महावेगयुक्त, ऊँची आवाज़ वाली, सर्वगात्र कम्प।

गम्भीर हिक्का (नाभि)—गम्भीर व प्रतिध्वनियुक्त हिक्का, नाभि से उठकर घोर शब्द करने वाली, उपद्रवयुक्त, प्राणनाशक।

लक्षण (साध्य)—

क्षुद्रा हिक्का (जत्रुमूल)— अल्प वेग वाली, शीघ्र शान्त होने वाली, मृदु, जत्रुमूल से उत्पन्न, परिश्रम से बढ़ने वाली।

यमला हिक्का (शिरोग्रीवा)—दो वेगों के साथ आने वाली, जो आहार परिणामान्त हो, प्रलाप व तृषकारक, चेतनानाशक।

अन्नजा हिक्का (अन्नाशय)—अन्न व जल के अत्यधिक सेवन से सहसा वायु का ऊर्ध्वगामी होना, धीरे-धीरे मन्द ध्वनि के साथ छींक आना।

हिक्का की असाध्यता—

1. जिस रोग में दोष अधिक प्रकुपित हो।
2. जो अत्यन्त कृश हो।
3. वृद्ध व्यक्ति।
4. अति व्यायाम करने वाले की हिक्का।
5. प्रलाप, तृष्णा, मोहयुक्त यमला हिक्का।

1. अन्नजा यमला क्षुद्रा गम्भीरा महती तथा।
वायुः कफेनानुगतः पञ्च हिक्काः करोति हि।। (सु. उ. 50/7)

चिकित्सा-सिद्धान्त

1. निदान-परित्याग।
2. कफ-वातनाशक आहार, विहार व औषध।
3. कुम्भक प्राणायाम, अचानक मुख पर शीतल जल का छिड़काव।
4. त्रास, भय, आश्चर्य, शोक की बात करना।
5. अङ्गों में सुई चुभोना।
6. श्वास व कास में कथित उपचार।
7. उर:स्थल व पार्श्वप्रदेश में लवणयुक्त वातघ्न तैल का अभ्यंग कर नाडी-प्रस्तर/सङ्कर विधि से स्निग्ध स्वेदन।
8. कफवर्धक स्निग्ध भोजन कराकर मदनफल, पिप्पली और सेन्धा नमक के घोल को पिला कर वमन।

सामान्य चिकित्सा—

1. स्त्री-दुग्ध से लाल चन्दन घिसकर नस्य देना उत्तम औषध।
2. सुखोष्ण घृत में सेंधा नमक मिला कर नस्य।
3. धूमयोग → जलते अंगारे पर राल डाल कर धुआँ दें या मन:शिला या गाय की सींग/बाल पर घी चुपड़ कर अंगार पर जला कर धूम।
4. मयूरपिच्छ भस्म 500 मि. ग्रा. पीपरचूर्ण 500 मि. ग्रा. मिलाकर मधु से 2-2 घण्टे बाद चाटने के लिये।
5. श्रृंग्यादि चूर्ण 2-2 ग्राम मधु से 2-2 घण्टे पर चाटने हेतु।
6. शुद्ध स्वर्णगैरिक 1/2 ग्राम और कुटकीचूर्ण 1 ग्राम मधु के साथ।
7. काली मिर्च-चूर्ण 1/2 ग्राम मधु के साथ।
8. बिजौरा नींबू का रस 10 ग्राम मधु के साथ।
9. सुखोष्ण दूध, सुखोष्ण घृत, सुखोष्ण जल पीना।
10. यवक्षार 1 ग्राम खिलाकर सुखोष्ण जल पिलाना।

सिद्धयोग—

1. मयूरापिच्छ भस्म : 300 मि. ग्रा.
   सूतशेखर : 125 मि. ग्रा.
   कर्चूर चूर्ण : 1/2 ग्राम
   1 मात्रा (मधु से 3-4 बार प्रतिदिन)

2. ताम्रभस्म 100 मि. ग्रा. मधु से चटाकर बिजौरा नींबू का रस 10 ग्राम पिलायें।

3. शङ्खचूल रस (200-300 मि. ग्रा.) मधु के साथ।
4. मुक्तादि चूर्ण 1/2-1 ग्राम की मात्रा दिन में 3 बार मधु के साथ।
5. हिक्कान्तक रस—स्वर्णभस्म, मुक्तापिष्टी, ताम्रभस्म एवं लौहभस्म → सम भाग।

सम भाग लेकर बिजौरा नींबू की 3 भावना देकर 125 मि. ग्रा. की गोली बनायें। 1-3 गोली बिजौर के रस के, काला नमक 300 मि. ग्रा. और मधु से दिन में 3 बार।

6. मुक्तापिष्टी : 125 मि. ग्रा.
   लीलाविलास रस : 125 मि. ग्रा.
   स्वर्णयुक्त सूतशेखर : 125 मि. ग्रा.
   बहेड़े के फल का घिसा द्रव और मधु से

व्यवस्था-पत्र—

1. शङ्खचूल रस : 1/2 ग्राम
   पीपर चूर्ण : 1 ग्राम
   1 मात्रा (मधु से 3-3 घण्टे पर 4 बार)

(अथवा)

श्वासकुठार रस : 250 मि. ग्रा.
श्रृंग भस्म : 250 मि. ग्रा.
रससिन्दूर : 125 मि. ग्रा.
यवक्षार : 1/2 ग्राम
1 मात्रा (हरीतकी चूर्ण 1 ग्राम और मधु से 3-3 घण्टे पर 4 बार)

2. मयूरपिच्छ भस्म : 1/2 ग्राम
   पीपर चूर्ण : 1 ग्राम
   1 मात्रा (मधु से 4-4 घण्टे पर 3 बार)

3. कनकासव : 20 मि. ली. = 1 मात्रा (समान जल मिला कर भोजन के बाद 2 बार)।
4. आरोग्यवर्धनी : 1 ग्राम = 1 मात्रा (सुखोष्ण जल से रात में सोते समय)।

पथ्य—मृदु स्निग्ध भोजन, पुराना गेहूं, जौ, कुलथी, मूंग, बिजौरा नींबू, गोदुग्ध, वात-कफनाशक आहार-विहार अन्नपान।

अपथ्य—गुरु-शीत विष्टम्भी अन्नपान, उड़द, तिलकल्क, सरसों, मछली, दही, वेगविधारण, कफ-वातकारक आहार-विहार।

8 राजयक्ष्मा

राजयक्ष्मा सभी आयुर्वेदीय संहिताओं में वर्णित दौर्बल्य तथा प्राणवह स्रोतस् से सम्बन्धित शोष, श्वास, उर:शूल, रक्तष्ठीवन तथा ज्वरादि लक्षणों से युक्त एक महत्त्वपूर्ण व्याधि है।

राजयक्ष्मा शब्द की निरुक्ति—

यक्ष्मणां (रोगाणां) राजा इति राजयक्ष्मा।
(अथवा)
यज्यते (पूज्यते यस्मिन् रोगविशेषः) सः राजयक्ष्मा।
(माधवनिदान)

यह जटिल रोग होता है, अत: रोगी के परिवार द्वारा इसकी चिकित्सा करने के बहाने वैद्य या चिकित्सक की पूजा होती है, अत एव इसे भी यक्ष्मा कहते हैं।

नक्षत्राणां द्विजानां च राजोऽभूद्यदयं पुरा।
यच्च राजा च यक्ष्मा च राजयक्ष्मा ततो मतः।।
(अ. हृ. नि. 5/2)

पहले यह रोग नक्षत्रों और द्विजों के राजा (चन्द्रमा) को हुआ था और यह रोगों का राजा है; अस्तु इसको राजयक्ष्मा कहते हैं। यह रोगों का राजा है; क्योंकि जिस प्रकार राजा की सवारी के आगे और पीछे सुरक्षा-सैनिक होते हैं, उसी प्रकार राजा की सवारी रोगराट् के प्रकट होने से पहले पूर्वरूप में ज्वर, कास आदि रोग प्रकार होते हैं। इनके बाद अतिसार शोथ, पाण्डु आदि उपद्रव होते हैं, इसीलिये इसे बहुरोग, पुरोगम और अनेक रोगानुगम कहा गया है।

- इस रोग में रस-रक्तादि धातुओं का शोषण होने से इसे 'शोष',
- शरीर और इन्द्रियों की क्रियाशीलता क्षीण होने से इसे 'क्षय',
- आगे-पीछे अनेक रोगों की सेना लेकर आक्रमण करने के कारण इसे 'महाबल',
- राजा सदृश सामर्थ्यवान होने से इसे 'राजयक्ष्मा' और
- रोगों में कष्टकारी तथा प्राणघातक होने से इसे 'रोगराट्' कहा जाता है।

चरकसंहिता में कुष्ठ रोग के पश्चात् राजयक्ष्मा का वर्णन किया गया है। राजयक्ष्मा का अर्थ—राजा का रोग है। इसके बारे में एक अनेक काम के व्यसन से युक्त पौराणिक कथा प्रचलित है। इस कथा के अनुसार दक्ष प्रजापति की 28 कन्याओं

को चन्द्रमा ने भार्यारूप में स्वीकार किया था। यह सभी 28 अश्विन्यादि नक्षत्र थे। इनमें से सिर्फ रोहिणी नामक भार्या में चन्द्रमा ने अधिक आसक्ति दिखायी, जिसके फलस्वरूप उनके स्नेह भाग शुक्र का क्षय हो गया।

इस कारण उसका शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया था। शेष अन्य कन्याओं ने अपने पिता के पास जाकर चन्द्रमा की इस उपेक्षा नीति को बताया। इस पर क्रोधित होकर दक्ष प्रजापति ने यक्ष्मारूपी विष का चन्द्रमा में प्रवेश किया, फलत: चन्द्रमा प्रभाहीन व राजयक्ष्मा रोग से पीड़ित हो गया। चन्द्रमा द्वारा क्षमाप्रार्थना करने पर अश्विनीकुमारों ने उनका उपचार किया। आयुर्वेद-संहिताओं में इस रोग को वेगावरोध, क्षय, साहस एवं विषमाशनादि विप्रकृष्ट कारणों तथा अनुलोम एवं प्रतिलोम सम्प्राप्ति से उत्पन्न होने के अतिरिक्त औपसर्गिक एवं संक्रामक रोग भी माना गया है।

राजयक्ष्मा की चिकित्सा में सामान्यत: शोधन का निषेध है तथा शोषपरक सन्तर्पणीय संशमन कर्म को महत्त्व दिया गया है।

यह रोग आधुनिक Pulmonary tuberculosis से अत्यन्त मिलता-जुलता है। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में वर्णित यक्ष्मा, शोष, उर:शत, क्षीण, क्षयज कास, क्षतज कास, राजयक्ष्मा सभी Pulmonary tuberculosis से मिलते-जुलते रोग हैं। वस्तुत: ये रोग एक ही व्याधि के अवस्थाभेद हैं।

राजयक्ष्मा को शोष, क्षय, रोगराट, तपेदिक, सिल, थाईसिस (Phthisis), कञ्जम्पशन (Consumption), Pulmonary tuberculosis प्रभृति नामों से जाना जाता है। पाश्चात्य मतानुसार हिपोक्रेटिस (ई. पू. 400 वर्ष) इस रोग का विशेषज्ञ था। डॉ. गेलन ने (सन् 130-200) इसे संसर्गज (Epidemic) माना और डॉ. सिल्विस (सन् 1614-1672) ने इसके लक्षणों का तथा यक्ष्माग्रन्थि के नाम ट्युबरकल (Tubercule) का शोध किया। डॉ. बिलैमिन (सन् 1868 फ्रांस) ने इसे संक्रामक सिद्ध किया और रॉबर्ट कॉक (1882 ई.) ने यक्ष्मा के कीटाणु (Bacilli Tuberculosis) का पता लगाया।

प्रमुख सन्दर्भ—

1. चरक निदान, अध्याय 6 : शोषनिदान
2. चरक चिकित्सा, अध्याय 8 : राजयक्ष्मा चिकित्सा
3. सुश्रुत उत्तरतन्त्र, अध्याय 41 : शोष प्रतिषेध
4. अष्टांगहृदय चिकित्सा, अध्याय 5 : राजयक्ष्मा चिकित्सा
5. अष्टाङ्गहृदय निदान, अध्याय 5 : राजयक्ष्मा निदान
6. माधवनिदान, अध्याय 10 : राजयक्ष्मा-क्षतक्षीणनिदान

निदान[1] व सम्प्राप्ति[2]—

राजयक्ष्मा

वेगावरोध, विषमाशन:

कफप्रधान वात-पित्त से
↓
स्रोतोऽवरोध
↓
पोषणाभाव
↓
रसादि शुक्रान्त धातुओं का उत्तरोत्तर क्षय
↓
सर्वधातुक्षय
↓
शोष
↓
अनुलोम राजयक्ष्मा

क्षय, साहस:

शुक्रक्षय
↓
वातप्रधान दोष
↓
वातप्रकोप
↓
पोषणाभाव
↓
शुक्र से रसपर्यन्त पूर्व-पूर्व धातुक्षय
↓
सर्वधातुक्षय
↓
शोष
↓
प्रतिलोम राजयक्ष्मा

पूर्वरूप[3]

शारीरिक दोषजन्य: श्वास, अङ्गमर्द, तालुशोष, वमन, अग्निमान्द्य, पीनस, कास, रक्ताल्पता, मद, शोथ।

मानसिक विकारजन्य: स्त्री-सम्भोग की प्रबल इच्छा स्वप्न में काक, नीलकण्ठ जलविहीन नदियाँ का देखना, सूखे, हवा में झूमते, धूयें से भरे वृक्षों को देखना।

---

1. वेगरोधात् क्षयाच्चैव साहसाद्विषमाशनात्।
त्रिदोषो जायते यक्ष्मा गदो हेतुचतुष्टयात्।। (मा. नि. 10/1)
2. कफप्रधानैर्दोषैस्तु रूद्धेषु रसवर्त्मसु।
अतिव्यवायिनो वाऽपि क्षीणे रेतस्यनन्तरा:।
क्षीयन्ते धातव: सर्वे तत: शुष्यति मानव:।। (माधव निदान 10/2)
3. श्वासाङ्गमर्द-कफसंस्रव-तालुशोष
वम्यग्निसाद-मद-पीनस-कास-निद्रा:।
शोषे भविष्यति भवन्ति स चापि जन्तु:
शुक्लेक्षणो भवति मांसपरो रिरंसु:।
स्वप्नेषु काक-शुक-शल्लकी-नीलकण्ठ-
गृध्रास्तथैव कपय: कृकलासकाश्च।
तं वाहयन्ति स मदीर्विजलाश्च पश्ये-
च्छुष्कांस्तरून् पवन-धूम-दवार्दितांश्च।। (सु. उ. 41/29-30)

निदानदृष्टि

साहसज, संधारणज, क्षयज, विषमाशनज

लक्षणानुसार

त्रिरूप राजयक्ष्मा, षड्रूप राजयक्ष्मा, एकादशरूप राजयक्ष्मा

साहसज	सन्धारणज	क्षयज	विषमाशनज
शिर:शूल	शिर:शूल	शिर:शूल	शिर:शूल
पार्श्वशूल	पार्श्वशूल	पार्श्वशूल	पार्श्वशूल
ज्वर	ज्वर	ज्वर	ज्वर
कास	कास	कास	कास
स्वरभेद	स्वरभेद	स्वरभेद	स्वरभेद
अरुचि	अरुचि	अरुचि	अरुचि
अतिसार	अतिसार	अतिसार	रक्तवमन
उर:शूल	प्रतिश्याय	प्रतिश्याय	प्रतिश्याय
कण्ठोद्ध्वंस	अंसावमर्द	असंताप	असंताप
जृम्भा	अंगमर्द	अंगमर्द	प्रसेक
सरक्त कफष्ठीवन	छर्दि	श्वास	छर्दि
मुख्य लक्षण—			
उर:शूल कण्ठोद्ध्वंसक सरक्त-कफष्ठीवन	अङ्गमर्द छर्दि	श्वास	प्रसेक छर्दि

दोषानुसार लक्षण—

वात के लक्षण	पित्त के लक्षण	कफ के लक्षण
स्वरभेद	ज्वर	शिरोगौरव
अंस-पार्श्वशूल	दाह	अरुचि
अंस-पार्श्व	अतिसार	कास
संकोच	रक्तष्ठीवन	कण्ठोद्ध्वंस

त्रिरूप राजयक्ष्मा[1]—

1. कन्धों व पसलियों में चारो ओर पीड़ा।
2. हाथों व पैरों में जलन।

---

1. अंसपार्श्वाभितापश्च सन्ताप: करपादयो:।
ज्वर: सर्वाङ्गिणश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मण:।। (च. चि. 8/52)

3. सम्पूर्ण शरीर में ज्वर।

षड्रूप राजयक्ष्मा[1]—

1. भक्तद्वेष (भोजन में अरुचि)
2. ज्वर
3. श्वास
4. कास
5. रक्तष्ठीवन
6. स्वरभेद

एकादशरूप राजयक्ष्मा[2]—

सुश्रुतोक्त	चरकोक्त	वाग्भोटक्त
स्वरभेद	कास	पीनस
अंस-पार्श्वशूल	असंताप	श्वास
अंस-पार्श्वसंकोच	स्वरभेद	कास
ज्वर	ज्वर	अंसरुजा
दाह	पार्श्वशूल	शिरोरुजा
अतिसार	शिर:शूल	स्वररुजा
रक्तष्ठीवन	रक्तवमन	अरुचि
शिर:पूर्णता	श्लेष्मछर्दि	विड्भ्रंश-संशोष
अरुचि	श्वास	कोष्ठज छर्दि
कास	अतिसार	पार्श्वशूल
कण्ठोध्वंस	अरुचि	ज्वर

चिकित्सा-सूत्र

1. संशमन चिकित्सा।
2. निदान परित्याग।
3. बहि: परिमार्जन।
4. वातहर बला तैल की मालिश।
5. मन में हर्ष उत्पन्न करने वाले संवादों का सुनना और आश्वासन।
6. ब्रह्मचर्य का पालन।
7. स्रोतस् शोधन, धात्वग्नि-दीपन व बृंहण औषधियों की व्यवस्था।

1. भक्तद्वेषो ज्वर: श्वास: कास: शोणितदर्शनम्।
स्वरभेदश्च जायेत षड्रूपे राजयक्ष्मणि। (सु. उ. 41/11)
2. स्वरभेदोऽनिलाच्छूलं संलोचश्चांसपार्श्वयो:।
ज्वरो दाहोऽतिसारश्च पित्ताद्रक्तस्य चागम:।।
शिरस: परिपूर्णत्वमभक्तच्छन्द एव च।
कास: कण्ठस्य चोध्वंसो विज्ञेय: कफकोपत:।। (सु. उ. 41/12-13)

8. मांसरस, घृत-दुग्धयुक्त तृप्तिकारक पथ्य।
9. वर्धमान पिप्पली का प्रयोग।
10. पूर्ण विश्राम।
11. मन में ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध-लोभ भावों को न लाना।
12. धातुक्षय-पूर्ति हेतु मक्खन, दूध, घी, मांसरस, अण्डा, सूखे फल आदि का सेवन।

सामान्य चिकित्सा

संशोधन प्रक्रिया | संशमन प्रक्रिया

संशोधन प्रक्रिया—

1. स्नेहन-स्वेदन के पश्चात् वमन/विरेचन
2. शोधनार्थ मृदु आस्थापन बस्ति का प्रयोग।
3. लघु अग्निदीपक बृंहणकारक आहार-सेवन।
4. लघुपञ्चमूल सिद्ध जल/शालिपर्णी पृश्निपर्णी-माषपर्णी से सिद्ध जल।
5. लावा-तीतर आदि का मांस।
6. जौ, कुलथी, सोंठ और आंवला के साथ पर्याप्त घी डालकर बकरे का मांसरस।

संशमन चिकित्सा एवं आवस्थिकी चिकित्सा

1. बला तैल, लाक्षादि तैल आदि की मालिश।

2. तिल के कल्क, उड़द की मोटी रोटी, खीर, कुलथी, किसी से भी सङ्करस्वेद विधि से कण्ठ-पार्श्व-छाती-शिर का स्वेदन करवायें।

3. वातनाशक द्रव्यों (निर्गुण्डी, धतूर, एरण्ड) के पत्तों के क्वाथ से सिर का परिषेक।

4. शिर अंस या पार्श्व के शूल में घी-तेल-वसा-मज्जा में जीवन्ती-सौंफ-वच विदारीकन्द को संस्कृत कर उन अंगों पर उनकी पुल्टिस बनाकर स्वेदन करे।

5. गुग्गुल, देवदारु, रक्तचन्दन, नागकेशर, विदारीकन्द आदि को पीसकर सुखोष्ण कर अंस, पार्श्व व शिर में लगायें।

6. आवश्यकतानुसार नस्य, धूमपान, भोजनोत्तर घृतपान करे। रक्तमोक्षण आदि भी कर सकते हैं।

7. आवश्यकतानुसार तैलाभ्यङ्ग, निरूह/अनुवासन वस्ति, रक्तमोक्षण आदि भी कर सकते हैं।

8. एकादश लक्षणों में जीवन्त्यादि घृत 15-20 ग्राम की मात्रा में 250 मि. ली. दूध मिलाकर सबेरे-शाम पिलायें।

9. दशमूलादि घृत का भोजन के बाद पान।

सिद्ध योग—

1. स्वर्णसूतशेखर
2. राजमृगाङ्क रस
3. जातिफलादि चूर्ण
4. वासावलेह
5. महालक्ष्मीविलास रस
6. रसोनक्षीरयोग
7. पञ्चपर्पटी
8. दाड़िमाष्टक चूर्ण
9. रससिन्दूर
10. त्रिकटु

व्यवस्था पत्र—

1. स्वर्णवसन्तमालती : 500 मि. ग्रा.
सर्वज्वरहर लौह : 1 ग्राम
चन्द्रामृत : 1 ग्राम
शृंगभस्म : 1 ग्राम
मुक्तापञ्चामृत : 1/2 ग्राम
सितोपलादि चूर्ण : 4 ग्राम
4 मात्रा (च्यवनप्राश 5 ग्राम और मधु से 3-3 घण्टे पर दिन में 4 बार)

2. यवानीषाडव : 10 ग्राम = 2 मात्रा (बिना अनुपान भोजन के तुरन्त पूर्व 2 बार)।

3. द्राक्षारिष्ट : 15 मि. ली.
दशमूलारिष्ट : 15 मि. ली.
2 मात्रा (समान जल मिलाकर पीना भोजनोत्तर 2 बार)

4 महालाक्षादि तैल/चन्दनादि तैल से सर्वाङ्ग में अभ्यङ्ग।

5. महालक्ष्मीविलास : 1/2 ग्राम
काचनाराभ्र : 1/2 ग्राम
राजमृगाङ्क : 300 मि. ली.
प्रवाल पिष्टी : 1/2 ग्राम
यक्ष्मारि लौह : 1/2 ग्राम
अभ्रक भस्म : 1/2 ग्राम
सितोपलादि चूर्ण : 4 ग्राम
4 मात्रा (पारिजात पत्रस्वरस 5 ग्राम और मधु से 3-3 घण्टे पर दिन में 4 बार)

6. तालीशादि चूर्ण : 4 ग्राम = 2 मात्रा (जल से भोजन पूर्व)।

7. वासारिष्ट : 20 मि. ली. समान जल मिलाकर पीना भोजनोत्तर।

8. वासाचन्दनादि तैल : अभ्यङ्गार्थ।

व्यवस्था-पत्र (रक्तस्राव में त्वरित लाभार्थ)—

1. संगजराहत भस्म, तृणकान्तमणि पिष्टी, गुडूची सत्त्व, वंशलोचन चूर्ण, छोटी इलायची चूर्ण, शुद्ध स्वर्णगैरिक, हीराबोल, हीरादोखी गोंद—समभाग मिलाकर 2-2 ग्राम की मात्रा में 3 बार अनार के शर्बत/मधु से।

9 हृदय रोग

आधुनिक समय में हृदय रोगों का होना एक सामान्य बात होती जा रही है। एक वैज्ञानिक अध्ययन के अनुसार पचास वर्ष की उम्र के बाद हर दस में से एक व्यक्ति किसी न किसी हृदय रोग से पीड़ित होता है। चिकित्सा विज्ञान के अनुसार आधे से अधिक हृदय रोग अत्यन्त चिन्ता (Anxiety) और तनाव (Stress) के कारण होते हैं। तनाव शरीर में एक प्रकार की रासायनिक प्रक्रिया को जन्म देता है, जो कि हृदय रोगों का एक कारण बनता है। हृदय अन्नरस, रक्त और ओज का आश्रय है। यह रक्त का आधार है और अपने संकोच तथा विकास से रक्त को सदैव गतिमान रखने वाला यन्त्र है। हृदय के अंगों के प्राकृत स्थिति में रहने पर शरीर का कार्य प्राकृतिक रहता है। इसके किसी अंग या किसी क्रिया के विकृत हो जाने पर हृदय का कार्य विकृत हो जाता है। इसे ही हृदय रोग कहते हैं। निरन्तर अत्यन्त उष्ण, गुरु, अम्ल, कषाय तथा तिक्त रसप्रधान पदार्थों के सेवन से अधिक परिश्रम करने इत्यादि से पाँच प्रकार का हृदय रोग हो जाता है। इसमें वैवर्ण्य, मूर्च्छा, ज्वर, कास, हिक्का, श्वास आदि विविध लक्षण मिलते हैं। अपने-अपने कारणों से प्रकुपित हुये वातादि दोष हृदय में अवस्थित होकर रस को दूषित कर हृदय में विकार उत्पन्न करते हैं। चरक और सुश्रुत दोनों ही संहिताओं में वातिक, पैत्तिक, कफज, त्रिदोषज तथा कृमिज भेद से पाँच प्रकार के हृदय रोगों का उल्लेख है। हृदय रोग से क्लम, अवसाद, भ्रम, शोष—ये उपद्रव हो सकते हैं।

दिन-प्रतिदिन हृदय रोगों का अधिक होना आधुनिक व्यक्ति के असंयमित जीवन और अनियमित दिनचर्या के कारण ही है। प्रत्येक व्यक्ति को हृदय-बचाव के उपाय करते रहना चाहिये, जैसे—सभी व्यक्तियों को 40 वर्ष की उम्र के बाद सामान्यत: नमक का सेवन कम मात्रा में करना चाहिये, अधिक शरीर भार तथा मोटापे से बचना चाहिये, व्यायाम और योगासनों का नियमित अभ्यास करना चाहिये, अत्यधिक तनाव और चिन्ता से बचना चाहिये, सन्तुलित परन्तु चिकनाई-रहित भोजन का सेवन, नशीले या उत्तेजक पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिये, निद्रा-समय एवं कार्य-समय को नियमित करना चाहिये, भोजन पाचन तथा मल क्रिया के नियमित रहने का ध्यान रखना चाहिये इत्यादि। हृदय रोग उत्पन्न हो जाने के बाद ऐसी औषधियों और योगों का प्रयोग करना चाहिये, जो रोग से बचाव करते हैं अथवा हृदय रोग की गम्भीरता को कम करते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ—

1. चरकसंहिता : सूत्र. 17
2. चरकसंहिता : चिकित्सा. 26
3. सुश्रुतसंहिता : उत्तरतन्त्र 43
4. अष्टाङ्गहृदय : निदान. 5
5. अष्टाङ्गहृदय : चिकित्सा. 6
6. माधवनिदान : हृदयरोग (29)

परिभाषा—हृदय के अवयवसम्बन्धी अथवा कार्यसम्बन्धी विकार को हृदय-रोग कहा जाता है।

निदान[1]—

1. शारीरिक निदान—

1. व्यायाम (अधिक परिश्रम)
2. तीक्ष्ण आहार
3. विरेचन का अतियोग
4. बस्ति का अतियोग
5. वमन का अतियोग
6. आमदोष
7. कृशताकारक आहार-विहार
8. अति उष्ण भोजन
9. अतिगुरु भोजन
10. कषाय-रसप्रधान भोजन
11. तिक्त-रसप्रधान भोजन
12. अध्यशन
13. रूक्ष अन्न-सेवन
14. विरुद्ध भोजन
15. अजीर्ण होना
16. असात्म्य आहार-विहार

2. मानस निदान—

1. अधिक चिन्ता करना। 3. अधिक सताया जाना।
2. अधिक भयभीत होना।

3. आगन्तुज निदान—

1 मल-मूत्रादि के वेगों को रोकना।
2. पहले से उत्पन्न रोग की चिकित्सा न करना।
3. शरीर अथवा हृदय पर चोट लगना।

सम्प्राप्ति[2]—

निदानों से वातादि दोषप्रकोप → दोषों का हृदय में अवस्थित होकर रसदुष्टि करना → हृदय में विकृति → **हृद्रोग।**

1. अत्युष्णगुर्वन्न-कषाय तिक्त-श्रमाभिघाताध्यशनप्रसङ्गैः।
सञ्चिन्तनैर्वेगविधारणैश्च हृदामयः पञ्चविधः प्रदिष्टः।। (मा. नि. 29/1)
2. दूषयित्वा रसं दोषा विगुणा हृदयं गताः।
हृदि बाधां प्रकुर्वन्ति हृद्रोगं तं प्रचक्षते।। (सु. उ. 43/4)

दोष—वातादि दोष, वातप्रधान।

दूष्य—रस।

अधिष्ठान—हृदय।

सामान्य लक्षण[1]—

1. वैवर्ण्य	4. कास	7. मुख का स्वाद फीका पड़ना
2. मूर्च्छा	5. हिक्का	8. तृषा
3. ज्वर	6. श्वास	9. प्रमोह (बेहोशी होना)

विशेष लक्षण—विशेष लक्षणों के आधार पर हृदय रोग पाँच प्रकार के होते हैं—

1. वातिक	3. कफज	5. कृमिज
2. पैत्तिक	4. सान्निपातिक	

1. वातिक हृद्रोग

निदान[2]—

1. आहारसम्बन्धी—

1. रूक्ष अन्न अतिसेवन	3. अल्प भोजन
2. शुष्क अन्न अतिसेवन	4. कषाय, तिक्त रस का अतिसेवन

2. विहारसम्बन्धी—

1. श्रम	3. वात, मूत्र, पुरीष के वेग को रोकना
2. व्यायाम	4. लंघन, उपवास

3. मनसम्बन्धी—

1. चित्तोद्वेग 2. शोक

सम्प्राप्ति—

उपरोक्त निदानों द्वारा वात दोष प्रकोप → विकृत रस धातु → हृदय में विगुणता → हृदयबाधा → **वातज हृद्रोग।**

---

1. वैवर्ण्यमूर्च्छाज्वरकासहिक्काश्वासास्यवैरस्यतृषाप्रमोहाः।
छर्दिः कफोत्क्लेशरुजोऽरुचिश्च हृद्रोगजाः स्युर्विविधास्तथाऽन्ये।। (च. चि. 26/78)

2. शोकोपवासव्यायाम-रूक्षशुष्काल्पभोजनैः।
वायुराविश्य हृदयं जनयत्युत्तमां रुजम्।
वेपथुर्वेष्टनं स्तम्भः प्रमोहः शून्यतादरः। (च. सू. 17/30)

लक्षण[1]—

सामान्य लक्षण—

1. खिंचावट	6. पाटन	11. श्वासावरोध
2. तोद	7. जकड़ाहट	12. अल्प निद्रा
3. निर्मथन	8. मूर्च्छा	13. शोक
4. दारुण	9. वेष्टन	14. भय
5. स्फोटन	10. हृत्-शून्यता	15. शब्द असहिष्णुता

विशेष लक्षण—

1. हृदयशूल 2. हृदयकम्पन

चिकित्सा सिद्धान्त—

1. निदान परिवर्जन।
2. विश्राम—शारीरिक तथा मानसिक।
3. आहारसम्बन्धी नियन्त्रण।
4. दोष-बलादि का विचार कर रोगी को वमन करवाते हैं।
5. वमनोपरान्त निम्न योगों का उपयोग करवाते हैं—
(क) पिप्पल्यादि चूर्ण। (ग) पुष्करादि क्वाथ।
(ख) पुष्करमूलादि चूर्ण। (घ) हरीतक्यादि चूर्ण।

व्यवस्था-पत्र (वातज हृदरोग)—

1. प्रातः-सायं—
वृहद् वातचिन्तामणि : 250 मि. ग्रा.
चिन्तामणि रस : 250 मि. ग्रा
मुक्ता पिष्टी : 250 मि. ग्रा.
2 मात्रा (ककुभादि चूर्ण 1 ग्राम और घी के साथ)

2. एक बजे व दो बजे—
मृगश्रृंग भस्म : 500 मि. ग्रा.
पुष्करमूलादि चूर्ण : 4 ग्राम
4 मात्रा (मधु से)

3. भोजनोत्तर दो बार दशमूलारिष्ट : 30 मि. ली. = 2 मात्रा (समान जल मिला कर पीना)।

---

1. आयम्यते मारुतजे हृद्रोगं तुद्यते तथा।
निर्मथ्यते दीर्यते च स्फोट्यते पाट्यतेऽपि च।। (सु. उ. 43/6)

4. रात को सोते समय : हिंगुद्विरुतरादि चूर्ण : 2 ग्राम (जल से)।

3. पैत्तिक हृद्रोग

निदान—

आहारसम्बन्धी—

1. कटु-लवण रसयुक्त भोजन।
2. उष्ण एवं क्षारयुक्त भोजन।
3. अजीर्ण रहने पर भी भोजन करने से।
4. अधिक मदिरा-पान।

विहारसम्बन्धी—देर तक धूप में रहने से।

मनसम्बन्धी—अत्यधिक क्रोध।

सम्प्राप्ति—

उपरोक्त निदानों का सेवन → हृदय में पित्त का प्रकोप → हृदय में विगुणता और हृदय में बाधा → **पित्तज हृद्रोग।**

लक्षण[1]—

1. तृष्णा
2. उष्मा
3. दाह
4. चोष
5. हृदय क्लम
6. धूमायन
7. मूर्च्छा
8. स्वेद
9. मुखशोष
10. मुख में तिक्त और अम्ल रस का पानी एवं डकार आना
11. इन्द्रियों में थकावट

चिकित्सा-सिद्धान्त—

1. निदान परिवर्जन
2. विश्राम—शारीरिक एवं मानसिक
3. आहारसम्बन्धी नियन्त्रण
4. दोष-बलादि का विचार करके वमन एवं विरेचन करवायें।
5. वमन-विरेचनोपरान्त निम्न का सेवन करवायें—
   (क) मधुर द्रव्यों से सिद्ध क्षीर या घृत का प्रयोग।
   (ख) षडंगपानीय या सौंफ का अर्क या अजवायन का अर्क पीने के लिये।
   (ग) अर्जुन की छाल का चूर्ण।

1. तृष्णोष्मा-दाह-चोषा: स्यु: पैत्तिके हृदयक्लम:।
धूमायनं च मूर्च्छा च स्वेद: शोषो मुखस्य च।। (सु. उ. 43/7)

व्यवस्था-पत्र (पित्तज हृद्रोग)—

1. प्रात:-सायं—
   प्रवाल पञ्चामृत : 250 मि. ग्रा.
   संगयशव पिष्टी : 250 मि. ग्रा.
   अकीक पिष्टी : 250 मि. ग्रा.
   श्वेत चन्दन चूर्ण : 2 ग्राम
   2 मात्रा (आँवले के साथ)।
2. भोजन के पूर्व यवानीषाडव चूर्ण : 6 ग्राम = 2 मात्रा (बिना अनुपान)।
3. भोजन के बाद अर्जुनाद्यरिष्ट : 30 मि. ली. = 2 मात्रा (समान जल मिलाकर पीना)।
4. रात को सोते समय अविपत्तिकर चूर्ण : 3 ग्राम सुखोष्ण दूध से।

3. कफज हृद्रोग

निदान—

आहार-सम्बन्धी—

1. अधिक भोजन करना।
2. गुरु एवं चिकने पदार्थों का अधिक सेवन।

विहार-सम्बन्धी—

1. किसी प्रकार का परिश्रम न करना।
2. अधिक समय तक सोये रहना।

मन-सम्बन्धी—चिन्ता रहित होना।

सम्प्राप्ति—

उपरोक्त निदानों का सेवन → हृदय में कफ दोष प्रकोप → रस दुष्टि → हृदय में विकृति → **कफज हृद्रोग।**

लक्षण[1]—

1. गौरव
2. लाला प्रसेक
3. अरुचि
4. स्तम्भ
5. मन्दाग्नि
6. मुख माधुर्य
7. तन्द्रा
8. ज्वर
9. कास
10. हृदय का जकड़ना

1. गौरवं कफसंस्रावोऽरुचि: स्तम्भोऽग्निमार्दवम्।
माधुर्यमपि चास्यस्य बलासावर्तते हृदि।। (सु. उ. 43/8)

चिकित्सा-सिद्धान्त—

1. निदान परिवर्जन
2. आहारसम्बन्धी नियन्त्रण
3. स्नेहन-स्वेदन कराकर वमन करवायें
4. वमनोपरान्त निम्न योगों का प्रयोग—

(क) त्रिवृतादि चूर्ण (ख) पिप्पल्यादि चूर्ण (ग) सूक्ष्मैलादि चूर्ण

व्यवस्था-पत्र (कफज हृद्रोग)—

1. प्रातः-सायं—

हृदयार्णव रस : 200 मि. ग्रा.
चिन्तामणि : 250 मि. ग्रा.
प्रवाल भस्म : 250 मि. ग्रा.
2 मात्रा (पिपरामूल चूर्ण 500 मि. ग्रा. तथा पुष्करमूल चूर्ण 1 ग्राम मधु के साथ)

2. 1 बजे व 3 बजे—

अकीक भस्म : 250 मि. ग्रा.
मुक्ता भस्म : 250 मि. ग्रा.
2 मात्रा (15 ग्राम च्यवनप्राश और मधु से)

3. भोजनोत्तर दो बार सारस्वतारिष्ट : 15 मि. ली. = 1 मात्रा (समान जल के साथ)।

4. रात में सोते समय हिंगूग्रगन्धादि चूर्ण : 3 ग्राम सुखोष्ण जल से।

4. त्रिदोषज हृद्रोग

निदान—वात-पित-कफ से होने वाले हृद् रोग के जो कारण कहे गये हैं, वे संयुक्त रूप से त्रिदोषज हृद्रोग के होते हैं।

लक्षण—वात-पित-कफ से अलग-अलग होने वाले हृद्रोग के जो लक्षण कहे गये हैं, उन लक्षणों का एकत्र होना त्रिदोषज हृद्रोग का लक्षण है।

चिकित्सा-सिद्धान्त—

1. निदान परिवर्जन
2. विश्राम—शारीरिक तथा मानसिक
3. आहारसम्बन्धी नियन्त्रण
4. त्रिदोषज हृद्रोग में आवश्यकतानुसार उपवास करना चाहिये और त्रिदोष-शामक आहार-विहार तथा औषध का सेवन करना चाहिये।

5. निम्न का सेवन उपयुक्त है—

(क) पुष्करमूल चूर्ण (ख) नागबला चूर्ण

व्यवस्था पत्र (त्रिदोषज हृद्रोग)—

1. प्रातः, मध्याह्न, सायं—

सिद्धमकरध्वज : 300 मि. ग्रा.
योगेन्द्र रस : 300 मि. ग्रा.
विश्वेश्वर : 300 मि. ग्रा.
हृद्रोगरत्नाकर : 300 मि. ग्रा.
3 मात्रा (अर्जुन चूर्ण, पुष्करमूल चूर्ण, बलादि घृत और चीनी के साथ)

2. 1 बजे व 2 बजे—

संगयशव पिष्टी : 300 मि. ग्रा.
अकीक पिष्टी : 200 मि. ग्रा.
शृंगभस्म : 500 मि. ग्रा.
हृदयार्णव : 250 मि. ग्रा.
प्रवाल पञ्चामृत : 250 मि. ग्रा.
2 मात्रा (पुष्करमूलादि चूर्ण और मधु से)

3. भोजनोत्तर दो बार अर्जुनाद्यरिष्ट : 30 मि. ली. = 2 मात्रा समान जल के साथ।

4. रात में सोते समय—

कुटकी चूर्ण : 2 ग्राम
यष्टीमधु चूर्ण : 1 ग्राम
1 मात्रा (चीनी मिला कर जल से)

5. कृमिज हृद्रोग

निदान—त्रिदोषज हृद्रोग से ग्रस्त असंयमी रोगी द्वारा तिल, दूध, गुड़ आदि का अत्यधिक सेवन।

सम्प्राप्ति—त्रिदोषज हृद्रोगी द्वारा तिल, गुड़ आदि का अत्यधिक सेवन → हृदय प्रदेश में ग्रन्थि बनना → ग्रन्थि में रस धातु द्वारा क्लेद की उत्पत्ति → क्लेद में कृमियों की उत्पत्ति → कृमियों का हृदय के एक से सभी प्रदेशों में जाकर हृदय का भक्षण करना → **कृमिज हृद्रोग।**

लक्षण[1]—

1. तीव्र पीड़ा	4. उत्क्लेद	7. हृल्लास	10. श्यावनेत्रता
2. तोद	5. ष्ठीवन	8. तम:प्रवेश	11. शोथ
3. कण्डू	6. शूल	9. अरुचि	

चिकित्सा-सिद्धान्त—

1. निदान परिवर्जन।
2. विश्राम—शारीरिक तथा मानसिक।
3. आहारसम्बन्धी नियन्त्रण।
4. कृमिज हृद्रोग में प्राय: जब वायु का मार्ग रुक जाता है तो वह वायु आमाशय में प्रकुपित होती है; इसलिये शोधन, लंघन एवं पाचन औषध का प्रयोग करना चाहिये।
5. रोगी को वायविडंग, पलाशबीज, निशोथ चूर्ण, छोटी इलायची मिलाकर दें ताकि उसे विरेचन हो जाय।
6. विरेचन के उपरान्त निम्न योगों का प्रयोग करायें—

(क) पुष्करादि क्वाथ (ख) करञ्जादि वटी (ग) नवायस लौह

व्यवस्था-पत्र—

1. 3-3 घण्टे पर 4 बार—

कृमिमुद्गर रस	: 1 ग्राम
पलाशबीज चूर्ण	: 4 ग्राम
शृंगभस्म	: 1 ग्राम
अर्जुन चूर्ण	: 4 ग्राम
	4 मात्रा (मधु से)

2. भोजनोत्तर—

अर्जुनारिष्ट	: 15 मि. ली.
विडङ्गासव	: 15 मि. ली.
	2 मात्रा (समान जल से)

3. रात में सोते समय आरोग्यवर्द्धिनी वटी : 1 ग्राम (सुखोष्ण जल से)

हृद्रोग के उपद्रव—1. क्लम, 2. अवसाद, 3 भ्रम एवं 4. शोष।

---

1. तीव्रार्तितोदं क्रिमिजं सकण्डूम्। (च. चि. 26/80)
उत्क्लेद: ष्ठीवनं तोद: शूलं हृल्लासकस्तम:।
अरुचि: श्यावनेत्रत्वं शोषश्च क्रिमिजे भवेत्।। (सु. उ. 43/9)

हृद्रोग में पथ्य-अपथ्य—

पथ्य—अगहनी चावल, जौ, जांगल मांस, परवल, करेला, मरिच, सेंधा नमक, मुनक्वा, तक्र, पुराना गुड़, सोंठ, अजवायन, लहसुन, हरड़, कूठ, तुम्बरु, अनार, अमलतास, नई मूली, अदरक, सिरका, मद्य और मधु हितकर हैं।

स्वेदन, विरेचन, वमन, लंघन, बस्ति का प्रयोग पथ्य है।

अपथ्य—तृष्णा, छर्दि, मूत्र, मल, अपान वायु, शुक्र, कास, उद्गार, श्रमज श्वास और आंसुओं का रोकना अहितकर है। भेड़ दूध, दूषित जल, कषाय रस के पदार्थ, विरोधी आहार, उष्ण, गुरु, तिक्त, अम्ल द्रव्य, पत्रशाक, शुष्क शाक, क्षार, महुये का फल, दतुवन और रक्तस्रावण अपथ्य है।

10 अग्निमांद्य

अन्न द्वारा देह, धातु, ओज, बल आदि का पोषण होना अग्निबल पर निर्भर है, अग्नि के अभाव में सब धातुओं की पोषक धातु—रस धातु की उत्पत्ति नहीं होती। इसीलिये वाग्भट ने अग्निमांद्य को अधिकतर रोगों का मूल कारण माना है। विसूचिका, अलसक, विलम्बिका आदि के अतिरिक्त अतिसार, ग्रहणी, अर्श इत्यादि रोगों का प्रमुख कारण भी अग्निमांद्य ही है। खाये हुये अन्न का ठीक प्रकार से परिपाक न होने के कारण आम रस की उत्पत्ति होती है, जिससे आमजन्य व्याधियाँ होती हैं; जैसे— आमज्वर, आमवात इत्यादि। चरक के मतानुसार अग्नि के 13 भेद किये गये हैं—(1) जठराग्नि, (2) 7 धात्वग्नियाँ, (3) 5 भूताग्नियाँ, इसमें जठराग्नि को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। शरीर में रहने वाली सभी 13 प्रकार की अग्नियों में प्रधान पाचक अग्नि मानी गयी है, पाचक अग्नि ही शेष 12 प्रकार की अग्नियों का मूल है। पाचक अग्नि की वृद्धि होने से शेष अग्नियों की वृद्धि होती है और क्षीण होने पर शेष अग्नियाँ भी क्षीण हो जाती हैं। इसलिये सावधान होकर विधिपूर्वक अन्न और पानस्वरूप ईन्धन के द्वारा पाचकाग्नि की रक्षा करनी चाहिये। चरक ने कफ के बाहुल्य को अग्निमांद्य का विशेष कारण या हेतु माना है। कफजन्य पदार्थ जैसे— गुरु, अतिस्निग्ध, मधुर, द्रव, शीत, अभिष्यन्दी आहार के अतिसेवन से तथा दिवास्वप्न, व्यायाम न करना, आलस्य, भय, चिन्ता, शोक, हर्ष, ईर्ष्या इत्यादि से अग्निमांद्य हो जाता है। अग्निमांद्य में कफप्रधान त्रिदोष प्रकोप के कारण आहार का अविपाक होता है; जिससे गौरव, स्निग्धता, प्रसेक, आलस्य आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। अग्निमांद्य में दीपन, वातानुलोमन, पाचन, स्नेहन आदि का चिकित्सा में विवेकपूर्ण प्रयोग करना चाहिये।

प्रमुख सन्दर्भ—

1. चरकसंहिता, चिकित्सा स्थान, अध्याय 15
2. चरकसंहिता, विमान स्थान, अध्याय 2
3. सुश्रुतसंहिता, उत्तरतन्त्र, अध्याय 56
4. भावप्रकाश, मध्य प्रकरण 6

निदान[1]—

आहारजन्य	विहारजन्य	मानसिक
गुरु पदार्थों का अतिसेवन	दिवास्वप्न	भय
अतिस्निग्ध	व्यायाम न करना	चिन्ता
मधुर	आलस्य	शोक
द्रव		हर्ष
शीत		ईर्ष्या
अभिष्यन्दी भोजन का सेवन		मनोग्लानि
अत्यम्बु पान		

↓

त्रिदोष प्रकोप

समान वायुक्षय — पाचक पित्तक्षय — क्लेदक कफवृद्धि

↓

अग्निमांद्य

लक्षण[2]—

अग्निमांद्य

तृप्ति, मधुरास्यता, मल-मूत्र-नेत्र-त्वचा का श्वेत होना, आलस्य, प्रसेक, स्निग्धता, गौरव

सम्प्राप्ति—

कफप्रधान त्रिदोष-प्रकोपक हेतु → कफप्रधान दोषप्रकोप → आहार का अविपाक → अल्पाहार का भी अपाचन, आमोत्पत्ति शिरोगौरव, लालाप्रसेक आदि → **अग्निमांद्य।**

चिकित्सा सूत्र

1. रोगी को स्नेह का उपयोग करायें।
2. विविध प्रकार के आसव, अरिष्ट, अग्निदीपक चूर्ण, क्वाथ व हितकर आहार-विहार का सेवन।
3. अग्नि की रक्षा की दृष्टि से सम मात्रा में आहार कराने से अग्निबल की वृद्धि होती है।

---

1. अत्यम्बुपानाद्विषमाशनाद्वा सन्धारणात् स्वप्नविपर्ययाच्च
कालेऽपि सात्म्यं लघु चापि भुक्तमन्नं न पाकं भजते नरस्य।
ईर्ष्या-भय-क्रोध-परिक्षतेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक्परिणाममेति।। (सु. सू. 46/499-500)

2. स्वल्पाऽपिनैव मन्दाग्नेर्मात्रा भुक्ता विपच्यते।
छर्दिः सादः प्रसेकः स्याच्छिरोजठरगौरवम्।। (भा. प्र. म. 6/2)

4. अग्निमांद्य से वातादि दोष तथा रस-रक्तादि धातुओं की विषमता न होने पाये। इसका ध्यान रखते हुये अग्नि को बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये।

सामान्य चिकित्सा

1. सिरका और आर्द्रक सम भाग में मिलाकर खाने से अग्निमांद्य नष्ट हो जाता है।
2. अग्निमांद्य वटी, चित्रकादि वटी, हिंग्वादि वटी, सञ्जीवनी वटी का प्रयोग।

वातज अग्निमांद्य	शिवाक्षार पाचन चूर्ण (सर्वोत्तम)
पित्तज अग्निमांद्य	सितोपलादि चूर्ण/यवानीषाडव चूर्ण (हितकर)

3. अग्निमांद्यज रोगों में मधूकासव, मूलासव, पिप्पलीमूलादि चूर्ण, क्षारघृत, क्षारगुटिका का प्रयोग लाभकर होता है।

व्यवस्था-पत्र—

1. अग्नितुण्डी वटी : 500 मि. ग्रा.
   शङ्खभस्म : 1 ग्रा.
   रामबाण रस : 500 मि. ग्रा.
   सञ्जीवनी वटी : 500 मि. ग्रा.
   3 मात्रा (मधु से 4-4 घण्टे पर दिन में तीन बार)
2. हिंग्वादि वटी : 2 गोली = 1 मात्रा (चूसनार्थ भोजन के पाँच मिनट पूर्व)।
3. यवानीषाडव चूर्ण 5 मि. ग्रा.-10 मि. ग्रा. (भोजन के साथ)।
4. द्राक्षासव : 25 मि. ली. = 1 मात्रा (भोजनोत्तर 2 बार)।
5. अविपत्तिकर चूर्ण : 5 ग्रा. = 1 मात्रा (रात में सोते समय उष्णोदक से)।

11 अजीर्ण

भुक्त अन्न का पाचन तथा शरीर की पुष्टि एवं जीवन के लिये आवश्यक सम्पूर्ण चयापचयात्मक क्रियायें अग्नि व्यापार के अन्तर्गत आती हैं। इसीलिये चरक ने कहा है कि अग्नि की उपस्थिति एवं अनुपस्थिति पर ही प्राणी का जीवन-मरण अवलम्बित है; क्योंकि अन्न द्वारा देह, धातु, ओज, बल आदि का पोषण होना अग्निबल पर ही निर्भर करता है। सभी अग्नियों में जठराग्नि प्रबल होती है। जठराग्नि स्वस्थान में रहते हुये भी अन्य सभी प्रकार की अग्नियों का पोषण करती है। अतः इसे प्रधान माना गया है। कविराज गणनाथ सेन ने मुख द्वारा आन्त्र में आये हुये अन्न का विविध पाचक रसों द्वारा पाचन करके रस व मलरूप में परिणत करने वाली शक्ति को कायाग्नि या जठराग्नि कहा है। वस्तुतः अग्नि से स्थूल पाचक रसों का नहीं; अपितु उनको शक्ति देने वाली अदृश्य एवं सूक्ष्म अग्नि शक्ति का ही ग्रहण करना चाहिये।

वस्तुतः जठराग्नि पित्त का ही एक रूप है। श्लेष्मा के गुण अग्नि के पूर्णतया विपरीत होने से आयुर्वेद के 'ह्रासहेतुविशेषश्च' सिद्धान्त के अनुसार अग्नि को मन्द करते हैं। इसी प्रकार पित्त के गुण अग्निजातीय होने से **सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणं** सिद्धान्त से अग्नि को और बढ़ा कर तीक्ष्ण करता है। वायु योगवाही होने से अग्नि को विषम करता है।

कफ → मन्दाग्नि → कफज रोग → अल्प मात्रा भी नहीं पचाती।
पित्त → तीक्ष्णाग्नि → पित्तज रोग → अति मात्रा भी पच जाती है।
वात → विषमाग्नि → वातज रोग → कभी पाचन ठीक कभी नहीं।
समत्रिदोषावस्था → समाग्नि → स्वास्थ्य → सममात्रा ठीक पचती है।

इस प्रकार समाग्नि पुरुष में भी सम मात्रा में भुक्त अन्न ही पचता है। ऐसे व्यक्ति में भी मात्रावत् भोजन न करने से अजीर्ण हो सकता है। इसके विपरीत तीक्ष्णाग्नि पुरुष द्वारा अतिमात्रा में किया गया हर प्रकार का भोजन पच तो जाता है; पर उसका पूर्ण लाभ नहीं मिलता है; क्योंकि समस्त भुक्त अन्न भस्म हो जाता है। उसका रस एवं मल नहीं बनता है। उक्त अवस्था में कफ का अत्यन्त क्षय होता है और पित्त अत्यन्त कुपित होकर वायु की सहायता से जाठराग्नि को अत्यन्त प्रबल बना देता है। इस अवस्था को भस्मक रोग कहा गया है।

चरकसंहिता में इस अवस्था को तीक्ष्णाग्नि मान कर इसकी चिकित्सा बताई गयी

है। इसके विपरीत कफ के बाहुल्य के प्रभाव से अग्नि मन्द हो जाती है। अग्निमांद्य होने से भोजन का परिपाक नहीं होता है। भोजन की अपरिपक्वता को अजीर्ण कहते हैं। इस प्रकार का मूल अग्निमांद्य ही है। भोजन जब नहीं पचता तो उस अपक्व अन्नरस को आम कहते हैं। एक तरह से अजीर्ण आम का पर्याय है। इस आम आहार पाक से बहुत कम मात्रा में अन्नरस का निर्माण होता है और अधिक अंश में किट्ट बन जाता है तथा किट्ट से वायु की वृद्धि होने से पाचन प्रणाली की अन्तिम गतिविधियाँ भी अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। जब अन्नरस से रसादि धातुओं का निर्माण होता है तो वहाँ भी आकर वह अन्नरस धातुओं के किट्टस्वरूप कफ तथा पित्त की वृद्धि करता है। वस्तुत: अधिकांश महास्रोतगत व्याधियों का मूल अग्निमांद्य एवं अजीर्ण है। संहिताकारों ने इसे कोई स्वतन्त्र रोग न मानते हुये इसका पृथक् वर्णन नहीं किया है। विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न लक्षणों वाले अजीर्ण की उत्पत्ति होती है, जिन्हें आमाजीर्ण, विदग्धाजीर्ण, विष्टब्धाजीर्ण, रसशेषाजीर्ण, दिनपाकी, प्राकृत तथा अन्नविष अजीर्ण कहा है। विसूचिका, अलसक, विलम्बिका आदि सद्य: अजीर्णज रोगों के अतिरिक्त अतिसार, ग्रहणी, अर्श आदि रोगों का भी प्रमुख हेतु अग्निमांद्य है।

प्रमुख सन्दर्भ—

1. चरक-सुश्रुत तथा वाग्भट की संहिताओं में कोई स्वतन्त्र अध्याय नहीं है।
2. चरकसंहिता, चिकित्सा स्थान, अध्याय 15 में अग्निमांद्य तथा अजीर्ण से सम्बन्धित विस्तृत वर्णन उपलब्ध है।
3. चरकसंहिता, विमान स्थान, अध्याय 2 (त्रिविध कुक्षीय विमान) में आहार राशिविषयक मात्रा और अमात्रा के फल ज्ञान के सन्दर्भ में विसूचिका, अलसक व दण्डालसक का वर्णन मिलता है।
4. सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान अध्याय 46 (अन्नपान विधि) के अंतिमांश में अजीर्ण का पूर्ण वर्णन तथा इस विषय से सम्बन्धित अन्य वर्णन मिलते हैं।
5. सुश्रुत संहिता, उत्तर तन्त्र, अध्याय 56 (विसूचिका-प्रतिषेध) में विसूचिका, अलसक, विलम्बिका का वर्णन है।
6. अष्टाङ्गहृदय, चिकित्सा स्थान, अध्याय 10 (ग्रहणी दोष चिकित्सा) में उदावर्त, अजीर्ण, भस्मक, मन्दाग्नि का वर्णन है।
7. माधव निदान, अग्निमांद्याजीर्णविसूचिकविलम्बिका अध्याय।

अजीर्ण—खाये हुये भोजन का ठीक ढंग से न पचना (रोगसमूह का मूल)।

निदान—

आहारसम्बन्धी[1]	**विहारसम्बन्धी**	**मन:सम्बन्धी**[2]
अत्यम्बुपान	वेगविधारण	ईर्ष्या
विषमाशन	स्वप्नविपर्यय	भय
असात्म्य भोजन	असुखकर शैय्या	क्रोध
अध्यशन	रात्रि जागरण	चिन्ता
अभिष्यन्दी भोजन		शोक
		मनोग्लानि
		अन्न से द्वेष

↓
सम्प्राप्ति
↓
आमाशयस्थ दोषों की क्रिया
↓
जठराग्नि दौर्बल्य
↓
अग्निमांद्य
↓
अजीर्ण

सामान्य लक्षण[3]—

अग्निमांद्य

भ्रम, जृम्भा, दौर्बल्य, शिर:शूल, अंगमर्द, तृष्णा

छर्दि, प्रवाहण, अरुचि, अविपाक, अन्नविष, मूर्च्छा

---

1. अत्यम्बुपानाद्विषमाशनाच्च संधारणात्स्वप्नविपर्ययाच्च।
कालेऽपि सात्म्यं लघु चापि भुक्तमन्नं न पाकं भजते नरस्य।। (सू. सू. 46/500)
2. ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन लुब्धेन रूग्दैन्यनिपीड़ितेन।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक्परिपाकमेति।। (सू. स. 46/501)
3. ग्लानिगौरवविष्टम्भभ्रममारुतमूढ़ता:।
विबन्धो वा प्रवृत्तिर्वा सामान्याजीर्णलक्षणम्।। (मा. नि. 2/27)
तस्य लिङ्गमजीर्णस्य विष्टम्भ: सदनं तथा।
शिरसो रुक् च मूर्च्छा च भ्रम: पृष्ठकटिग्रह:।।
जृम्भाऽङ्गमर्दस्तृष्णा च ज्वरश्छर्दि: प्रवाहणम्।
अरोचकोऽविपाकश्च घोरमन्नविषं च तत्।। (च. चि. 15/45-46)

अजीर्ण-भेद[1]

आमाजीर्ण	विदग्धाजीर्ण[2]	विष्टब्धाजीर्ण[3]	रसशेषाजीर्ण
कफवृद्धि	पित्तवृद्धि	वातवृद्धि	कषायशेष
आमाशयिक पाक का मधुरी भाव	क्षुद्रान्त्र ग्रहणी में आहार का अम्ल विपाक	पक्वाशय में आहार का कटुविपाक	
अग्निमांद्य	अग्निमांद्य	अग्निमांद्य	

विशेष लक्षण

शरीरगौरव	भ्रम	शूल	हृदय गौरव
उत्क्लेश	मूर्च्छा	आध्मान	हृदय अशुद्धि
कपोल	तृष्णा	विविध वातिक वेदनायें	अरुचि
अक्षिकूटों में शोथ	विविध पैत्तिक लक्षण	मल अधोवायु की अप्रवृत्ति, स्तम्भ	
अविदग्ध उद्गार	विदग्ध उद्गार		
	स्वेद, दाह	मोह अङ्गपीड़न	

दिनपाकी अजीर्ण—24 घण्टे में भोजन का पूर्ण पाक न होकर दूसरे दिन तक होता है।

प्राकृत अजीर्ण—दिनपाकी अजीर्ण रोगजनक नहीं है, स्वाभाविक है, प्राकृत रूप से पाये जाने के कारण इसे प्राकृत कहते हैं।

लीन अजीर्ण—कभी-कभी आम अत्यधिक अल्प होता है। उसे ही लीन आमाजीर्ण कहते हैं। इस अवस्था में मनुष्य अजीर्ण में भी भोजन कर लेता है।

---

1. आमं विदग्धं विष्टब्धं कफपित्तानिलैस्त्रिभिः।
अजीर्णं केचिदिच्छन्ति चतुर्थं रसशेषतः।। (सु. सू. 46/499)
अजीर्णं पञ्चमं केचिन्निर्दोषं दिनपाकि च।
वदन्ति षष्ठं चाजीर्णं प्राकृतं प्रति वासरम्।। (मा. नि. 6/5-6)
2. तत्रामे गुरुतोत्क्लेदः शोथो गण्डाक्षिकूटगः।
उद्गारश्च यथा भुक्तमविदग्धः प्रवर्तते।।
विदग्धे भ्रमतृण्मूर्च्छाः पित्ताच्च विविधा रुजः।
उद्गारश्च सधूमाम्लः स्वेदो दाहश्च जायते। (मा. नि. 6/10-11)
3. विष्टब्धे शूलमाध्मानं विविधा वातवेदना।
मलवाताप्रवृत्तिश्च स्तम्भो मोहोऽङ्गपीड़नम्।।
रसशेषेऽन्नविद्वेषो हृदयाशुद्धिगौरवे। (मा. नि. 6/12)

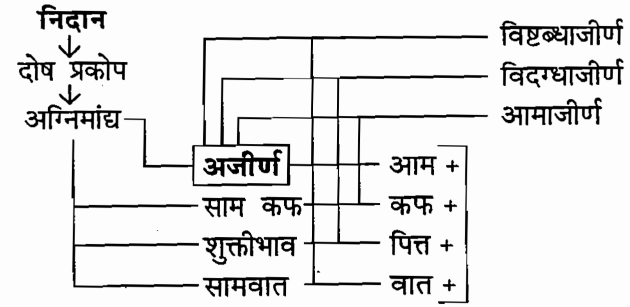

चिकित्सा सूत्र

1. सभी अजीर्णों में त्रिकटु, सम भाग लेकर पीसकर एक द्रव्य के अष्टमांश हींग तथा सेंधानमक मिलाकर पुनः पीसकर सुखोष्ण कर उदर पर लेप कर रोगी को शान्त स्थान पर शयन करवायें।

2. अजीर्ण में लंघन, दीपन, पाचन औषधियों का सेवन या लघु भोजन करवायें।

3. लंघन करवाने हेतु—आर्द्रक और नमक चूसना चाहिये या यवानी षाडव या लवणभास्कर चूर्ण चूसें।

4. प्रातःकाल में अजीर्ण की आशंका होने पर कुछ देर और सोना चाहिये या भूनी हुई छोटी हर्रे चूर्ण तथा सोंठ चूर्ण (2-2 ग्राम) + 1 ग्राम सेंधा नमक मिलाकर ठण्डे पानी से खायें।

5. उपवास के बाद जब भोजन करना अभीष्ट हो तो रोगी की चिकित्सा का ध्यान रखकर करेला, आँवला आर्द्रक तथा मण्ड पेयादि दें।

सामान्य चिकित्सा—

आमाजीर्ण—सामान्यतः अपतर्पण उपवास कराना व लघु भोजन देना चाहिये।

आमदोष—(अल्प)—उपवास
(मध्य)—उपवास + पाचन औषध
(तीव्र)—विरेचन से संशोधन

विदग्धाजीर्ण—1. लंघन कराकर दोषशुद्धि करें एवं 2. शीतल जल का पुनः सेवन करें।

विष्टब्धाजीर्ण—1. वायु के अनुमोलन का प्रयत्न करें, 2. गर्म पानी के थैले में पानी भरकर स्वेदन करें, 3. दिन में सोना, 4. गुदवर्ति प्रयोग एवं 5 नमक मिश्रित गर्म जल का प्रयोग।

रसशेषाजीर्ण—1. शयन, 2. उदर प्रदेश में स्वेदन, 3. लंघन एवं 4. पाचनौषधि प्रयोग।

व्यवस्था-पत्र—

अमाजीर्ण—

1. अजीर्ण कण्टक रस : 300 मि. ग्रा.
   शंख भस्म : 300 मि. ग्रा.
   अग्नितुण्डी वटी : 300 मि. ग्रा.
   सितोपलादि चूर्ण : 2 ग्राम
   2 मात्रा (मधु से प्रात: सायं)।
2. हिंग्वादि/रसोनादि वटी : 2 गोली (चूसनार्थ भोजन के तुरन्त पूर्व 2 बार)।
3. चित्रकादि वटी : 2 गोली
   विड्लवणादि वटी : 2 गोली
   भास्कर लवण : 2 ग्राम
   2 मात्रा (जल से भोजन के बाद)।
4. वैश्वानर चूर्ण : 5 ग्राम = 1 मात्रा (उष्णोदक से रात में सोते समय)।

विदग्धाजीर्ण—

1. अविपत्तिकर चूर्ण : 6 ग्राम
   शतपत्र्यादि चूर्ण : 6 ग्राम
   प्रवाल भस्म : 300 मि. ग्रा.
   मुक्ताशुक्ति : 300 मि. ग्रा.
   : 3 मात्रा (चीनी मिले नींबू जल से दिन में तीन बार)।
2. महाशंख वटी : 4 गोली
   अष्टाङ्ग लवण : 2 ग्राम
   2 मात्रा (जल से भोजनोत्तर 2 बार)।
3. यष्ट्यादि चूर्ण : 3 ग्राम = 1 मात्रा (उष्णोदक से रात में सोते समय)।

12 विसूचिका

जिस रोग में अजीर्ण से प्रकुपित वात अंगों में और उदर में सूई चुभने जैसी वेदना उत्पन्न होती है, उसे विसूचिका कहते हैं।[1] अजीर्ण से आम की उत्पत्ति होती है। यह आम अवस्थाभेद से दो प्रकार का होता है। एक आम अन्न जिसे चरक ने आमविषक की संज्ञा दी है; दूसरा आमरस, जिसके लिये जठराग्नि की मन्दता के अतिरिक्त धात्वग्निमांद्य भी उत्तरदायी होता है। आम अन्न पूर्णत: जठराग्नि से उत्पन्न होता है। इसका प्रभाव स्थानीय तथा सद्य:कालिक होता है, जबकि आमरस जठराग्नि की मन्दता के साथ-साथ धात्वग्नि की मन्दता से उत्पन्न होता है। इसका प्रभाव सार्वदैहिक और चिरकालिक होता है। तदनुसार आम अन्न या अन्नविष से विसूचिका, अलसक, विलम्बिका तथा इसी प्रकार के अन्य सद्य:कालिक स्थानीय प्रभाव वाले महास्रोतगत रोग उत्पन्न होते हैं; जबकि आमरस से आमवात जैसे सार्वदैहिक चिरकालिक रोगों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार विसूचिका अजीर्ण से उत्पन्न होने वाला सद्य: प्रभावी रोग है। अजीर्ण के अतिरिक्त मिथ्या आहार-विहार, अजीर्ण में भोजन करना, बहुत अधिक भोजन करना इत्यादि आमाजीर्ण के समान इसके निदान हैं। इसमें चावलों के धोवन के रंग का सफेद पतला दस्त बिना किसी आयास के आने लगते हैं और हाथ-पैर की पेशियों में ऐंठन, पिपासा, भ्रम, मूत्राघात आदि लक्षण होते हैं। मूत्राघात इस रोग का प्रमुख लक्षण है। विसूचिका रोग में वमन और अतिसार—दोनों ही लक्षण एक साथ होना आवश्यक है; क्योंकि सुश्रुत ने अधोगा (विरेचनमात्र युक्त) दोष प्रवृत्ति को आमातिसार तथा ऊर्ध्वगा दोषप्रवृत्ति को छर्दि माना है।

चरकाचार्य ने चरक विमान अध्याय दो में लिखा है कि ऊर्ध्व और अधो तथा उभयमार्ग से आमादि दोष प्रवृत्त होने पर उसे विसूचिका समझना चाहिये[2]। चरक ने आमातिसार को पृथक् नहीं माना। चरक ने चिकित्सा स्थान अध्याय 56 में ग्रहणी के अन्तर्गत विसूचिका का वर्णन किया है। आजकल कालातिसार, हैजा और Cholera शब्द के लिये भी विसूचिका शब्द का प्रयोग होता है। वस्तुत: इन दोनों के लक्षणों में बहुत समता है। यह रोग अत्यन्त संक्रामक है तथा Coma के आकार के जीवाणु Vibrio cholera से, दूषित जल तथा खाद्यान्न के सेवन से उत्पन्न होता है। विसूचिका

1. सूचीभिरिव गात्राणि तुदन् सन्तिष्ठतेऽनिल:।
   यस्याजीर्णेन सा वैद्यैरुच्यतेऽतिविसूचिका।। (सु. उ. 56/4)
2. तत्र विसूचिकामूर्ध्वं चाधश्च प्रवृत्तानामदोषां यथोक्तरूपां विद्यात्। (च. वि. 2/11)

के उपद्रव स्वरूप—अति तीव्र सन्ताप, मूत्राघात, कर्णमूलिक शोथ, प्रवाहिका, मूत्र-विषमयता, न्यूमोनिया, पित्ताशय शोथ, गर्भपात, हृत्कार्यभेद (Heart failure), विसूचिका में अवसाद की अवस्था (Stage of collapse), जिसमें शाखाओं में नीलिमा (Cyanosis) हो जाता है। सुश्रुत ने विसूचिका से होने वाले Dehydration की अवस्था का नामकरण विसूचिका शोष किया है।

सन्दर्भ—

1. चरक विमान स्थान-2 (आहारराशि मात्रा के सन्दर्भ में)
2. सुश्रुत उत्तर तन्त्र-56 (विसूचिका प्रतिषेध)
3. माधव निदान-6 (अग्निमांद्याजीर्णविसूचिकालसकविलम्बिकानिदानम्)

निदान—

1. मिथ्या आहार-विहार
2. अजीर्ण में भोजन करना
3. बहुत अधिक भोजन करना
4. दूषित जल तथा दूषित अन्न का सेवन

सम्प्राप्ति

कफदुष्टि	पित्तदुष्टि	वातदुष्टि
↓	↓	↓
आमाशय	पित्ताशय	पक्वाशय
↓	↓	↓
अन्नवहस्रोतस ←	← अग्निमांद्य →	→ पुरीषवह स्रोतस्
↓	↓	↓
स्रोतोदुष्टि	आमविष	स्रोतोदुष्टि
↓	↓	↓
विमार्गगमन	रसदुष्टि	अतिप्रवृत्ति लक्षण

↓

विसूचिका

सम्प्राप्ति घटक—

दोष : कफवृद्धि, पित्तह्रास
दूष्य : पाचकाग्नि, रस
अधिष्ठान : आमाशय, पक्वाशय

लक्षण[1]—

1. मूर्च्छा
2. अतिसार
3. वमथु (वमन)
4. पिपासा (बार-बार प्यास लगना)

1. मूर्च्छाऽतिसारो वमथुः पिपासा शूलं भ्रमोद्वेष्टन-जृम्भ-दाहाः। वैवर्ण्य-कम्पो हृदये रुजश्च भवन्ति तस्यां शिरसश्च भेदाः।। (सु. उ. 56/6)

5. शूल
6. भ्रम
7. उद्वेष्टन (हाथ पैरों में ऐंठन का होना)
8. जम्भाई का आना
9. शरीर में दाह
10. वैवर्ण्य
11. शरीर में कँपकँपी होना
12. हृदय में बार-बार पीड़ा का होना
13. सिर में फटने की-सी पीड़ा का होना

प्रमुख लक्षण—

1. प्रारम्भ में मल बहुत, बाद में जल अथवा तण्डुलोदक-सदृश अतिसार (Rice water stool)।
2. अतिसार के समान ही कुछ समय बाद वमनों का होना।
3. मूत्रावरोध, प्यास का बार-बार लगना तथा मुख का सूखना।
4. शरीर पर पसीना आना, स्पर्श में शीतता, स्वर का मन्द पड़ना।
5. चेहरे का नीलाभ दिखलायी देना, आँखों का भीतर धंसना।
6. शरीर का ढीला पड़ जाना, गालों का बैठ जाना।
7. नाडी की गति का क्रमशः क्षीण होते जाना।
8. हाथ-पैरों में ऐंठन का होना तथा रक्तभार का क्रमशः घटना।

उपद्रव[1]—1. निद्रानाश, 2. अरति, 3. कम्प, 4. मूत्राघात एवं 5. विसंज्ञता—ये विसूचिका के उपद्रव हैं।

असाध्यता के लक्षण[2]—

1. दन्त-ओष्ठ, नख का श्याव (नील कृष्ण) पड़ना।
2. अल्पसंज्ञता (बेहोशी)।
3. निरन्तर वमन।
4. नेत्र, अक्षिकूट का भीतर धँस जाना।
5. स्वर क्षीण हो जाता है।
6. सन्धिबन्धन शिथिल हो जाते हैं।

चिकित्सा सूत्र[3,4]

1. लंघन (अपतर्पण, आम प्रदोषज रोगों की निवृत्ति हेतु)।

1. विसूच्या उपद्रवाः—निद्रानाशोऽरतिः कम्पो मूत्राघातविसंज्ञता। अमी ह्युपद्रवा घोरा विसूच्या पञ्च दारुणाः।। (मा. नि. 6/25)
2. यः श्यावदन्तौष्ठनखोऽल्पसंज्ञो वम्यर्दितोऽभ्यन्तरयातनेत्रः। क्षामः स्वरः सर्वविमुक्तसन्धिर्यायान्नरः सोऽपुनरागमाय।। (सु. उ. 56/11)
3. विसूचिकायां तु लङ्घनमेवाग्रे विरिक्तवच्चानुपूर्वी।। (च. वि. 2/13)
4. साध्यासु पाष्र्योर्दहनं प्रशस्तमग्निप्रतापो वमनञ्च तीक्ष्णम्।। (सु. उ. 56/12)

2. पथ्य सेवन (आनुपूर्वी क्रम से विरिक्त पुरुष को)।
3. अग्निकर्म (दोनों पैरों की एडियों में संज्ञाप्रबोधन के लिये)।
4. अग्निसेक (आमपाचन के लिये)।
5. वमन (मदनफलादि तीक्ष्ण वामक द्रव्यों द्वारा)—

(क) विसूचिका के रोगी को अकेले में या संक्रामक रोग चिकित्सालय में स्वच्छ हवादार कमरे में मृदु शैय्या पर सुलाना चाहिये।

(ख) रोगी को बिस्तर पर ही वमन-विरेचन की सुविधा उपलब्ध करानी चाहिये।

(ग) रोगी के मल-मूत्रादि को गड्ढे में गड़वा देना चाहिये।

(घ) रोगी के वस्त्रों की सफाई Formaline के घोल में धोकर तथा उबाल कर करनी चाहिये।

(ङ) खाद्य पेय पदार्थों को मक्खियों से बचाकर रखना चाहिये।

(च) रोगी को कम्बल या चादर से ढक कर रखना चाहिये।

(छ) रोगी का सिरहाना पैताने की अपेक्षा नीचा रखना चाहिये।

(ज) रोगी की प्यास के शमनार्थ उसे बरफ के टुकड़े चूसने के लिये दें।

(झ) तृषाशमन—सौंफ/पित्तपापडे का अर्क अथवा लौंग-इलायची डालकर उबाला जल थोड़ा-थोड़ा।

(ञ) वमन, प्यास और दाह शमन—इमली का पानी, नींबू का पानी एवं निम्ब जल।

औषध-प्रयोग—

1. वमनशमन—पत्थरचूर पत्र स्वरस-1 चम्मच (15-15 मिनट पर)।
2. विसूचिका की आरम्भिक अवस्था—प्याज स्वरस 2-3 चम्मच (10-10 मिनट पर)।
3. वमन और अतिसार-शमन—आम की गुठली मज्जा + बेलफल की कच्ची मज्जा समभाग-क्वाथ-4-4 चम्मच।
4. अपामार्ग मूल को जल में पीसकर पिलाना लाभप्रद है।
5. लाल मिर्च-10 नग पीसकर 100 ग्राम चीनी के शर्बत में घोल कर देना।
6. पाश्यादि चूर्ण-हरड़, वचा, शुद्ध हिंगु, इन्द्रयव, लहसुन, सोंचल लवण, अतीस।
7. पिप्पलीयोगा:—पिप्पली, अजवायन, चूर्ण-काञ्जी उष्णोदक के साथ।
8. वैश्वानर चूर्ण।
9. हिंग्वाष्टक चूर्ण।
10. व्योषादि चूर्ण
11. सञ्जीवनी गुटिका, शङ्ख वटी।
12. चूसने के लिये हिंग्वादि वटी, गन्धक वटी अथवा लशुनादि वटी 1-1 गोली देते रहने चाहिये।

व्यवस्था-पत्र—

1. अग्नितुण्डी वटी : 100 मि. ग्रा.
   सञ्जीवनी वटी : 300 मि. ग्रा.
   रामबाण रस : 300 मि. ग्रा.
   कपर्दभस्म : 200 मि. ग्रा.
   1 मात्रा (पलाण्डुस्वरस या मधु से आधे-आधे घण्टे पर 6-7 बार)
2. प्रति 15 मिनट पर अमृतबिन्दु 5 बूंद छोटे बतासे में चूसने को देवें।
3. 20-20 मिनट पर गन्धकवटी, रसोन वटी या हिंग्वादि वटी 1-1 गोली चूसने को दें।
4. प्यास लगने पर सौंफ या पित्तपापडे का या अजवायन का अर्क 2-4 चम्मच दें।
5. वमन, अतिसार के कुछ वेग निकल जाने पर ग्राही एवं दीपनपाचन योग दें, जैसे—2-2 घण्टे पर, 5-6 बार।

   कर्पूर रस : 125 मि. ग्रा.
   पीयूषवल्ली : 125 मि. ग्रा.
   रामबाण : 125 मि. ग्रा.
   अजीर्णकण्टक : 125 मि. ग्रा.
   1 मात्रा (भुना हुआ जीरा 1 ग्राम और पलाण्डु स्वरस 1 चम्मच के साथ)
6. मुख में चूसने के लिये आलुबुखारा या बर्फ का टुकडा भूनी सौंफ या भूनी बड़ी इलायची व मधु के साथ चटाना चाहिये।

पथ्य—

1. लंघन पश्चात्—पेया (सुश्रुत)।
2. कृत मूंग/मसूर यूष + सेंधा नमक—अल्प मात्रा।
3. रोगी की रुचि तथा पाचन क्षमतानुसार—नींबू का शर्बत, फलों का रस।
4. दही लस्सी बर्फ डालकर।
5. मट्ठा।
6. साबूदाना या लाजमण्ड।
7. क्रमश:—

(क) पुराने चावल और मूंग की खिचड़ी।

(ख) करेला, परवल, नेनुआ, तरोई, सिरका, नींबूयुक्त हल्का और अल्प भोजन।

अपथ्य—

1. विरुद्ध आहार	6. हलवा
2. विबन्धकारक पदार्थ	7. उड़द
3. गुरु अन्न	8. चना, आलू
4. नया चावल या गेहूँ	9. चिकने पदार्थ
5. पूडी	10. दुर्जर पदार्थ

13 अलसक/विलम्बिका

जब सेवन किया हुआ आहार कफ तथा वायु से दूषित होकर न ऊपर की ओर, न ही नीचे की ओर गमन करता है, उसे अलसक कहते हैं तथा अजीर्ण के बाद आम अन्न से होने वाली व्याधि को विलम्बिका कहते हैं। विषमाशन, असात्म्य भोजन इत्यादि से दोष अपनी प्रकुपित अवस्था में पहुँचकर अग्निमांद्य करते हुये अजीर्ण की अवस्था को उत्पन्न करते हैं। अजीर्ण से आम अन्नरस की उत्पत्ति तथा दोष सेवन आम अन्न रस से अलसक, विसूचिका, विलम्बिका की उत्पत्ति होती है। अलसक में शूल का अनुभव होता है, जबकि विलम्बिका शूलरहित होती है। अलसक की असाध्य स्थिति को दण्डालसक कहते हैं, जिसमें रोगी का शरीर मल व मूत्र बाहर न निकलने के कारण दण्डे के समान अकड़ जाता है। अलसक को Acute intestinal obstruction तथा विलम्बिका को Paralytic illeus के लक्षण के साथ मिलाया गया है। अलसक की प्रारम्भिक स्थिति साध्य तथा बाद में कृच्छ्रसाध्य तथा विलम्बिका को असाध्य माना गया है। चरक, सुश्रुत, वाग्भट में स्वतन्त्र रूप से इनका वर्णन नहीं मिलता। चरकसंहिता में केवल विमान स्थान, अध्याय 2 त्रिविध कुक्षीय में आहार-राशिविषयक मात्रा और अमात्रा के फलज्ञान के सन्दर्भ में विसूचिका, अलसक व दण्डालसक का वर्णन मिलता है। माधवनिदान में अग्निमांद्य, अजीर्ण से होने वाली व्याधियों के अर्न्तगत विसूचिका, अलसक, विलम्बिका का वर्णन मिलता है।

प्रमुख सन्दर्भ—

चरक, विमान स्थान, अध्याय-2
सुश्रत, उत्तरतन्त्र, अध्याय-56
माधवनिदान, अध्याय-6

निदान—

अलसक[1]—(क) दुर्बल व्यक्ति, (ख) मन्दाग्नि ग्रस्त, (ग) मल/मूत्र के वेगों का रोकना, (घ) स्थिर गुरु, अतिरूक्ष शीतल, बासी तथा सूखा अन्न का सेवन।

1. दुर्बलस्याल्पाग्नेर्बहुश्लेष्मणो वातमूत्रपुरीषवेगविधारिण: स्थिरगुरुबहुरूक्षशीतशुष्कान्नसेविनस्तदन्नपानमनिलप्रपीडितं श्लेष्मणा च विबद्धमार्गमतिमात्रप्रलीनमलसत्वान्न बहिर्मुखीभवति, ततश्छर्दतीसावर्ज्यान्यामप्रदोषलिङ्गान्यभिदर्शयत्यतिमात्राणि। (च. वि. 2/12)

विलम्बिका[1]—(क) दुर्बल व्यक्ति, (ख) मन्दाग्नि ग्रस्त, (ग) मल/मूत्र के वेगों का रोकना, (घ) स्थिर गुरु, अतिरूक्ष शीतल, बासी तथा सूखे अन्न का सेवन, (ङ) कफ/वायु से अन्न दूषित (च) दुष्ट अन्न की स्थिरता।

सम्प्राप्ति—

उपरोक्त निदान → वात-कफ प्रकोप → वायु पीड़ित व कफ से अरुद्ध मार्ग अन्नपान → लीन अन्नपान का अलसभाव

अलसक → शूल   विलम्बिका → शूलरहित

लक्षण[2]—

1. कुक्षि प्रदेश में कसकर बन्धे होने जैसा प्रतीत होना।
2. रोगी का मूर्च्छित हो जाना।
3. कराहना।
4. अवरुद्ध एवं प्रतिलोम गति।
5. वायु का कुक्षि के ऊपरी भाग में भ्रमण करना।
6. अधो वायु और मल का पूर्णतः अवरोध होना।
7. बहुत प्यास लगना।
8. डकार आते रहना।

असाध्य लक्षण[3]—

1. दन्त, ओष्ठ तथा नख का नीला पड़ जाना।
2. बेहोशी होना।
3. वमन की प्रवृत्ति होना।
4. नेत्रों का भीतर धंस जाना।
5. स्वर का क्षीण होना।
6. सभी सन्धि-बन्धनों का ढीला पड़ जाना।

---

1. दुष्टं तु भुक्तं कफमारुताभ्यां प्रवर्तते नोर्ध्वमधश्च: यस्य।
विलम्बिका तां भृशदुश्चिकित्स्यमाचक्षते शास्त्रविद: पुराण:। (सु. उ. 56/9)
2. कुक्षिरानह्यतेऽत्यर्थं प्रताम्यति विकूजति।
निरुद्धो मारुतश्चापि कुक्षावुपरि धावति।।
वातवर्चोनिरोधश्च कुक्षौ यस्य भृशं भवेत्।
तस्यालस्कमाचष्टे तृष्णोद्गारावोधकौ।। (सु. उ. 56/7-8)
3. य: श्यावदन्तौष्ठनखोल्पसंज्ञश्छर्दिर्दितोभ्यन्तरयातनेत्र:।
क्षामस्वर: सर्वविमुक्तसन्धिर्यायान्नर: सोऽपुनरागमाय। (सु. उ. 56/11)

दण्डालसक

अजीर्णजनक निदान के सेवन से जब तीनों दोष प्रकुपित हो जाता है तथा शरीर में तिर्यक् गति करता हुआ शरीर को दण्डे के समान अकड़ लेता है, तो उसे दण्डालसक कहते हैं। इसमें अङ्गों का आकुञ्चन तथा प्रसारण स्तब्धित हो जाता है।

सापेक्ष निदान—

अलसक—1. अजीर्ण कफ, 2. वायु पित्त का संसर्ग नहीं है, 3. मल एवं अधोवायु का अवरोध, 4. उदरशूल, 5. साध्य, 6. प्रारम्भिक रोग, 7. दण्डालसक—एक भेद, Acute intestinal obstruction के लक्षण हैं।

विसूचिका[1]—1. अजीर्ण वायु, 2. पित्त का संसर्ग नहीं है, 3. मल एवं अधोवायु का अवरोध, 4. शूल, 5. साध्य, परन्तु जिनके दन्त-ओष्ठ-नख का नीला पड़ना, अल्पसंज्ञता आदि लक्षणों से युक्त-असाध्य, 6. चिरकालिक, 7. दण्डालसक—कोई सम्बन्ध नहीं, Gastroenteritis के लक्षण हैं।

विलम्बिका—1. अजीर्ण कफ, 2. पित्त का संसर्ग और अन्न भी विदग्धता, 3. मल एवं अधोवायु का अवरोध, 4. शूल नहीं, 5. कृच्छ्रसाध्य, 6. देर से होता है, 7. दण्डालसक एक पर्याय Paralytic illeus के लक्षण हैं।

अलसक/विसूचिका का चिकित्सा-सूत्र

1. दूषित तथा अलसी भूत साध्य आमदोष को गरम जल में सेंधा नमक मिलाकर वमन करावें।

2. सुश्रुताचार्य ने पार्ष्णिदाह, अग्नितप, तीक्ष्ण वमन लंघन, सम्पाचन, विरेचन तथा आस्थापन बस्ति का प्रयोग करने को कहा है।

3. चरकाचार्य ने वमन, स्वेदन, गुदवर्ति तथा उपवास कराने का निर्देश दिया है।

औषध-प्रयोग—

1. अलसक तथा विलम्बिका की चिकित्सा एक समान की जाती है, परन्तु अलसक की अपेक्षा विलम्बिका अधिक घातक है।
2. सेंधा नमक का गरम जल घोल कर रोगी को पिलायें।
3. कासीस और सेंधा नमक 2-2 रत्ती मिलाकर रोगी को खिलावे।
4. कंकुष्ठ की 1-2 ग्राम की मात्रा में उष्ण जल के साथ देवें।
5. रबर के वैग या बोतल में गरम पानी भरकर उससे उदर का स्वेदन करें।
6. इच्छाभेदी रस 500 मि. ग्रा. की मात्रा में शर्बत के साथ पिलाकर विरेचन करावे।

---

1. अजीर्णमामं विष्टब्धं विदग्धं च यदीरितम्।
विसूच्यलसकौ तस्माद्भवेच्चापि विलम्बिका।। (सु. उ. 56/3)

7. जौ का आटा मट्ठा में पीसकर, यवाखार मिलाकर गरम कर उदर पर लेप करें।

पथ्य—

1. अग्निमांद्य के समान पथ्य देवे।
2. उष्ण जल दे।
3. सारक व मूत्रल पथ्य देवे।
4. घी डालकर खिचड़ी खिलावें।
5. नींबू व लहसुन की चटनी सलाद दें।

अपथ्य—अध्यशन, विरुद्धाशन, असात्म्य आहार, गुरु आहार और अप्रिय रूक्ष, कठिन आहार नही देना चाहिये।

व्यवस्था-पत्र—

1. शिवाक्षार चूर्ण : 3 ग्राम
   हरीतकी चूर्ण : 2 ग्राम
   1×3 मात्रा (उष्णोदक से भोजनोपरान्त)
2. अभयारिष्ट : 4 चम्मच = 1×2 मात्रा (समान जल से भोजनोपरान्त)
3. आरग्वध फल मज्जा : 5 ग्राम = 1×2 मात्रा (उष्ण जल से)

14 अतिसार

अतिसरणम् अतिसारः अर्थात् अप्राकृत तथा प्रायशः जलबहुल मल का पुनः-पुनः परित्याग ही अतिसार कहलाता है। मधुकोश के अनुसार भी **'गुदेन बहुप्रसरण-मतिसारः'** कहा गया है। एक प्राचीन कथा के अनुसार सर्वप्रथम राजा पृषध्न के यज्ञ में अतिसार की उत्पत्ति हुई। राजा पृषध्न ने एक बहुत दिन तक चलने वाले यज्ञ का आरम्भ किया, यज्ञ में निरन्तर अन्य पशुओं का वध होता रहा। जब यज्ञ में अधिक पशुओं की हत्या हो जाने के कारण पशु नहीं मिले तो राजा ने गायों का वध कराना आरम्भ किया, यह देखकर जगत् के समस्त प्राणी अत्यन्त दुःखी हुये। यज्ञ में आमन्त्रित लोगों द्वारा गुरू, उष्ण, असात्म्य (प्रकृतिविरुद्ध) गायों के मांस के सेवन से जठराग्नि मन्द हो गई तथा प्राणियों के मन में व्यथा अर्थात् मानसिक कष्ट से अतिसार की उत्पत्ति हुई।

आयुर्वेद के अनुसार अतिसार के कारण विरुद्धाशन, पञ्चकर्म व्यतिक्रम, ऋतु-विपर्यय एवं कृमी संक्रमण के अतिरिक्त शोक, भय इत्यादि मानसिक भाव भी बताये गये हैं। यह पुरीषवह स्रोतस् का रोग है। चरक, सुश्रुत एवं वाग्भट तीनों ने अतिसार के छः भेद माने हैं। चरक एवं वाग्भट के अनुसार इसके वातिक, पैत्तिक, कफज, सान्नि-पातिक, शोकज एवं भयज भेद होते हैं। सुश्रुत ने भयज के स्थान पर आमज को माना है। सामान्य अतिसार के अतिरिक्त रक्तातिसार (Diarrhoea with bleeding per rectum), ज्वरातिसार (Febrile diarrhoea), प्रवाहिका (Dysentery) एवं ग्रहणी विकार (Chronic diarrhoea with malabsorption) जैसी स्थितियों का भी इसमें वर्णन है, जो कि जीर्ण अतिसार की अवस्था है। निम्नलिखित व्याधियों में अतिसार लक्षण के रूप में मिलता है—

पैत्तिक ज्वर, ग्रहणी, विसूचिका, कृमि, पैत्तिकोदर, यक्ष्मा, पैत्तिक मूर्च्छा, पैत्तिक मदात्यय, वातपैत्तिक विसर्प तथा अन्य कई पित्तज विकार।

अतिसार की चिकित्सा में मल के आम-पक्व अवस्था का भी विचार महत्त्वपूर्ण है। चिकित्सा के लिये सिद्धान्तरूप से लंघन, दीपन, पाचन तथा संग्राही और स्तम्भन आदि का विवेकपूर्ण प्रयोग महत्त्वपूर्ण है।

प्रमुख सन्दर्भ—

1. चरकसंहिता, चिकित्सा स्थान 19

2. सुश्रुतसंहिता, उत्तर तन्त्र 40
3. अष्टाङ्गहृदय, निदान स्थान 8
4. अष्टाङ्गहृदय, चिकित्सा स्थान 9

निरुक्ति—अतिसार 'अति' तथा 'सृ' से बना है। अति का अर्थ है—प्रभूत मात्रा में प्रभूत संख्या में, सृ का अर्थ है—सरण, निकलना, प्रवृत्त होना। ग्रन्थों में अतिसार के लिये अन्त्रगंधि, उदरामय, त्रिकाण्डशोथ आदि शब्दों का भी प्रयोग किया गया है।

- डल्हण ने **अतिसरणम् अतिसारः** कहा है।
- मधुकोषकार ने **गुदेन बहुद्रवसरणं अतिसारः** कहा है।
- शार्ङ्गधर ने **अतीव सरत्यतिसारे गुदेन** कहा है।
- सुश्रुत ने **संशम्यापां धातु-शकृन्मिश्रो सरत्यतीवातिसारं** कहा है।

भावप्रकाश में भी सुश्रुतोक्त अभिप्राय ही व्यक्त किया गया है। इन सभी को एक साथ मिलाकर अतिसार की यह परिभाषा बनेगी—**असंहतमलः गुदेन मुहुर्मुहुः सरति इति अतिसारः।**

निदान[1]—

1. आहारसम्बन्धी हेतु—

(क) गुरु, अतिस्निग्ध, अतिरूक्ष, अति उष्ण, अतिद्रव, अतिस्थूल एवं अति-शीतल पदार्थों का सेवन।
(ख) विरुद्धाशन
(ग) अध्यशन
(घ) अजीर्णावस्था में भोजन
(ङ) विषमाशन

2. स्नेहार्थ पूर्वकर्म एवं पञ्चकर्म का अतियोग, मिथ्या योग।
3. विष-प्रयोग
4. भय, शोकादि, मानसिक कारण
5. दूषित जल
6. दूषित मद्य

1. गुर्वतिस्निग्धरूक्षोष्णद्रवस्थूलातिशीतलैः।
विरुद्धाध्यशनाजीर्णे विषमैश्चापि भोजनैः।।
स्नेहाद्यैरतियुक्तैश्च मिथ्यायुक्तैर्विषैर्भयैः।
शोकाद्दुष्टाम्बुमद्यातिपानैः सात्म्यर्तुपर्ययैः।
जलातिरमणैर्वेगविघातैः क्रिमिदोषतः।
नृणां भवत्यतीसारो लक्षणं तस्य वक्ष्यते।। (सु. उ. 40/3-5)

7. ऋतु विपर्यय
8. सात्म्य विपर्यय
9. अत्यधिक जलक्रीड़ा
10. कृमिदोष

सम्प्राप्ति[1]—

उपर्युक्त कारण → वृद्ध (दुष्ट) जलीय धातु → अग्निमांद्य → वायु → वृद्ध जलीय धातु → मल का अधोमार्ग से बहिर्गमन → **अतिसार।**

दोष : वात प्रधान
दूष्य : जलीय धातु, मल
अधिष्ठान : अधोमार्ग, पक्वाशय, गुदमार्ग
स्रोतस् : पुरीषवह
स्रोतोदुष्टि लक्षण : अतिप्रवृत्ति

पूर्वरूप[2]—

1. हृदय प्रदेश, नाभि, गुद, उदर तथा कुक्षि में तोद।
2. गात्रावसाद
3. अधोवायु का अवरोध
4. विबन्ध
5. आध्मान
6. अविपाक

भेद—

चरक	सुश्रुत	वाग्भट
वातिक	वातिक	वातिक
पैत्तिक	पैत्तिक	पैत्तिक
कफज	कफज	कफज
सान्निपातिक	सान्निपातिक	सान्निपातिक
शोकज	शोकज	शोकज
भयज	आमज	भयज

1. एकैकशः सर्वशश्चापि दोषैः शोकेनान्यः षष्ठ आमेन चोक्तः। (सु. उ. 40/7)
2. हृन्नाभिपायूदरकुक्षितोदगात्रावसादानिलसन्निरोधाः।
विट्सङ्ग आध्मानमथाविपाको भविष्यतस्तस्य पुरःसराणि।। (सु. उ. 40/8-9)

लक्षण—

	वातिक[1] अतिसार	पैत्तिक[2] अतिसार	श्लैष्मिक[3] अतिसार	सान्निपातिक अतिसार
मल[1] की विशेषता	अरुण, फेनिल, आम, रूक्ष, अल्प-अल्प, मुहुर्मुहुः, सरूक्, सशब्द	पीत, नील, रक्तवर्ण	शुक्ल, सान्द्र, कफयुक्त दुर्गन्धित (विस्र), शीतल	वाराहस्नेहन मांसाम्बु सदृश, तीनों दोषों के रूपों से युक्त
सार्वदैहिक[2] लक्षण	बार-बार थोड़ी-थोड़ी मात्रा में पीड़ा के साथ शब्द करता हुआ मलत्याग	तृष्णा, मूर्च्छा, दाह, गुदपाक	रोमहर्ष	कृच्छ्रसाध्य

आमातिसार[4]

अजीर्ण के कारण प्रकुपित दोष कोष्ठ, धातुओं तथा मलों को दूषित करके यथा-दोष नाना प्रकार के वर्णों से युक्त शूल के साथ मल को बार-बार निकालते हैं। इसे आमातिसार कहते हैं। कुछ लोग आमातिसार की आमयुक्त होने के कारण अमीबी प्रवाहिका (Amoebic dysentery) से तुलना करते हैं; परन्तु कुछ इसे अजीर्णजन्य होने के कारण अजीर्णज या अन्नविष अतिसार (Post indigestion diarrhoea or acute food poisioning) के समान समझते हैं।

आम मल/पक्व मल लक्षण—

आम मल	पक्व मल लक्षण
मल का वातादि लक्षणों से युक्त होना	मल का वातादि दोषों से रहित होना
अत्यन्त दुर्गन्धित मल	दुर्गन्धरहित मल
पिच्छिलतायुक्त मल	पिच्छिलतारहित मल
मल जल में डूब जाता है	मल जल में तैरता है
शरीर में गुरुता का आभास होना	विशेष रूप से हल्कापन पाया जाता है

1. अरुणं फेनिलं रूक्षमल्पमल्पं मुहुर्मुहुः।
शकृदामं सरूक्शब्दं मारुतेनातिसार्यते।। (मा. नि. 3/6)
2. पित्तात्पीतं नीलमालोहितं वा तृष्णामूर्च्छादाहपाकज्वरार्त्तः।। (सु. उ. 40/11)
3. शुक्लं सान्द्रं श्लेष्मणा श्लेष्मयुक्तं भक्तद्वेषी निःस्वनं हृष्टरोमा।। (सु. उ. 40/12)
4. आमाजीर्णोपद्रुताः क्षोभयन्तः कोष्ठं दोषा सम्प्रदुष्टाः सभक्तम्।
नानावर्णं नैकशः सारयन्ति कृच्छ्राज्जन्तोः षष्ठमेनं वदन्ति।। (सु. उ. 40/15-16)

आगन्तुज आमातिसार[1]—

यह वे हैं, जो भय और शोक से उत्पन्न होते हैं। अतः यह मानस कहलाते हैं। इसके लक्षण वातातिसार के समान हैं। इसमें क्षुब्ध एवं गुंजाफल के समान वर्ण वाला रक्त मलरहित या मलयुक्त, निर्गन्ध या सगन्ध होकर गुदमार्ग से निकलता है। यह कष्टसाध्य होता है।

शोकजातिसार, रक्तातिसार और रक्तपित्त का सापेक्ष निदान

शोकजातिसार—1. इसका निदान शोक या तत्सम मानस भाव है, 2. रक्त मलयुक्त होता है, 3. रक्त अल्प मात्रा में रहता है, 4. इसमें जीव रक्त के लक्षण भी मिल सकते हैं, 5. रक्त की प्रवृत्ति गुदमार्ग से ही होती है एवं 6. इसमें मानसिक उपचार से लाभ होता है।

रक्तातिसार[2]—1. पित्तातिसार में पित्तवर्धक पदार्थों का अति सेवन, 2. रक्त मलयुक्त होता है, 3. रक्त अधिक मात्रा में रह सकता है, 4. इसमें भी जीव रक्त के लक्षण मिल सकते हैं, 5 रक्त प्रवृत्ति गुदमार्ग से ही होती है एवं 6. केवल पित्तनाशक एवं स्तम्भक चिकित्सा से लाभ होता है।

रक्तपित्त—1. पित्तनाशक एवं पित्तघ्न चिकित्सा लाभ करती है, 2. रक्त का मलयुक्त होना अनिवार्य नहीं, 3. रक्त अधिक मात्रा में हो सकता है, 4. इसमें जीव रक्त के लक्षण नहीं होते एवं 5. रक्तप्रवृत्ति गुदा, मुख तथा नासिकादि से भी हो सकती है।

अतिसार-प्रवाहिका-ग्रहणी का सापेक्ष निदान—

अतिसार	प्रवाहिका	ग्रहणी
प्रवाहण नहीं	प्रवाहण अवश्य	प्रवाहण नहीं
मल कभी-कभी कफयुक्त	मल सदा कफयुक्त	मल कभी-कभी सकफ
द्रवमल अधिक एवं बारम्बार	मल कम, किन्तु बारम्बार	द्रवमल बारम्बार और अन्नयुक्त
पुरीष अधिक	पुरीष की मात्रा कम	मल सञ्चय होने पर शौच-प्रवृत्ति
कार्श्य विशेष नहीं	कार्श्य विशेष नहीं	कार्श्य विशेष
जिह्वापाक नहीं	जिह्वापाक नहीं	जिह्वापाक
पक्वाशयसमुत्थ	पक्वाशयसमुत्थ	ग्रहणीसमुत्थ

1. आगन्तू द्वावतीसारौ मानसौ भयशोकजौ।
तत्तयोर्लक्षणं वायोर्यदतीसारलक्षणम्।। (च. चि. 19/11)
2. पित्तकृन्ति यदात्यर्थं द्रव्याण्यश्नाति पैत्तिके।
तदोपजायतेऽभीक्ष्णं रक्तातीसार उल्बणः।। (मा. नि. 3/20)

अतिसार	प्रवाहिका	ग्रहणी
रक्त निकल सकता है शोथ उपद्रवस्वरूप आशुकारी	रक्त निकल सकता है शोथ नहीं आशुकारी	प्राय: नहीं निकलता शोथ उपद्रवस्वरूप चिरकारी

अतिसार के असाध्य लक्षण—

1. **मल के लक्षण**—पके जामुन के वर्ण के समान वर्ण वाला मल; यकृत खण्ड के वर्ण के समान कृष्ण लोहित वर्ण वाला मल; घृत, तैल, वसा, मज्जा, वेशवर, दूध, दही के समान मल।

2. **सार्वदैहिक लक्षण**—तृष्णा, दाह, तम:प्रवेश, श्वास, हिक्का, मूर्च्छा, ज्वर, प्रलाप, शोक, अरुचि।

3. **स्थानीय लक्षण**—गुदवाली पाक, असंवृत गुद, आध्मान।

4. उपद्रव तथा वृद्धावस्था युक्त।

चिकित्सा-सूत्र

1. अतिसार में सर्वप्रथम आमातिसार है या पक्वातिसार? यह पहचान करे।

2. आमातिसार हो तो हरीतकी चूर्ण 5 ग्राम देकर या एरण्डतैल 15 ग्राम दूध में पिलाकर विरेचन कराना चाहिये, फिर लंघन, पाचन और दीपन उपचार करें।

3. पञ्चकोल आदि पाचन औषधों के क्वाथ से सिद्ध यूष या यवागू खिलायें।

4. यदि मल स्वयं निकल रहा हो तो उसे पहले रोकना नहीं चाहिये और यदि दस्त लगकर मल न निकल रहा तो हरीतकी चूर्ण 5 ग्राम देकर मल प्रवृत्त करे।

5. यदि रोगी अति दुर्बल हो, दस्त बहुत होते हों और पाचन औषध देने पर उसकी मृत्यु होने का सन्देह हो, तो उसे संग्राही औषध देना चाहिये।

6. यदि आमातिसार हो तो संग्राहक औषधि का प्रयोग न करें; कारण कि प्रदुष्ट दोष संग्राहण करने पर शरीर में ही रुके रहेंगे और पाण्डु, कुष्ठ, गुल्म, उदर तथा ज्वर आदि रोगों को उत्पन्न करेंगे। परन्तु यदि रोगी अत्यन्त दुर्बल हो तो आमातिसार में भी स्तम्भन कर सकते हैं।

7. यदि अपानवायु तथा मल के निकलने में रूकावट हो तो रोगी को अजादुग्ध दे।

8. निराम अतिसार का निश्चय होने पर संग्राहक औषध देनी चाहिये।

आवस्थिकी चिकित्सा—

1. पुरीषक्षय में तित्तिर, मुर्गा या बटेर के मांसरस के घी और खट्टे अनार का रस मिलाकर अगहनी चावल के भात के साथ खिलाना चाहिये।

2. चाङ्गेरी घृत या चव्यादि घृत 10-15 ग्राम को दूध में पिलाना चाहिये।

3. जब रक्तातिसार में रक्तमिश्रित मल शूल के साथ थोड़ा-थोड़ा आवे तो पिच्छाबस्ति देकर पुन: अनुवासनबस्ति देनी चाहिये।

4. कफ अतिसार में वात कफ के विबन्ध और शूल में पिच्छाबस्ति दे।

व्यवस्था-पत्र (अतिसार)—

1. 3-3 घण्टे पर 4 बार

पीयूषवल्ली रस	: 2 ग्रा.
रामबाण	: 1 ग्रा.
शंख भस्म	: 1 ग्रा.
अग्नितुण्डी वटी	: 1/2 ग्रा.
बृहद् गंगाधर चूर्ण	: 8 ग्रा.
	4 मात्रा

2. भोजन के पूर्व हिंग्वादि वटी : 4 गोली = 2 मात्रा (चूसनार्थ)।
3. भोजनोत्तर कुटजारिष्ट : 40 मि. ली. = 2 बार (समान जल मिलाकर पीना)।
4. रात में सोते समय जातीफलादि चूर्ण : 2 ग्राम (जल से)।

पथ्य—पुराने चावल का भात, मूँग की दाल, अरहर-मसूर का यूष, कच्चा केला, टमाटर, अदरख, लहसुन, हींग, बेल-आँवला या सेव का मुरब्बा, जायफल, जीरा, बेलगिरी, तक्र, खट्टा अनार, बकरी का दूधादि पथ्य है।

अपथ्य—मैथुन, जागरण, मटर, उड़द, कोहड़ा, कटहल, सेम, ईख का रस, ककड़ी, खीरा, अधिक रूक्ष या अधिक स्निग्ध एवं भारी द्रव्य खाना अपथ्य है।

15 प्रवाहिका

प्रवाहणरूपी प्रक्रिया करने के कारण ही इसे प्रवाहिका कहा जाता है। इस रोग में कफयुक्त मल प्रवाहन करने अर्थात् जोर लगाने पर थोड़ी-थोड़ी मात्रा में बार-बार निकलता है और रोगी को लगता है कि उसका पेट साफ नहीं हुआ है। चरक एवं वाग्भट ने इसका पृथक् वर्णन नहीं किया है; क्योंकि द्रवसरण तथा आम पक्व लक्षण सामान्य होने के कारण प्रवाहिका भी एक प्रकार का अतिसार ही है। सुश्रुत ने इसका पृथक् वर्णन किया है; क्योंकि इसमें प्रवाहण एक प्रधान लक्षण होता है। साथ-साथ इसमें विशेष रूप से कफ का ही निष्क्रमण होता है; जबकि अतिसार में विविध धातुओं का सरण होता है। आधुनिक दृष्टि से प्रवाहिका को Dysentry कहा जा सकता है। प्रवाहिका में कफ, वायु दोनों का प्रभाव होता है। चरक के अनुसार वातातिसार में ही आम कफ का अनुबन्ध होने पर या कफज अतिसार में वायु का अनुबन्ध होने पर प्रवाहिका होती है। यह मुख्य रूप से बृहदन्त्र की विकृति से होती है। मल में श्लेष्मा का प्राचुर्य होता है; अतः उसे बाहर निकालने के लिये आन्त्र को अधिक प्रवहण करना पड़ता है। साथ में वायु का प्रकोप होने से ऐंठन अधिक होती है। ये रोग प्रायः जठराग्नि के मन्द पड़ जाने के कारण ही होते हैं। चरक सिद्धिस्थान अध्याय 7/40-41 में इसकी चिकित्सा कही गई है।

निदान—

स्वतन्त्र प्रवाहिका निदान—

दूषित जौ, दूषित आहार, आर्द्र वायु।
अतिसार के सभी निदान।
मिथ्या आहार-विहार, विरुद्धाशन, अध्यशन, विषमाशन।
वातप्रकोप तथा कफ-प्रकोप के सभी निदान तथा अधिक गर्मी, तिलकुट की बड़ी मिठाई का सेवन।

परतन्त्र प्रवाहिका निदान—

यह अतिसार के कारण जब परतन्त्र रोग के रूप में होता है या अन्य किसी रोग के बाद होता है तब निदान पूर्व रोग का होना।

कफज प्रवाहिका का निदान—स्नेह का अधिक प्रयोग, वातज रूक्षाहार, पित्तज तथा रक्तज तीक्ष्ण एवं उष्ण पदार्थों का सेवन।

सामान्य सम्प्राप्ति[1,2]—पहले मिथ्या आहार-विहार से अग्निमांद्य होता है तथा कफ की वृद्धि होती है एवं वायु (समान + अपान) का प्रकोप होता है। सम कफ पिच्छिल होने से आंतों की दीवारों पर चिपका रहता है। प्रकुपित वायु कफ को पुरीष के साथ बाहर निकालता है और इसके लिये प्रवाहण करना पड़ता है, जिससे आंतों में कूथन या कर्तनवत् पीड़ा होती है तथा इस प्रवाहिका रोग की उत्पत्ति होती है।

सम्प्राप्ति चक्र—

कफ + वात प्रकोपक मिथ्या आहार-विहार
निदान → मन्दाग्नि → कफ-वात प्रकोपक
आन्त्र में सञ्चय और चिपकना | निःसारणार्थ कफ को प्रेरित करना
कफ-युक्त मल निःसरण
प्रवाहिका रोग

सम्प्राप्ति घटक—

दोष : कफ/वातप्रधान	स्रोतोदुष्टि : संग
दूष्य : रस, अन्न, पुरीष	अधिष्ठान : कफाशय

भेद और लक्षण[3]—भेद और लक्षण हेतु और वैशिष्ट्य के आधार पर प्रवाहिका वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और रक्तज चार प्रकार की हो सकती है।

भेद	लक्षण	हेतु
वातकृता	शूलयुक्ता	रूक्ष पदार्थजन्य
पित्तकृता	दाहयुक्ता	तीक्ष्ण उष्ण पदार्थजन्य
कफकृता	कफयुक्ता	स्निग्ध पदार्थजन्य
रक्तजा	रक्तयुक्ता	तीक्ष्ण-उष्ण पदार्थजन्य

अतिसार-प्रवाहिका सापेक्ष निदान—

अतिसार—1. विविध द्रव धातुयें और जल, रक्त, वसा का सरण होता है।
2. मात्रा तथा संख्या दोनों दृष्टियों से अतिसरण होता है एवं प्रवाहण (Tenesmus) आवश्यक नहीं है।

1. वायुः प्रवृद्धो निचितं बलासं नुदत्यधस्तादहिताशनस्य।
प्रवाहमाणस्य मुहुर्म लाक्तं प्रवाहिकां तां प्रवदन्ति तज्ज्ञाः।। (सु. उ. 40/138)
2. आमे परिणते यस्तु विबद्धमतिसार्यते।
सशूलपिच्छमल्पाल्पं बहुशः सप्रवाहिकम्।। (च. चि. 19/30)
3. प्रवाहिका वातकृता सशूला पित्तात् सदाहा सकफा कफाच्च।
सशोणिता शोणितसम्भवा च ताः स्नेहरूक्षप्रभवा मतास्तु।
तासामतीसारवदादिशेच्च लिङ्गं चामविपक्वतां च।। (मा. नि. 3/22)

प्रवाहिका—1. मल के साथ केवल श्लेष्मा का सरण होता है, 2. मल मात्रा में कम तथा संख्या में अधिक बार होता है एवं 3. प्रवाहण होना (Tenesmus) आवश्यक है।

चिकित्सा-सूत्र

1. पहले दिन उपवास करावें, तदन्तर दीपन-पाचन औषध दें।

2. आम अधिक हो तो स्तम्भक औषध न दें, अपितु इसबगोल की भूसी 3-4 ग्राम दूध के साथ दें।

3. लंघन-पाचन या मृदु विरेचन से लाभ न हो तो पिच्छाबस्ति दें।

4. प्रवाहिका में वायु और कफ की प्रधान विकृति होती है, अत: वायु के अनुलोमन और कफ के निर्हरण का प्रयत्न करना चाहिये। एतदर्थ दीपन-पाचन और ग्राही औषध दें।

5. उदर में शूल हो तो हाटवाटर बैग से सेंक करें या कपूर मिला तारपीन का तेल मलें।

चिकित्सा—

1. विबन्ध में धारोष्ण दूध, आमदोषयुक्त प्रवाहिका में एरण्ड मूल डालकर पकाये दुग्ध का प्रयोग तथा अतिसार हो या रक्त आता हो तो बालबिल्वमज्जा साधित दूध का प्रयोग करें।

2. विदारीगन्धादि गण और औषधि मिलित 50 ग्राम, पञ्चलवण 24 ग्राम, विदारीगन्धादि गण की औषधि का क्वाथ 4 लीटर, तिल तैल 1 लीटर लेकर तैलावशिष्ट पाक करें और इसी तैल से सिद्ध भोजन दें।

3. लोध्रादि चूर्ण-लोध्र, विड्लवण, बेलगिरी, सोंठ, मरिच, पीपल समभाग लेकर चूर्ण कर 3 ग्राम, पूर्वोक्त तेल के साथ दें।

4. उक्त लोध्रादि चूर्ण खाने के बाद भूख लगने पर मलाई सहित दही में मधु मिलाकर भात के साथ दें।

5. राल का चूर्ण 2-2 ग्राम चीनी के साथ दिन में 3 बार दें।

6. बेलगिरी तथा मोचरस 2-2 ग्राम मिलाकर सवेरे-शाम गुड़ के साथ दें।

7. भुना हुआ जीरा 3 ग्राम मट्ठे में मिलाकर काला नमक मिलाकर थोड़ा-थोड़ा पिलावें।

8. कोरया की छाल और अनार के फल वल्कल 20-20 ग्राम का क्वाथ बनाकर दिन में 3 बार पिलावें।

सिद्धयोग—

1. लघुगंगाधर-चूर्ण
2. कनकसुन्दर रस

3. शंखोदर रस
4. जातिफलादि वटी
5. सिद्धप्राणेश्वर रस
6. कुटजावलेह
7. वृद्धगंगाधर चूर्ण
8. कपित्थाष्टक
9. कुटजादि वटी
10. दाडिमावलेह

व्यवस्था-पत्र—

1. पियूषवल्लि रस	: 1 ग्राम
रामबाण रस	: 1/2 ग्राम
शंखभस्म	: 1 ग्राम
अग्नितुण्डी वटी	: 1/2 ग्राम
तालीसादि चूर्ण	: 4 ग्राम
	4 मात्रा (जल से)

2. भोजन से पूर्व हिंग्वाष्टक चूर्ण 4 ग्राम = 2 मात्रा (समान जल मिलाकर पीना)
3. भोजन के बाद कुटजारिष्ट 40 मि. ली. = 2 मात्रा (समान जल मिलाकर पीना)
4. दिन भर में 4-5 बार चूसना हिंग्वादि वटी 1 + 1 गोली

पथ्य—पुराना चावल, मूंग की दाल, कच्चे केले की सब्जी, टमाटर, आंवला, लहसुन, हींग, धान का लावा, मट्ठा, बकरी का दूध।

अपथ्य—कोहड़ा, कटहल, आलू, सेम, डालडा या तेल में तली चीजें, तीक्ष्ण, उष्ण और भारी पदार्थ अपथ्य हैं।

16 ग्रहणी

ग्रहणी को अधिष्ठान बनाकर होने वाले रोग को ग्रहणी कहते हैं। ग्रहणी महास्रोत के एक अंश का नाम है। सुश्रुतानुसार आमाशय और पक्वाशय के बीच स्थित पित्तधरा कला ही ग्रहणी है—

षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता।
पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता।।

चरकानुसार—ग्रहणी अग्नि का प्रधान केन्द्र है और अन्न का ग्रहण करने से इसे ग्रहणी कहते हैं—

अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहनाद् ग्रहणी मता।

ग्रहणी अपक्व अन्न को धारण करती है और पाचन के पश्चात् मल को निकाल देती है। वाग्भट ने ग्रहणी के चार मुख्य कर्म बताये हैं—

1. अन्न को ग्रहण करना।
2. आमाशय में आने वाले अर्द्धपक्व अन्न का सम्पूर्ण परिपाक करना।
3. रस का शोषण करना।
4. मल का विमोचन करना।

उपरोक्त चारों कर्मों में से किसी एक में भी विकृति आने पर ग्रहणी रोग होता है। ग्रहणी में अवयवों की विकृति दो प्रकार से होती है—

1. स्वतन्त्र एवं 2. परतन्त्र

उपर्युक्त दोनों अवस्थाओं में ग्रहणी में आमावस्था में वेदनासहित कभी द्रव रूप में तो कभी बन्धा हुआ मल दुर्गन्धित होकर गुद मार्ग से निकलने लगता है। यह अवस्था यदि देर तक चलती रहे तो इसे ग्रहणी रोग कहते हैं। यह चिरकारी कृच्छ्र-साध्य रोग है। यह अन्नवह स्रोतस् व्याधि है। ग्रहणी रोग वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सन्निपातिक भेद से चार प्रकार का है। विशेष प्रकार के ग्रहणी रोग—संग्रह ग्रहणी, घटी यन्त्र ग्रहणी, आम ग्रहणी हैं। ग्रहणी की चिकित्सा न होने पर यह रोग एक वर्ष बाद मृत्युकारक हो जाता है।

प्रमुख सन्दर्भ—

● च. चि. 15 ● सु. उ. 40 ● अ. हृ. 8 ● मा. नि. 4

निदान—अतिसार रोग के पश्चात् अपथ्य-सेवन से ग्रहणी दूषित होती है।[1]

सम्प्राप्ति—

मन्दाग्नि ———— आमदोष
↓ ↓
विदग्ध अन्न ———— दूषित ग्रहणी
└— पक्व व अपक्व अन्न —┘
↓
अधोमार्ग से बहिर्गमन
↓
मुहुर्बद्ध मुहुर्द्रव
↓
ग्रहणी रोग[2]

पूर्वरूप—

1. तृष्णा	5. चिरपाक	9. कर्णक्ष्वेड
2. आलस्य	6. कायगौरव	10. आन्त्रकूजन[3] (सुश्रुत एवं चरक)
3. बलक्षय	7. अरुचि	
4. अन्नविदाह	8. कास	

सामान्य लक्षण[4]—मल अत्यन्त पतला, बंधा या पानी जैसा पतला, रोगी में तृष्णा, अरुचि, मुख का फीकापन, तमक श्वास आदि लक्षणों से युक्त, हाथों पैरों में सूजन, हड्डियों एवं शरीर की सन्धियों में पीड़ा, उल्टियाँ, ज्वर और कच्चे भोजन के स्वादयुक्त डकार।

ग्रहणी रोग के भेद[5]—

1. स्वतन्त्र-परतन्त्र भेद से—

स्वतन्त्र—बिना अतिसार के उत्पन्न होने वाली।
परतन्त्र—अतिसार के उपरान्त होने वाली।

1. अतीसारे निवृत्तेऽपि मन्दाग्नेरहिताशिनः।
भूयः संदूषितो वह्निर्ग्रहणीमभिदूषयेत्।। (सु. उ. 40/167)
2. पक्वं वा सरुजं पूति मुहुर्बद्धं मुहुर्द्रवम्।
ग्रहणीरोगमाहुस्तमायुर्वेदविदो जनाः।। (सु. उ. 40/172)
3. पूर्वरूपं तु तस्येदं तृष्णाऽऽलस्यं बलक्षयम्।
विदाहोऽन्नस्य पाकश्च चिरात् कायस्य गौरवम्।। (च. चि. 15/55)
4. सा दुष्टा बहुशो भुक्तमाममेव विमुञ्चति।
पक्वं वा सरुजं पूति मुहुर्बद्धं मुहुर्द्रवम्।। (सु. उ. 40/171)
5. अतीसारे निवृत्तेऽपि मन्दाग्नेरहिताशिनः।
भूयः संदूषितो वह्निर्ग्रहणीमभिदूषयेत्।। (सु. उ. 40/167)

2. दोषवैशिष्ट्य के आधार पर[1]—

1. वातिक ग्रहणी 2. पैत्तिक ग्रहणी 3. कफज ग्रहणी 4. सान्निपातिक ग्रहणी

वातिक ग्रहणी—

निदान—कटु, तिक्त, कषाय रस, अतिरूक्ष, दुष्ट भोजन, प्रमिताशन, अनशन, वेगनिग्रह, मैथुन।

सम्प्राप्ति—प्रकुपित वायु → पाचकाग्नि संछादन → ग्रहणी दोष → वातिक ग्रहणी रोग।

लक्षण—भोजन का कठिनाई से पाक, खञ्जता, परिकर्तिका, कार्श्य, मन की खिन्नता, आध्मान, आम एवं फेनयुक्त मलत्याग।

पैत्तिक ग्रहणी—

निदान—कटु, अजीर्ण, विदाही, अम्ल, क्षार, आदि पित्तवर्धक पदार्थ।

सम्प्राप्ति—प्रकुपित वायु → पाचकाग्नि नाश → ग्रहणी दोष → पैत्तिक ग्रहणी रोग।

लक्षण—पीताभता, अजीर्ण, नील-पीत वर्ण का मलसरण, पूति, अम्लोद्गार, तृष्णा, हृत्कण्ठदाह, अरुचि।

कफज ग्रहणी—

निदान—अतिगुरु, स्निग्ध, शीत, पिच्छिल, मधुर भोजन, अतिभोजन, भुक्तमात्रस्य स्वप्न।

सम्प्राप्ति—दूषित कफ → पाचकाग्नि नाश → ग्रहणी दोष → कफज ग्रहणी रोग।

लक्षण—हृल्लास, अजीर्ण, नील-पीत वर्ण का मल सरण, पूति, अम्लोद्गार, तृष्णा, हृत्कण्ठदाह, अरुचि।

सान्निपातिक ग्रहणी—

निदान—सर्व दोष-प्रकोपक हेतु।

सम्प्राप्ति—कुपित तीनों दोष → पाचकाग्नि नाश → ग्रहणी दोष → त्रिदोष ग्रहणी रोग।

लक्षण—तीनों दोषों के सभी लक्षणों से युक्त लक्षण।

तीन विशेष प्रकार के ग्रहणी रोग—

1. संग्रह ग्रहणी—इसमें कुछ काल तक मल का संग्रह होता है, फिर उसका निर्हरण होता है। यह कष्टसाध्य या असाध्य होता है।

---

1. वातात्पितात्कफाच्च स्यात्तद्रोगस्त्रिभ्य एव च। (च. चि. 15/58)

लक्षण—आन्त्र कूजन, आलस्य, दुर्बलता, अग्निमांद्य, कटिशूल, तरल, शीत, आम, पिच्छिल, अधिक मात्रा में मल का शब्द और वेदना के साथ त्याग।

2. घटी यन्त्र ग्रहणी—लेटने पर पार्श्व शूल और जल में डूबते हुये घड़े के समान ध्वनि आती है। यह असाध्य है।[1]

3. आम ग्रहणी—अजीर्ण के बाद होता है, आहार विदग्ध होता है, आमयुक्त मल का त्याग होता है।

लक्षण—विष्टम्भ, प्रसेक, पीड़ा, विदाह, अरुचि, गौरव आदि।[2]

सापेक्ष निदान

ग्रहणी (2+)

1. प्रायः अतिसार के बाद होती है।
2. द्रव-सरण कम होता है, कभी-कभी मलबद्धता भी होती है।
3. केवल मल का क्षरण होता है, धातु का नहीं। अन्तिम अवस्था में धातु का क्षरण हो सकता है।
4. वेग अपेक्षाकृत कम होता है।
5. ओजक्षय नहीं होता।
6. अग्निमांद्य।

संग्रहणी (3+)

2. कुछ काल तक मल का संग्रह होता है, फिर उसका निर्हरण।
4. वेग अपेक्षाकृत और भी कम होता है।
6. अग्निमांद्य।

घटीयन्त्र ग्रहणी (3+)

2. लेटने पर ध्वनि और पार्श्वशूल होता है।
4. अपेक्षाकृत कम।

आम ग्रहणी (3+)

1. अजीर्ण के बाद होती है।
2. मल का सरण कम होता है।
3. आम मल का त्याग।
4. अपेक्षाकृत कम।

---

1. स्वपतः पार्श्वयोः शूलं गलज्जलधरीध्वनिः।
तं वदन्ति घटीयन्त्रमसाध्यं ग्रहणीगदम्।। (मा. नि. 4/4)
2. ग्रहणीमाश्रितं दोषं विदग्धाहारमूर्च्छितम्।
सविष्टम्भप्रसेकार्तिविदाहारुचिगौरवैः।। (च. चि. 15/73)

अतिसार (2+)

1. प्राय: प्रारम्भिक होता है।
2. द्रव सरण अधिक होता है।
3. मल के साथ धातु का भी क्षरण होता है। साथ में मल भी रहता है।
4. वेग अपेक्षाकृत अधिक होते हैं।
5. ओजक्षय नहीं होता।

प्रवाहिका (2+)

1. प्रारम्भिक होता है।
2. द्रव सरण अधिक होता है।
3. मल के साथ धातु का भी क्षरण होता है। साथ में मल भी रहता है।
4. वेग अपेक्षाकृत अधिक होते हैं।
5. ओजक्षय नहीं होता।

अधोग अम्लपित्त (1+)

1. अजीर्ण के बाद।
2. विविध प्रकार का अम्लपित्तयुक्त मल (Acidic stool)।
3. मल के साथ विदग्ध पित्त क्षरण।
4. वेग कम ही होते हैं। अम्ल-पित्त के अन्य लक्षण।

ग्रहणी की साध्यता/असाध्यता—बालक की ग्रहणी साध्य, युवा में कृच्छ्र-साध्य, वृद्धावस्था में असाध्य, संग्रह ग्रहणी दुश्चिकित्स्य होती है एवं घटी यन्त्र ग्रहणी रोग असाध्य होती है।[1]

उपद्रव—पाण्डु, शोथ, जलोदर।

चिकित्सा-सूत्र

1. ग्रहणी की चिकित्सा अजीर्णवत् करनी चाहिये।
2. दीपन चिकित्सा ग्रहणी रोग में हितकारी है।
3. आम लक्षणों की उपस्थिति में सुखोष्ण जल से या मदनफल क्वाथ से वमन कराकर दोष निर्हरण करना।
4. यदि आम दोषयुक्त रस शरीर में व्याप्त हो गया हो तो लंघन और पाचन औषध देना चाहिये।

---

1. दुर्विज्ञेया दुश्चिकित्स्या चिरकालानुबन्धिनी।
सा भवेदामवातेन संग्रहग्रहणी मता।। (मा. नि. 4/3)
......................घटीयन्त्रमसाध्यं ग्रहणीगदम्।। (मा. नि. 4/4)

5. दोषानुसार वमन, विरेचन व लंघन द्वारा रोगी का आमाशय शुद्ध हो जाय तब पञ्चकोल आदि दीपन द्रव्यों से साधित पेया आदि लघु अन्न देना चाहिये तथा अन्य दीपन द्रव्यों और योगों का प्रयोग करना चाहिये।
6. दीपन घृत, पञ्चमूलाद्य घृत, बिल्वाद्य घृत।
7. एकक द्रव्य—1. तक्र, 2. बिल्व, 3. कुटज, 4. भाँग, 5. अहिफेन, 6. धत्तूर।
8. योग— रसांजनादि चूर्ण : पैत्तिक ग्रहणी
रास्नादि चूर्ण : कफज ग्रहणी
जातीफलादि चूर्ण : सर्व ग्रहणी
9. कल्प चिकित्सा—

1. वर्धमान पिप्पली रसायन
2. वर्धमान पर्पटी कल्प
} (क) सान्न (ख) निरन्न

व्यवस्था-पत्र—

1. प्रवाल पञ्चामृत : 3 रत्ती
पञ्चामृत पर्पटी : 3 रत्ती
स्वर्णपर्पटी : 1/4 रत्ती
सञ्जीवनी : 1 रत्ती
1×3 दिन में 3 बार पानी से।

17 आमवात

आमवात शब्द आम और वात—इन दो शब्दों से बना है। **आमेन सहितः वातः आमवातः, आमश्च अथवा वातश्च आमवातः** ऐसी व्युत्पत्ति की जा सकती है।

आम और वात त्रिक, गुल्फ, जानु आदि सन्धियों में प्रवेश करके वहाँ पर शोथ, शूल, स्तब्धता आदि उत्पन्न करता है और इस प्रकार आमवात उत्पन्न कर देते हैं। सिद्धान्त निदान में आमवात के लिये रसवात शब्द का भी प्रयोग किया गया है।

आमवात को पृथक् रूप से एक व्याधि के रूप में वर्णित करने का श्रेय माधवकर को है। वैसे सामवात का वर्णन चरक-सुश्रुतादि में भी उपलब्ध होता है। चरकसंहिता में शोथ चिकित्सा अध्याय में कंस हरीतकी के गुणों में आमवातहर गुण का भी निर्देश किया गया है, पाण्डु कामला की चिकित्सा में विशालादि चूर्ण के गुणों में आमवातनाशक गुण का निर्देश मिलता है, वातव्याधि चिकित्सा अध्याय में रसादि से आवृत वातों के प्रकरण में आमवात शब्द का उल्लेख किया गया है।

हारीत संहिता, अञ्जन निदान में आमवात को पृथक् व्याधि के रूप में मानने के संकेत हैं, आमवात के निदान-पूर्वरूप-रूप आदि का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। अष्टाङ्गहृदय में भी चरकसंहिता की तरह कुछ योगों की फलश्रुतियों में आमवात को गिना गया है, लेकिन आमवात का स्वतन्त्र व्याधि के रूप में वर्णन नहीं मिलता है। माधवकर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रोगविनिश्चय', जो बाद में माधवनिदान के नाम से प्रसिद्ध हुआ, में सर्वप्रथम आमवात का स्वतन्त्र व्याधि के रूप में वर्णन किया है।

आमवात के प्रत्यात्म लक्षणों में ज्वर, सन्धिशोथ, सन्धिशूल एवं शरीरगौरव तथा अरुचि का समावेश होता है। आमवात सम्पूर्ण रूप में आम की विभिन्न अवस्थाओं के लक्षणों का समूह है। आम की मुख्य रूप से दो अवस्थायें होती हैं—आमाशयगत आम और धातुगत आम। रसवह स्रोतस् की व्याधि होने के कारण दुष्ट अन्नरस सर्वशरीरगत होता जाता है। अतः प्रधान रूप से सन्धियों की व्याधि होने के अलावा अन्य शरीर अवयव भी आक्रान्त हो जाते हैं। इस व्याधि की और अवस्थायें देखने को मिलती हैं। उग्र धातुगत सम आम ज्यों-ज्यों उत्तरोत्तर धातुओं में प्रवेश करता जाता है, आमवात में उपद्रव उत्पन्न होते जाते हैं।

आधुनिक दृष्ट्या आमवात को Rheumatoid Arthritis माना जा सकता है। यद्यपि यह Rheumatoid Diathesis है। इस प्रकार धातुगत आम की विभिन्न अवस्थायें ही Auto immunity के लिये जिम्मेदार हैं।

प्रमुख सन्दर्भ—

1. माधव निदान, अध्याय-25
2. चक्रदत्त, अध्याय-25
3. भैषज्यरत्नावली, अध्याय-29
4. रसरत्नसमुच्चय, अध्याय-21
5. शार्ङ्गधर संहिता (पूर्व खण्ड), अध्याय-7

निदान[1]—

1. आहारसम्बन्धी

(क) मन्दाग्नि आहार।
(ख) मन्दाग्नि होना।
(ग) आमजनक-वातप्रकोपक एवं सन्धिशैथिल्यकारक कारणों का सेवन।
(घ) उड़द-दही, दूध, खीर खाना।
(ङ) आनूप जीवों का मांस भक्षण।
(च) दूषित या सविष जल।

2. विहारसम्बन्धी

(क) विरुद्ध चेष्टा।
(ख) कोई श्रम न करना।
(ख) स्निग्ध भोजन करने के बाद व्यायाम करना।

सम्प्राप्ति चक्र[2]—

विरुद्धाहारादि निदान → अग्निमांद्य—आम

वातप्रकोपक निदान → वातप्रकोप—वात

श्लेष्मस्थान, सन्धि, आमाशय, उर, कण्ठ में वात की प्रेरणा से आम का प्रसर → धमनियों में प्रसर, हृदयविकृति, त्रिदोष प्रकोप → रसवह स्रोतस् संग → सामकफ + वात का सन्धियों में स्थानसंश्रय → सन्धिशूल, शोथ, ज्वर, आलस्य रोग-गौरव आदि लक्षणोत्पत्ति → **आमवात।**

1. विरुद्धाहारचेष्टस्य मन्दाग्नेर्निश्चलस्य च।
स्निग्धं भुक्तवतो ह्यन्नं व्यायामं कुर्वतस्तथा।। (मा. नि. 25/1)
2. वातपित्तकफैर्भूयो दूषितः सोऽन्नजो रसः।
स्रोतास्यभिष्यन्दयति नानावर्णोऽतिपिच्छिलः।।
जनयत्याशु दौर्बल्यं गौरवं हृदयस्य च।
व्याधिनामाश्रयो ह्येष आमसंज्ञोऽतिदारुणः।।
युगपत्कुपितावन्तस्त्रिकसन्धिप्रवेशकौ।
स्तब्धं च कुरुतो गात्रमामवातः स उच्यते। (मा. नि. 25/3-5)

दोष-दूष्य-अधिष्ठान—

1. दोष—वातप्रधान त्रिदोष
2. दूष्य—रस, स्नायु, कण्डरा
3. अधिष्ठान—सभी सन्धिस्थल
4. स्रोतस्—रसवह स्रोतस्
5. स्रोतोदुष्टि—संग
6. रोगमार्ग—मध्यम रोगमार्ग

आमवात का सामान्य लक्षण[1]—

1. विभिन्न अंगों में पीड़ा
2. अरुचि
3. प्यास
4. आलस्य
5. शरीर में भारीपन
6. ज्वर
7. भोजन का परिपाक न होना।

त्रिकसन्धि के आक्रान्त होने पर कटि प्रदेश में नित्य पीड़ा बनी रहती है, रोगी उठने-बैठने में भी असमर्थ रहता है और हाथ-पैर की सन्धियों में शोथ उपस्थित हो जाता है।

आमवात की तीव्रावस्था के लक्षण—

स्थानीय लक्षण—हाथ, पैर, शिर, गुल्फ, जानु, त्रिक एवं ऊरू की सन्धियों में पीड़ायुक्त शोथ उत्पन्न होता है।

सार्वदैहिक लक्षण—इसमें अग्निमांद्य, लालास्राव, अरुचि, शरीर में भारीपन, उत्साहहानि, मुख की विरसता, शरीर में दाह, पेशाब की अधिकता, उदर में कठोरता और शूल होता है एवं कोष्ठबद्धता होती है।

मानस लक्षण—दिन में नींद आना और रात में न आना, प्यास, वमन, भ्रम, मूर्च्छा, हृद्ग्रह होता है।

उपद्रव लक्षण—शरीर में अकर्मण्यता, आँतों से गुड़गुड़ाहट, आध्मान तथा अन्य अनेक उपद्रवों के होने की सम्भावना रहती है।

दोषज विशेष लक्षण[2]—

1. आमवात में पित्त का अनुबन्ध होने पर रुग्ण स्थान पर जलन और लाली होती है।
2. वात का अधिक प्रकोप होने पर पीड़ा की अधिकता होती है।
3. कफ का अनुबन्ध होने पर भारीपन और खुजली के लक्षण मिलते हैं।

---

1. अङ्गमर्दोऽरुचिस्तृष्णा ह्यालस्यगौरवं ज्वरः।
अवाकः शूनताऽङ्गानामामवातस्य लक्षणम्।। (मा. नि. 25/6)
2. पित्तात् सदाहरागं च सशूलं पवनानुगम्।
स्तिमितं गुरुकण्डूं च कफदुष्टं तमादिशेत्।। (मा. नि. 25/11)

चिकित्सा सूत्र[1]

1. रोगी के बलाबल का विचार कर उसे लंघन और स्वेदन कराना चाहिये।

2. औषध तथा आहार में अग्निप्रदीपक एवं तिक्त तथा कटु रस वाले द्रव्य देंगे।

3. विरेचन कराना चाहिये एवं लंघन आदि से आमक्षय हो जाने पर रूक्ष वायु के प्रशमन के लिये स्नेहपान कराना चाहिये।

4. सैन्धवादि तैल की अनुवासन बस्ति तथा आम के निर्हरण के लिये शोधन बस्ति दे।

5. बालू की पोटली बनाकर उससे रूक्ष स्वेदन कराना चाहिये।

6. बिना स्नेह का प्रयोग किये उपनाह स्वेदन कराना चाहिये।

7. आमवात के रोगी को प्यास लगने पर 5-5 ग्राम पीपर, पिपरामूल, चाभ-चीता-सोंठ लेकर मोटा कूटकर 4 लीटर जल में अर्ध शेष पकाकर छान कर पिलाना चाहिये। यह पञ्चकोल सिद्ध जल कहलाता है।

8. आमवात में लंघन, पाचन और शोधन का प्रयास करना चाहिये।

चिकित्सा—

1. पाचन कषाय—कंचूर, सोंठ, हरीतकी, वच, देवदारु, अतीस और गुरुच को समभाग लेकर 20 ग्राम का क्वाथ बनाकर प्रातः-सायं देवे।

2. शोधन कषाय—दशमूल के सभी द्रव्य, गुरुच, रास्ना, सोंठ और देवदारु समभाग लेकर क्वाथ बनाकर 20-25 मि. ली. एरण्ड तैल मिला कर आवश्यकतानुसार शोधनार्थ प्रयोग करे।

3. यदि उक्त क्वाथ का प्रयोग शमनार्थ करना हो तो एरण्ड तैल 10 मि. ली. डालना चाहिये।

4. रास्नासप्तक क्वाथ—रास्ना, गुरुच, अमलतास, देवदारु, एरण्डमूल, गदहपुर्ना, गोखरु के समभाग का क्वाथ, सोंठ का एक भाग लेकर 200 मि. ली. दूध में खीर बनाकर प्रतिदिन प्रातःकाल खाने को देवें।

5. एरण्ड पायस—एरण्डबीज और सोंठ का चूर्ण 3-3 ग्राम लेकर 200 मि. ली. दूध में खीर बनाकर प्रतिदिन प्रातःकाल खाने को देवें।

6. त्रिवृत चूर्ण—3 ग्राम प्रतिदिन एक बार मन्दोष्ण जल से दें।

7. रसोनादि क्वाथ—लहुसन, सोंठ, सिन्दुवार मूल की छाल समभाग लेकर 20 ग्राम का क्वाथ बनाकर सवेरे-शाम पिलावें।

---

1. लङ्घनं स्वेदनं तिक्तं दीपनानि कटूनि च।
विरेचनं स्नेहपानं वस्तयश्चाममारुते।
सैन्धवाद्यैनानुवास्य क्षारबस्तिः प्रशस्यते।। (चक्रदत्त 25/1-2)

8. गुग्गुल, रास्ना, सोंठ, लहसुन, कुचला, शुद्ध भल्लातक, गुडूचि और एरण्ड स्नेह से बने योगों का प्रयोग लाभप्रद होता है।

9. एकल द्रव्यों में दशमूल, शिलाजीत, रास्ना, लहसुन, पिपरामूल, शतावर, प्रसारणी वच, बादाम तथा पिस्ता का प्रयोग उत्तम है।

सिद्धयोग—

1. चूर्ण—वैश्वानर चूर्ण, अलम्बूषा चूर्ण, अजमोदा चूर्ण या हिंग्वादि चूर्ण दे।
2. वटी—अग्नितुण्डी वटी, आमवातारि वटी, चित्रकादि वटी एवं रसोन वटी का प्रयोग करें।
3. गुग्गुल—सिंहनाद, योगराज, कैशोर, वातारि आदि गुग्गुल का प्रयोग करें।
4. रसरसायन—हिंगुलेश्वर, वातगजांकुश, समीरपन्नग, अमृतमञ्जरी, मल्लसिन्दूर, तालसिन्दूर, आमवातारि वज्र रस का उचित मात्रा में प्रयोग करें।
5. मृत्युञ्जय रस, शृंगभस्म, पञ्चानन लौह, आमवात विध्वंसन रस का प्रयोग करें।
6. पीड़ाशमनार्थ—महाविषगर्भ तैल, पञ्चगुण तैल, प्रसारणी तैल की हल्की मालिश करें।
7. दशांग लेप, शताह्वादि लेप, हिंस्रादि लेप, सिन्दुवार पत्र का प्रयोग करें।
8. आसवारिष्ट में पुनर्नवासव और अमृतारिष्ट देवें।
9. दशमूल क्वाथ, सैन्धवादि तैल या नारायण तैल की बस्ति करें।
10. रसोनाण्ड—10-10 ग्राम सवेरे-शाम मन्दोषण जल से देवें।
11. जीर्ण रोग पर—बृहद् योगराज गुग्गुल, मल्लसिन्दूर, सुवर्णभूपति रस, लक्ष्मीविलास रस, केसरादि अजमोदादि चूर्ण, कासीस भस्म—इनमें से अनुकूलता का विचार कर प्रयोग करें।

व्यवस्था-पत्र—

1. दिन में 4 बार 3-3 घण्टे पर

बृहद् योगराज गुग्गुल	: 1 ग्राम
अग्नितुण्डी वटी	: 500 मि. ग्रा.
मल्लसिन्दूर	: 250 मि. ग्रा.
आमवातारि रस	: 1 ग्राम
शृंगभस्म	: 1 ग्राम
	4 मात्रा (आर्द्रकस्वरस व मधु से)

2. सवेरे-शाम

रास्नासप्तक क्वाथ	: 100 मि. ली.
एरण्ड तैल	: 10 मि. ली.
	2 मात्रा

3. भोजनोत्तर 2 बार अमृतारिष्ट : 40 मि. ली. = 2 मात्रा (समान जल से पीना)
4. राते में सोते समय वैश्वानर चूर्ण : 5 ग्राम (मन्दोष्ण जल से)

पथ्य—जौं, कोदो, कुल्थी, मूंग, पुराना अगहनी चावल, गोमूत्र, मधु, उष्ण जल, कटु तिक्त रसप्रधान द्रव्य, अजवायन, जीरा, सोंठ, मरिच, आदि, लहसुन, जांगल जीवों का मांस, करेला, बथुआ, परवल, पञ्चकोल-सिद्ध जल, एरण्ड तैल, लहसुन, सोंठ—इनका नियमित प्रयोग अधिक लाभप्रद होता है।

अपथ्य—दूध, मछली, गुड़, विरुद्ध आहार-विहार, गुरू एवं स्निग्ध पदार्थों का सेवन, विरुद्धाशन, विषमाशन, अभिष्यन्दी पदार्थ, वेगावरोध, चिन्ता, शोक, आलस्य आदि अपथ्य हैं।

18 वातरक्त

यह वात और रक्त—इन दोनों के दूषित होने से उत्पन्न होने वाला एक रोग है, जो अधिकतर पैर और अंगूठे से या हाथ के अंगुलिपर्वों से प्रारम्भ होकर ऊपर से गुल्फ और जानु की सन्धियों में फैल जाता है। हाथ-पैर में झिनझिनी, फड़कन, सूनापन, दिदोरे उठ जाना और सन्धि स्थलों में दर्द होना इस रोग के होने के सूचक लक्षण हैं। इस रोग का वातव्याधि से निकट का रिश्ता है और सुश्रुत ने इसका वर्णन वातव्याधि प्रकरण में ही किया है, परन्तु चरक ने स्वतन्त्र अध्याय में इसका वर्णन किया है, क्योंकि वात की अपेक्षा इस रोग के निदान, दोष, दूष्य तथा सम्प्राप्ति में कुछ विशिष्टता है।

खुड, वातवलास, आढ्य रोग—ये वातरक्त के पर्याय हैं।

इसमें वात तथा रक्त दोनों दूषित होकर सहकारिता से रोग को उत्पन्न करते हैं, इसलिये इसे वातरक्त, वातासृक् और वातशोणित कहा जाता है। यह रोग विशेष-कर छोटी सन्धियों में होता है, इसलिये इसे खुड़वात कहते हैं। वात के आवृत हो जाने से रक्त अधिक दूषित होकर इस रोग को उत्पन्न करता है; अत: इसे वातवलास कहते हैं। धमनियों में प्राय: होने से यह आढ्य वात कहलाता है।

प्रमुख सन्दर्भ—

चरकसंहिता, चिकित्सा स्थान-29
सुश्रुतसंहिता, निदान स्थान-1
सुश्रुतसंहिता, चिकित्सा स्थान-5
अष्टाङ्गहृदय, निदान स्थान-16
अष्टाङ्गहृदय, चिकित्सा स्थान-22
माधवनिदान-23

निदान[1]—

वातरक्त में साथ-साथ ही वात और रक्त का प्रकोप होता है तथा इस रोग में कुछ निदान वातप्रकोपक और कुछ रक्तप्रकोपक होते हैं। जैसे—

1. लवणाम्ल-कटु-क्षार-स्निग्धोष्णाजीर्णभोजनैः।
क्लिन्न-शुष्काम्बुजानूपमांस-पिण्याक-मूलकैः।। (मा. नि. 23/1)

आहारसम्बन्धी[1]—

वातप्रकोपक—कषाय, कटु, तिक्त तथा रूक्ष आहार, अल्प भोजन, अनशन।

रक्तप्रकोपक—लवण, अम्ल, कटु, क्षार तथा स्निग्ध आहार, क्लिन्न, शुष्क और आनूप मांस-सेवन, सेम, तिलकुट, कुलथी, उड़द और मूली खाना, दही, काञ्जी, सिरका, तक्र और आसव।

विहारसम्बन्धी—

वातप्रकोपक—ऊँट या घोड़े की अधिक सवारी करना, अधिक कूदना और तैरना, ग्रीष्म ऋतु में अधिक पैदल चलना, अतिमैथुन, वेगधारण एवं जागरण।

रक्तप्रकोपक—विरुद्ध आहार और अजीर्ण में भोजन, क्रोध, दिवाशयन और रात्रि-जागरण, सुकुमारता, अव्यायाम तथा आरामतलब स्वभाव होना, बैठे ठाले रहना, कोई श्रम न करना और पैदल न टहलना अथवा न घूमना, किसी तरह की चोट लगना और शरीर का कभी शोधन न करना आदि।

सम्प्राप्ति—

वातप्रकोपक तथा रक्तप्रकोपक आहार-विहार, सुकुमारता, स्थूलता, आलस्य, मिष्ठान्न आदि → निदान → अन्नविदाह → रक्तदुष्टि + प्रकुपित वात → सम्पूर्ण रक्तदुष्टि → सर्वशरीर में प्रसरण → पादमूल या हस्तमूल में सञ्चय → वातरक्त रोग → उत्तान (त्वचा एवं मांस में स्थित वातरक्त) गम्भीर (सन्धि, अस्थि, मज्जा में स्थित वातरक्त)।

दोष-दूष्य अधिष्ठान—

दोष	: वातप्रधान
दूष्य	: रक्त
स्रोतस्	: रक्तवह
अधिष्ठान	: सन्धि
स्रोतोदुष्टि लक्षण	: संग
पक्वाशयोत्थ	: चिरकारी रोग

1. कुलत्थ-माष-निष्पाव-शाकादिपललेक्षुभिः।
दध्यारनाल-सौवीर-शुक्त-तक्र-सुरासवैः।।
विरुद्धाध्यशन-क्रोध-दिवास्वप्न-प्रजागरैः।
प्रायशः सुकुमाराणां मिष्टान्नसुखभोजिनाम्।।
अचङ्क्रमणशीलानां कुप्यते वातशोणितम्।
अभिघातादशुद्ध्या च प्रदुष्टे शोणिते नृणाम्।। (च. चि. 29/6-8)

पूर्वरूप[1]

- पसीने का अधिक आना अथवा थोड़ा भी न आना
- मुख की आकृति का काला पड़ जाना
- रुग्ण स्थान पर स्पर्शज्ञान का न होना
- घातयुक्त स्थान पर असह्य पीड़ा का होना
- सन्धियों का ढीलापन
- आलस्य, शरीर में उत्साह का अभाव
- फोड़े-फुन्सियों का निकलना
- बार-बार सन्धियों में पीड़ा का होना और कुछ समय बाद स्वयं शान्त हो जाना
- त्वचा का वर्ण असुन्दर हो जाना तथा शरीर में चकत्तों की उत्पत्ति का होना
- सन्धियों में फड़कन, भारीपन, शून्यता, खुजली की प्रवृत्ति का होना।

वातरक्त के भेद—

वातरक्त
- आश्रयभेद से
  - उत्तान
  - गम्भीर
    - रक्तज
    - वातज
    - पित्तज
    - कफज
- दोषभेद से
  - एकदोषज
  - द्वन्द्वज
  - त्रिदोषज
    - वातपित्तज
    - वातकफज
    - कफपित्तज

लक्षण—

1. **उत्तान वातरक्त**—खुजली, दाह, पीड़ा, खिंचाव, सुई चुभने जैसी पीड़ा, फड़कन, अङ्गों में सिकुड़न और त्वचा का वर्ण श्यावरक्त तथा ताम्रवर्ण का होना, ये उत्तान वातरक्त के लक्षण हैं।

2. **गम्भीर वातरक्त**—जकड़न और कठोरतायुक्त शोथ, शोथ में भी भयङ्कर दर्द, सन्धियों में दाह, तोद, फड़कन और पाक होना, ये गम्भीर वातरक्त के लक्षण हैं।

3. **उत्तरन-गम्भीर मिश्रित वातरक्त**—वेगवान वायु शरीर में पीड़ा, दाह, सन्धि-अस्थि-मज्जा में काटने जैसी वेदना उत्पन्न करती है, वह सन्धिस्थल को भीतर से टेढ़ा करती हुई गति करती है और लंगड़ापन या पङ्गुता उत्पन्न करती है।

---

1. स्वेदोऽत्यर्थं न वा कार्ष्ण्यं स्पर्शाज्ञत्वं क्षतेऽतिरुक्।
सन्धिशैथिल्यमालस्यं सदनं पिडकोद्गमः।।
जानु-जङ्घोरु-कट्यंस-हस्त-पादाङ्गसन्धिषु।
निस्तोदः स्फुरणं भेदो गुरुत्वं सुप्तिरेव च।। (च. चि. 29/16-17)

4. **दोषप्रधान वातरक्त**[1]—

वातप्रधान—सिराओं में तनाव, शूल, फड़कन, सुई चुभने जैसी वेदना, रूक्षता का घटना-बढ़ना, शोथ में कृष्णता, धमनी-अंगुलि एवं सन्धियों में संकोच, अंगों में जकड़न, अतिपीड़ा, आकुञ्चन, शीतल आहार-विहार से द्वेष।

पित्तप्रधान—विदाह, वेदना, मूर्च्छा, स्वेदाधिक्य, पिपासा, मद, भ्रम, लालिमा, ज्वर, टूटन, उष्णता।

कफप्रधान—आर्द्र वस्त्र से ढका अनुभव होना, भारीपन, चिकनापन, शून्यता, मन्द वेदना होना।

रक्तप्रधान—खुजली, क्लेदयुक्त शोथ, वेदना, तोद, चुनचुनाहट, त्वचा का ताम्रवर्ण का होना।

साध्यासाध्यता[2]

- एकदोषज और नवीन वातरक्त साध्य होता है।
- द्विदोषज याप्य होता है। एक वर्ष पुराना और उपद्रवरहित भी याप्य होता है।
- त्रिदोषज और बहुत उपद्रवयुक्त असाध्य होता है।

उपद्रव[3]—निद्रानाश, अरुचि, श्वास, मांसकोथ, शिर:शूल, मूर्च्छा, मद, शरीर में पीड़ा, तृष्णा, ज्वर, मोह, कम्पवात, हिचकी, पङ्गुता, विसर्प, पाक, तोद, भ्रम,

---

1. वातेऽधिकेऽधिकं तत्र शूल-स्फुरण-भञ्जनम्।
शोथस्य रौक्ष्यं कृष्णत्वं श्यावता-वृद्धि-हानयः।।
धमन्यङ्गुलिसन्धीनां सङ्कोचोऽङ्गग्रहोऽरुक्।
शीतद्वेषानुपशयौ स्तम्भ-वेपुथ-सुप्तयः।।
रक्ते शोथोऽतिरुक्तोदस्ताम्रश्चिमिचिमायते।
स्निग्ध-रूक्षैः शमं नैति कण्डू-क्लेदसमन्वितः।।
पित्ते विदाहः सम्मोहः स्वेदो मूर्च्छा मदः सतृट्।
स्पर्शासहत्वं रुग्रागः शोथः पाको भृशोष्णता।।
कफे स्तैमित्य-गुरुता-सुप्ति-स्निग्धत्व-शीतताः।
कण्डूर्मन्दा च रुग्द्वन्द्वं सर्वलिङ्गं च सङ्करात्।। (अ. हृ. नि. 16/12-16)
2. एकदोषानुगं साध्यं नवं, याप्यं द्विदोषजम्।
त्रिदोषजमसाध्यं स्याद्यस्य च स्युरुपद्रवाः।। (च. चि. 29/30)
3. अस्वप्नारोचक-श्वास-मांसकोथ-शिरोग्रहाः।।
समूर्च्छायमद-रुक्-तृष्णा-ज्वर-मोह-प्रवेपकाः।।
अङ्गुलीवक्रता-स्फोटा दाह-मर्मग्रहार्बुदाः।
एतैरुपद्रवैर्वर्ज्यं मोहेनैकेन वाऽपि यत्।। (च. चि. 29/31-32)

क्लम, अंगुलि-वक्रता, व्रण निकलना, जलन, हृदय-वस्ति-शिर में विकार होना और अर्बुद होना, ये वातरक्त के उपद्रव हैं।

वातरक्त की असाध्यता का कारण—वात प्रकुपित होकर शाखा एवं सन्धियों में जाकर रक्त के मार्ग को रोक देती है अर्थात् बन्द कर देती है और बढ़ा हुआ रक्त भी वायु के मार्ग को रोक देता है। इस प्रकार के मार्गावरोध से इतनी दारुण वेदना होती है कि रोगी मृत्यु की गोद में सो जाता है।

चिकित्सा-सूत्र

वातरक्त के निदान का सर्वथा परित्याग करें।

गम्भीर उपद्रवों से रहित, बलवान, जितेन्द्रिय और साधनसम्पन्न रोगी की चिकित्सा करें[1]।

अन्तःपरिमार्जन—

(क) रक्तमोक्षण—रोगी के दोष तथा बलादि का विचार कर स्नेहन-स्वेदन आदि समुचित पूर्वकर्म करके शृंग, जोंक, सुई, तुम्बी, पाछकर या सिरावेध द्वारा रक्त निर्हरण करना चाहिये। यदि अंगशोथ हो, रूक्षता अधिक हो और वातप्रधान वातरक्त हो तो रक्त न निकालें।

(ख) वात को पुरीष से आवृत जानकर बार-बार मृदु विरेचन देना चाहिये अथवा घृत मिलाकर क्षीर वस्ति के प्रयोग से मल का निर्हरण करना चाहिये[2]।

बहिःपरिमार्जन—पुल्टिस, परिषेक, प्रदेह, मालिश, वायुरहित मनोज्ञ विशाल गृह में निवास, सुखकर शय्या और कोमल हाथों से संवाहन करना चाहिये।

विशिष्ट चिकित्सा-सूत्र—

उत्तान (बाह्य) **वातरक्त**—आलेप, अभ्यङ्ग, परिषेक और उपनाह द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये।

गम्भीर वातरक्त—विरेचन, निरूह वस्ति और स्नेहपान द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये।

वातप्रधान—घी-तेल-वसा और मज्जा के यथायोग्य पान, अभ्यंग, अनुवासन बस्ति के प्रयोग तथा मन्दोष्ण पुल्टिस की सेंक देकर चिकित्सा करें।

रक्त एवं पित्त प्रधान—विरेचन, घृतपान, दुग्धपान, परिषेक और अनुवासन बस्ति के द्वारा एवं शीतल दाहशामक प्रलेपों द्वारा उपचार करना चाहिये।

1. बलवन्तमात्मवन्तमुपकरणवन्तं चोपक्रमेत्।। (सु. चि. 5/6)
2. निर्हरेद् वा मलं तस्य सघृतैः क्षीरबस्तिभिः।
न हि बस्तिसमं किञ्चिद् वातरक्तचिकित्सितम्।। (च. चि. 29/88)

कफ प्रधान—मृदु वमन, स्नेह, परिषेक और लंघन का अल्प प्रयोग तथा उष्ण लेप लगावें।

सामान्य चिकित्सा—

- हरीतकी चूर्ण 3 ग्राम को गुड़ के साथ सवेरे-शाम दें।
- दूध में 5 पीपर पीसकर और प्रतिदिन 5-5 के क्रम से बढ़ाकर 10 दिनों तक सेवन करें और 15 संख्या पर क्रमशः घटावें तथा दूध-भात का पथ्य लें।
- जीवनीयगण के कल्क तथ दूध से घृत पकाकर अभ्यङ्ग करना चाहिये।
- गुरूच का स्वरस, कल्क या क्वाथ 2-3 महीने पर पीना लाभकर होता है।
- पीपल की छाल 20 ग्राम लेकर क्वाथ बना कर प्रातः-सायं मधु मिलाकर पीना।
- गोरखमुण्डी का चूर्ण 5 ग्राम, 10 ग्राम घी, 20 ग्राम मधु से प्रातः-सायं दें।
- बाह्य प्रलेप—तिल को भूनकर गोदुग्ध से पीसकर लेप करें।
- भेड़ के दूध या घी का लेप करें या राल चूर्ण का घी के साथ लेप करें।
- शतधौत घृत लगावें या बलादि प्रलेप या गृहधूमादि लेप लगावें।
- तैल प्रयोग—गुडूची तैल, मरिचादि तैल, महापिण्ड तैल, सुकुमारक तैल।
- मधुपर्ण्यादि तैल, महापद्मक तैल या खुड्डाकपद्मक तैल लगावें।

सिद्धयोग—

- महामञ्जिष्ठादि क्वाथ इस रोग की बहुशः परीक्षित औषधि है।
- चूर्ण—निम्बादि चूर्ण, भृङ्गराज चूर्ण, महासुदर्शन चूर्ण उत्तम है।
- गुग्गुलु—कैशोर, गोक्षुरादि या अमृता गुग्गुलु का प्रयोग करें।
- घृत—जीवनीय घृत, अमृतादि घृत या गुडूची घृत का प्रयोग करें।
- आसवारिष्ट—खदिरारिष्ट, मञ्जिष्ठारिष्ट, सारिवाद्यरिष्ट।
- वातरक्तान्तक रस, विश्वेश्वर रस, महातालेश्वर रस और पित्तान्तक लौह का यथायोग्य मात्रा में प्रयोग करें।

पथ्यापथ्य—

पथ्य—पुराना चावल, जौ, गेहूँ, मूंग, मसूर, करेला, परवल, बथुआ, आंवला, मुनक्का, किसमिस, मक्खन, घी, गाय-बकरी-भैंस का दूध, चना और गेहूँ की रोटी उत्तम पथ्य है।

अपथ्य—उड़द, कुलथी, सेम, तिल, दही, अम्ल-लवण-कटु रस वाले द्रव्य, क्षारीय पदार्थ, उष्ण और विदाही पदार्थ अपथ्य हैं।

व्यवस्था-पत्र—

1. प्रातः कैशोर गुग्गुलु : 2 ग्राम
   महामञ्जिष्ठादि क्वाथ
   50 मि. लि. के साथ : 1 मात्रा
2. भोजनोत्तर 2 बार खदिरारिष्ट : 50 मि. ली.
   समान जल से पीना : 2 मात्रा
3. रात में सोते समय आरोग्यवर्धिनी : 1 ग्राम
   मन्दोष्ण गोदुग्ध के साथ : 1 मात्रा
4. अभ्यङ्ग : महामरिचादि तैल का मालिश करें।

19 आवृत वात

वायु को आयु कहा जाता है। वायु ही शरीर का बल है। वायु ही आत्मा को धारण करने वाली है। वायु ही संसार है। वायु को ही प्रभु (सभी कार्यों को करने में समर्थ) कहा जाता है। जिस व्यक्ति के शरीर में वायु बिना रुकावट के साथ गमन करती रहती है, अपने स्थान में रहती है और अपनी प्राकृतावस्था में रहती है, वह व्यक्ति रोगरहित सौ वर्ष से अधिक जीवित रहता है। वायु के प्रकुपित होने पर अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। वातप्रकोप की दो विधियाँ बताई गई हैं—1. धातुक्षय के कारण वात (वायु) का प्रकोप एवं 2. मार्ग आवरण के कारण वात का प्रकोप (आवृत वात)।

1. धातुक्षय के कारण वातवृद्धि होकर पूरे शरीर में रूक्षता, खरता आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

2. मार्ग आवरण के कारण वात का प्रकोप।

कोई भी दोष, धातु, मल अथवा अन्न आदि द्रव्य जब वायु की स्वाभाविक क्रिया में विघ्न पहुँचाते हैं एवं वायु के मार्ग में रुकावट डालकर उसकी शक्ति को क्षीण कर देते हैं तो वायु का प्रकोप होता है और यही वायु का आवरण कहा जाता है। आवरण करने वाले दोष आदि को आवरक (Covering agent) और उससे बधित दूसरे वायु को आवृत (Covered) कहते हैं। आवरण की अवस्था में आवरक व आवृत दोनों के मिले हुये लक्षण मिलते हैं। प्रारम्भ में प्रबल होने के कारण प्रायः आवरक दोषों के लक्षण अधिक मिलते हैं, किन्तु बाद में निरन्तर स्रोतोऽवरोध से वात प्रबल हो जाता है, तब वात के लक्षण अधिक मिलने लगते हैं। रोग की जीर्णावस्था में आवरक के क्षीण रहने के कारण आवृत के ही लक्षण अधिक मिलते है। वायु आदि दोषों का धातुओं से या परस्पर एक-दूसरे के द्वारा जो आवरण होता है, उसका परिज्ञान उतना ही आवश्यक है, जितना कि दोषों के साम-निराम एवं क्षय-वृद्धि का ज्ञान आवश्यक है। आवरणों का सम्यक् परिज्ञान होने से उनकी चिकित्सा ठीक प्रकार से हो पाती है। उचित चिकित्सा के अभाव में यह रोग असाध्य या कृच्छ्रसाध्य हो जाते हैं।

प्रमुख सन्दर्भ—

1. चरकसंहिता, सूत्रस्थान-12 (वातकलाकलीय)
2. चरकसंहिता, सूत्रस्थान-20 (महारोगाध्याय)

2. चरकसंहिता, चिकित्सा स्थान-28 (वात व्याधि चिकित्सा)
4. चरकसंहिता, चिकित्सा स्थान-29 (वात शोणित चिकित्सा)
5. सुश्रुतसंहिता, निदान स्थान-1 (वात व्याधि निदान)
6. सुश्रुतसंहिता, चिकित्सा स्थान-4 (वात व्याधि चिकित्सा)
7. अष्टाङ्गहृदय, निदान-15 (वात व्याधि निदान)
8. अष्टाङ्गहृदय, चिकित्सा-21 (वात व्याधि निदान)

परिभाषा—प्रकुपित दोषादि के द्वारा या वात के किसी भेद द्वारा किसी विशिष्ट वायु की क्रिया का उसके मार्ग में अवरोध होने से मन्द हो जाना आवरण कहलाता है।

निदान—

1. रूक्ष सेवन
2. लघु सेवन
3. शीत सेवन
4. खरसेवन
5. अल्पाहार
6. अतिजागरण
7. विषमोपचार
8. प्लवन (तैरना)
9. लंघन
10. अतिपुरीषक्षय
11. अति रक्तक्षय
12. अति व्यायाम
13. धातुक्षय
14. चिन्ता, शोक
15. आम
16. वेगसंधारण
17. हाथी, ऊंट और अश्व की सवारी
18. कटु, तिक्त, कषाय रस आहार
19. क्रिया अतियोग (शोधन) क्रियाओं का अतियोग
20. विषमाशन
21. अध्यशन

दोष-दूष्य अधिष्ठान—

दोष—वात
दूष्य—सर्वधातु
अधिष्ठान—अंग-प्रत्यंग एवं अवयवविशेष।

भेद—

आवृत वात-व्याधियों को दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—

1. दोष-धातु-मलावृत वात-व्याधियाँ—इनकी संख्या 22 है।
2. अन्योन्यावृत वात-व्याधियाँ—इनकी संख्या 20 है।

1. दोष-धातु-मलावृत वात-व्याधियाँ—दोष, धातु, मल और अन्न द्वारा वायु के स्वाभाविक क्रिया में विघ्न या वायु के मार्गों में रुकावट डालकर उसकी शक्ति को क्षीण कर देने से वायु का प्रकोप होना ही आवरण कहलाता है।

1. पित्तावृत वात
2. पित्तावृत प्राण वात
3. पित्तावृत उदान वात
4. पित्तावृत व्यान वात
5. पित्तावृत समान वात
6. पित्तावृत अपान वात
7. कफावृत वात
8. कफावृत प्राण वात
9. कफावृत उदान वात
10. कफावृत व्यान वात
11. कफावृत समान वात
12. कफावृत अपान वात
13. रक्तावृत वात
14. मांसावृत वात
15. मेदसावृत वात
16. अस्थ्यावृत वात
17. मज्जावृत वात
18. शुक्रावृत वात
19. अन्नावृत वात
20. मूत्रावृत वात
21. मलावृत वात
22. सर्वधात्वावृत वात

2. अन्योन्यावृत वात-व्याधियाँ—

1. उदानावृत प्राण वात
2. व्यानावृत प्राण वात
3. समानावृत प्राण वात
4. अपानावृत प्राण वात
5. प्राणावृत उदान वात
6. व्यानावृत उदान वात
7. समानावृत उदान वात
8. अपानावृत उदान वात
9. प्राणावृत व्यान वात
10. उदानावृत व्यान वात
11. समानावृत व्यान वात
12. अपानावृत व्यान वात
13. प्राणावृत समान वात
14. उदानावृत समान वात
15. व्यानावृत समान वात
16. अपानावृत समान वात
17. प्राणावृत अपान वात
18. समानावृत अपान वात
19. उदानावृत अपान वात
20. व्यानावृत अपान वात

1. (क) दोषावृत वात-व्याधियाँ

भेद	लक्षण	चिकित्सा
1. पित्तावृत वात[1]	1. दाह, 2. प्यास की अधिकता, 3. उदर में शूल 4. चक्कर आना, 5. नेत्रों के आगे अन्धेरा आना, 6. कटु, अम्ल लवण रस, 7. उष्ण वीर्य वस्तुओं के सेवन से विदाह और 8. शीतल पदार्थों की इच्छा।	1. बारी-बारी से एक बार शीतल और एक बार उष्ण क्रियाओं का प्रयोग करना चाहिये, 2. मधुयष्टि तैल, बलातैल, दूध, लघुपञ्चमूल का क्वाथ अथवा शीतल जल से परिषेक एवं स्नान करना चाहिये, 3. विरेचन कर्म करवाना चाहिये, 4. दूध के साथ निरूहबस्ति और मधुर वर्ग की औषधियों से सिद्ध तैल से अनुवासन बस्ति के द्वारा पित्त का निर्हरण करना चाहिये। इस प्रकार पित्तावृत वायु के होने पर पित्तनाशक तथा वायु का विरोधी न होने वाले औषध एवं आहार द्रव्यों के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये।
2. पित्तावृत प्राण वात[2]	1. मूर्च्छा, 2. दाह, 3. चक्कर आना, 4. शूल, 5. उदर में विदाह, 6. शीत आहारादि की इच्छा और 7. विदग्ध अन्न का वमन।	
3. पित्तावृत उदान वात[3]	1. मूर्च्छा, 2. दाह, 3. नाभि और वक्ष प्रदेश में क्लम (थकावट), 4. ओज का नाश 5. शरीर में अवसाद।	
4. पित्तावृत व्यान वात[4]	1. सर्वाङ्ग में दाह, 2. थकावट का अनुभव, 3. शरीर की विक्षेपक क्रिया में थकावट, 4. सन्ताप और वेदना।	
5. पित्तावृत समान वात[5]	1. पसीने की अधिकता, 2. प्यास की वृद्धि 3. दाह,	

1. लिङ्गं पित्तावृते दाहस्तृष्णा शूलं भ्रमस्तमः।
कट्वम्ललवणोष्णैश्च विदाहः शीतकामिता।। (च. चि. 28/61)
2. मूर्च्छा दाहो भ्रमः शूलं विदाहः शीतकामिता।
छर्दनं च विदग्धस्य प्राणे पित्तसमावृते।। (च. चि. 28/221)
3. मूर्च्छाद्यानि च रूपाणि दाहो नाभ्युरसः क्लमः।
ओजोभ्रंशश्च सादश्चाप्युदाने पित्तसंवृते।। (च. चि. 28/223)
4. व्याने पित्तावृते तु स्याद्दाहः सर्वाङ्गगः क्लमः।
गात्रविक्षेपसङ्गश्च ससन्तापः सवेदनः।। (च. चि. 28/227)
5. अतिस्वेदस्तृषा दाहो मूर्च्छा चारुचिरेव च।
पित्तावृते समाने स्यादुपघातस्तथोष्मणः।। (च. चि. 28/225)

भेद	लक्षण	चिकित्सा
	4. मूर्च्छा, 5. भोजन में अरुचि और 6. ऊष्मा का अवरोध।	1. आमाशय में स्थित कफ को वमन द्वारा निकालना चाहिये। 2. पक्वाशय में कफ स्थित हो तो विरेचन कराना चाहिये। 3. स्वेदन क्रिया के उपरान्त गरम गोमूत्र मिलाकर निरुहबस्ति के द्वारा कफ का निर्हरण करना चाहिये। **चिकित्सा**—4. मधुर वर्ग की औषधियों से सिद्ध तैल से अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिये। 5. कफ के साथ यदि वात शिरःप्रदेश में चला गया हो तो धूमनस्य आदि शिरोरोगनाशक विधियों का प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार कफनाशक और वायु का अनुलोमन करने वाले औषध एवं
6. पित्तावृत अपान वात[1]	1. हारिद्र वर्ण मूत्र और मल 2. गुदा और मूत्रेन्द्रियों में ताप, 3. स्त्रियों में अधिक मासिक स्राव।	
7. कफावृत वात[2]	1. शीतता, 2. भारीपन, 3. वेदना, 4. लंघन, श्रम रूक्ष और उष्ण पदार्थों में रुचि।	
8. कफावृत प्राण वात[3]	1. बार-बार थूकने की प्रवृत्ति, 2. छींक, 3. डकार, 4. श्वास-प्रश्वास में थकावट, 5. भोजन में अरुचि और वमन	
9. कफावृत उदान[4] वात	1. शरीर में विवर्णता, 2. वाक, स्वर की रुकावट, 3. निर्बलता, 4. भारीपन, 5. भोजन में अरुचि	
10. कफावृत व्यान वात[5]	1. सम्पूर्ण शरीर में भारीपन, 2. सम्पूर्ण अस्थि सन्धियों में वेदना, 3. शरीर की चेष्टाओं का स्तम्भन।	

1. हारिद्रमूत्रवर्चस्त्वं तापश्च गुदमेढ्रयोः।
लिङ्गं पित्तावृतेऽपाने रजसश्चातिवर्तनम्।। (च. चि. 28/229)
2. शैत्यगौरवशूलानि कट्वाद्युपशयोऽधिकम्।
लङ्घनायासरूक्षोष्णकामिता च कफावृते।। (च. चि. 28/62)
3. ष्ठीवनं क्षवथूद्गारनिःश्वासोच्छ्वाससंग्रह।
प्राणे कफावृते रूपाण्यरुचिश्छर्दिरेव च।। (च. चि. 28/222)
4. आवृते श्लेष्मणोदाने वैवर्ण्यं वाक्स्वरग्रहः।
दौर्बल्यं गुरुगात्रत्वमरुचिश्चोपजायते।। (च. चि. 28/224)
5. गुरुता सर्वगात्राणां सर्वसन्ध्यस्थिजा रुजः।
व्याने कफावृते लिङ्गं गतिसङ्गस्तथाऽधिकः।। (च. चि. 28/228)

भेद	लक्षण	चिकित्सा
11. कफावृत समान वात[1]	1. पसीना आना 2. अग्निमांद्य, 3. रोम हर्ष 4. शरीर में अधिक शीतलता का अनुभव।	आहार द्रव्यों द्वारा कफावृत वात की चिकित्सा करनी चाहिये।
12. कफावृत अपान वात[2]	1. पतला, आम और कफ मिश्रित भारी मल की प्रवृत्ति, 2. कफजन्य प्रमेह का होना।	

(ख) धातु-मलावृत वात व्याधियाँ

13. रक्तावृत वात[3]	1. त्वचा और मांसपेशियों के मध्य में दाह और अधिक वेदना, 2. लालिमा युक्त शोथ और मण्डल।	1. घृत पान, 2. तैल का मर्दन या पान, 3. बस्ति, वसा या मज्जा का पान या अभ्यङ्ग, 4. इन्हीं द्वारा अनुवासन बस्ति का प्रयोग, 5. गर्म उपनाह।
14. मांसावृत वात[4]	1. कठोर और विवर्ण पिडिकायें, 2. शोथ, 3. रोमांच, 4. शरीर पर चीटियाँ चलने के समान प्रतीत होना।	1. स्वेदन, 2. अभ्यङ्ग, 3. मांसरस, दूध, घृत, तैल आदि स्नेहों का प्रयोग।
15. मेदसावृत वात[5]	अङ्गों में चलायमान, स्निग्ध, कोमल, शीतल शोथ, 2. भोजन में अरुचि। यह कष्टसाध्य है। इसे आढ्यवात भी कहते हैं।	1. अतिस्थौल्य की चिकित्सा, 2. प्रमेहनाशक, 3. वातनाशक औषधियों का प्रयोग।

1. अस्वेदो वह्निमान्द्यं च लोमहर्षस्तथैव च।
कफावृते समाने स्याद्गात्राणां चातिशीतता।। (च. चि. 28/226)
2. भिन्नामश्लेष्मसंसृष्टगुरुवर्चःप्रवर्तनम्।
श्लेष्मणा संवृतेऽपाने कफमेहस्य चागमः।। (च. चि. 28/230)
3. रक्तावृते सदाहार्तिस्त्वङ्मांसान्तरजो भृशम्।
भवेत् सरागः श्वयथुर्जायन्ते मण्डलानि च।। (च. चि. 28/63)
4. कठिनाश्च विवर्णाश्च पिडकाः श्वयथुस्तथा।
हर्षः पिपीलिकानां च संचार इव मांसगे।। (च. चि. 28/64)
5. चलः स्निग्धो मृदुः शीतः शोफोऽङ्गेष्वरुचिस्तथा।
आढ्यवात इति ज्ञेयः स कृच्छ्रो मेदसाऽऽवृतः।। (च. चि. 28/65)

भेद	लक्षण	चिकित्सा
16. अस्थ्यावृत वात[1]	1. अङ्गों में टूटने के समान पीड़ा, 2. शरीर में सुइयाँ चूभने की सी वेदना, 3. उष्ण स्पर्श और अङ्गों को हाथों से दबाने की इच्छा।	महास्नेह (घृत, तैल, वसा, मज्जा) प्रयोग
17. मज्जावृत वात[2]	1. शरीर का टेढ़ा होना, 2. जम्भाई, 3. शरीर में ऐंठन, 4. शूल, 5. दबाने से सुख का अनुभव।	महास्नेह प्रयोग
18. शुक्रावृत वात[3]	1. शुक्र वेग नहीं होना अथवा अधिक होना, 2. शुक्र का गर्भाधान में अक्षम होना।	1. शुक्र का मार्ग बन्द होने पर विरेचन कर्म, 2. फिर संसर्जन द्वारा शरीर की पुष्टि, 3. शुक्रवर्धक आहार का सेवन और औषधियों का सेवन।
19. अन्नावृत वात[4]	1. भोजन करने पर उदर में शूल और भोजन पच जाने पर शूल की शान्ति होना।	1. वमन द्वारा अन्न का निष्कासन, 2. पाचन, दीपन और लघु अन्न का सेवन।
20. मूत्रावृत वात[5]	1. मूत्र की प्रवृत्ति न होना, 2. मूत्राशय में आध्मान	मूत्रल औषधियों का प्रयोग, 2. उत्तरबस्ति के साथ-साथ स्वेदन

1. स्पर्शमस्थ्नाऽऽवृते तूष्णं पीडनं चाभिनन्दति।
सम्भज्यते सीदति च सूचीभिरिव तुद्यते।। (च. चि. 28/66)
2. मज्जावृते विनामः स्याज्जृम्भणं परिवेष्टनम्।
शूलं तू पीड्यमाने च पाणिभ्यां लभते सुखम्।। (च. चि. 28/67)
3. शुक्रावेगोऽतिवेगो वा निष्फलत्वं च शुक्रगे।
भुक्ते कुक्षौ च रुग्जीर्णे शाम्यत्यन्नावृतेऽनिले।। (च. चि. 28/68)
4. व्रजत्याशु जरां स्नेहो भुक्ते चानह्यते नरः।
चिरात् पीडितमन्नेन दुःखं शुष्कं शकृत् सृजेत्।।
श्रोणीवङ्क्षणपृष्ठेषु रुग्विलोमश्च मारुतः।।
अस्वस्थं हृदयं चैव वर्चसा त्वावृतेऽनिले। (च. चि. 28/71)
5. मूत्राप्रवृत्तिराध्मानं बस्तौ मूत्रावृतेऽनिले।
वर्चसोऽतिविबन्धोऽधः स्वे स्थाने परिकृन्तति।। (च. चि. 28/69)

भेद	लक्षण	चिकित्सा
21. **मलावृत वात**[1]	1. मल की गांठें बन्ध जाना, 2. पक्वाशय में कैंची से काटने जैसी वेदना, 3. स्नेह द्रव्य का शीघ्र पाचन, 4. भोजन करने पर आध्मान, 5. मल का कष्टपूर्वक, देर से और शुष्क निकलना, कटि जंघामूल, पीठ में वेदना, हृदय की धड़कन बढ़ना, अधोवायु की विपरीत गति।	एरण्ड तैल का पान, 2. स्निग्ध द्रव्यों का सेवन, 3. उदावर्त रोग की तरह उपचार।
22. **सर्वधात्वावृत वात**[2]	1. श्रोणिमण्डल, वंक्षणप्रदेश और कटिप्रदेश में पीड़ा, 2. वायु की विलोम गति, 3. हृदय में पीड़ा, 4. अस्वास्थ्य।	1. वातनाशक तैलों का अभ्यङ्ग, 2. अनुवासन के साथ-साथ निरूह बस्ति, 3. हृदय के लिये हितकारी अन्न का सेवन।

2. अन्योन्यावृत वात-व्याधियाँ

परिभाषा—वायु के पाँचों भेदों से किसी एक वायु का दूसरी वायु के कार्य में बाधा उत्पन्न करना ही अन्योन्यावृत वात कहलाता है।

1. **प्राणावृत व्यान वात**[3]	1. सभी इन्द्रियों में शून्यता का अनुभव, 2. स्मरण शक्ति का क्षय, 3. बल का क्षय।	1. ऊर्ध्वजत्रुग कर्म-स्नेहन, स्वेदन, नस्य, शिरोविरेचन, 2. स्मृतिवर्धक बल्य औषधियाँ—स्मृतिसागर, सारस्वतारिष्ट आदि का प्रयोग।

1. व्रजत्याशु जरां स्नेहो भुक्ते चानह्यते नरः।
चिरात् पीडितमन्नेन दुःखं शुष्कं शकृत् सृजेत्।।
श्रोणीवङ्क्षणपृष्ठेषु रुग्विलोमश्च मारुतः।
अस्वस्थं हृदयं चैव वर्चसा त्वावृतेऽनिले। (च. चि. 28/71)
2. सर्वधात्वावृते वायौ श्रोणिवङ्क्षणपृष्ठरुक्।
विलोमं मारुतोऽवस्थं हृदयं पीड्यतेऽति च।। (अ. हृ. नि. 16)
3. सर्वेन्द्रियाणां शून्यत्वं ज्ञात्वा स्मृतिबलक्षयम्।
व्याने प्राणावृते लिङ्गं कर्म तत्रोर्ध्वजत्रुकम्।। (च. चि. 28/202)

भेद	लक्षण	चिकित्सा
2. **व्यानावृत प्राण वात**[1]	1. अधिक पसीना आना, 2. रोमहर्ष, 3. त्वचा में सिकुड़न, 3. शरीर में शून्यता।	स्नेह मिलाकर विरेचन औषधि का प्रयोग, दुग्ध-मिश्रित एरण्डतैल से विरेचन।
3. **प्राणावृत समान वात**[2]	1. शरीर में जड़ता, 2. गद्-गद वाक्य बोलना, 3. मूक हो जाना।	यापना बस्ति के साथ-साथ स्नेह के चार प्रकार का प्रयोग—पान, अभ्यङ्ग, अनुवासन, नस्य करें।
4. **समानावृत अपान वात**[3]	1. ग्रहणी रोग, 2. पार्श्व में पीड़ा, 3. हृदय रोग, 4. आमाशय में शूल।	दीपन औषधियों से सिद्ध घृत का प्रयोग।
5. **प्राणावृत उदान वात**[4]	1. सिर में भारीपन, 2. प्रतिश्याय (जुकाम), 3. श्वास-प्रश्वास का रुकना, 4. हृदयरोग, 5. मुख का सूखना	1. आश्वासन देना, 2. ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों की तरह धूम, नस्य, वमन आदि का प्रयोग।
6. **उदानावृत प्राण वात**[5]	1. शारीरिक चेष्टायें, ओज, बल और वर्ण का नाश, 2. मृत्यु।	1. शीतल जल से सिंचन, 2. आश्वासन देना, 3. सुखपूर्वक विश्राम, 4. बस्ति आदि प्रयोग, 5. वातानुलोमन भोजन, 6. हृद्य, बल्य और जीवनीय औषधियों का प्रयोग।

1. स्वेदोऽत्यर्थं लोमहर्षस्त्वग्दोषः सुप्तगात्रता।
प्राणे व्यानावृते तत्र स्नेहयुक्तं विरेचनम्।। (च. चि. 28/203)
2. प्राणावृते समाने स्युर्जडगद्गदमूकताः।
चतुष्प्रयोगाः शस्यन्ते स्नेहास्तत्र सयापनाः।। (च. चि. 28/204)
3. समानेनावृतेऽपाने ग्रहणीपार्श्वहृद्गदाः।
शूलं चामाशये तत्र दीपनं सर्पिरिष्यते।। (च. चि. 28/205)
4. शिरोग्रहः प्रतिश्यायो निःश्वासोच्छ्वाससंग्रहः।
हृद्रोगो मुखशोषश्चाप्युदाने प्राणसंवृते।
तत्रोर्ध्वभागिकं कर्म कार्यमाश्वासनं तथा।। (च. चि. 28/206-207)
3. कर्मौजोबलवर्णानां नाशो मृत्युरथापि वा।
उदानेनावृते प्राणे तं शनैः शीतवारिणा।
सिञ्चेदाश्वासयेच्चैनं सुखं चैवोपपादयेत्। (च. चि. 28/208)

भेद	लक्षण	चिकित्सा
7. उदानावृत अपान वात[1]	1. वमन, 2. श्वास, 3. कास।	1. बस्ति कर्म, 2. वातानुलोमन आहार द्रव्यों का सेवन।
8. अपानावृत उदान वात[2]	1. मोह, 2. अग्नि की मन्दता, 3. अतिसार।	1. वमन, 2. अग्नि दीपक, 3. ग्राही अन्नपान का सेवन।
9. व्यानावृत अपान वात[3]	1. वमन, 2. आध्मान, 3. उदावर्त, 4. गुल्म, 5. परिकर्तिका रोग।	स्निग्ध (स्नेहन) द्रव्यों द्वारा वातानुलोमन करें।
10. अपानावृत व्यान वात[4]	मल-मूत्र और शुक्र की अधिक मात्रा में प्रवृत्ति	संग्राही औषधियों का प्रयोग।
11. समानावृत व्यान वात[5]	1. मूर्च्छा 2. तन्द्रा 3. प्रलाप 4. अंगों में शिथिलता 5. अग्नि, ओज और बल का नाश	1. व्यायाम, 2. लघु भोजन।
12. उदानावृत व्यान वात[6]	1. अंगों में जकड़ाहट, 2. जठराग्नि की अल्पता, 3. पसीने का सर्वदा न आना, 4. शारीरिक चेष्टाओं का नाश, 5. नेत्र सर्वदा बन्द रहना।	अल्प और हल्का भेजन दें।

1. ऊर्ध्वगेनावृतेऽपाने छर्दिश्वासादयो गदाः।
स्युर्वाते तत्र वस्त्यादि भोज्यं चैवानुलोमनम्।। (च. चि. 28/209)
2. मोहोऽल्पोऽग्निरतीसार ऊर्ध्वगेऽपानसंवृते।
वाते स्याद्वमनं तत्र दीपनं ग्राहि चाशनम्।। (च. चि. 28/210)
3. वम्याध्मानमुदावर्तगुल्मार्तिपरिकर्तिकाः।
लिङ्गं व्यानावृतेऽपाने तं स्निग्धैरनुलोमयेत्।। (च. चि. 28/211)
4. अपानेनावृते व्याने भवेद्विण्मूत्ररेतसाम्।
अतिप्रवृत्तिस्तत्रापि सर्वं संग्रहणं मतम्।। (च. चि. 28/212)
5. मूर्च्छा तन्द्रा प्रलापोऽङ्गसादोऽग्न्योजोबलक्षयः।
समानेनावृते व्याने व्यायामो लघु भोजनम्।। (च. चि. 28/213)
6. स्तब्धताऽल्पाग्निताऽस्वेदश्चेष्टाहानिर्निमीलनम्।
उदानेनावृते व्याने तत्र पथ्यं मितं लघु।। (च. चि. 28/214)

शेष आवरणविषयक सिद्धान्त (13-20)—इस प्रकार आपस में पाँचों वायुओं के आवृत होने के लक्षणों को जानना चाहिये। इन वायुओं के आवृत होने पर उनके स्वाभाविक कार्य की हानि अथवा वृद्धि हो जाती है। यहाँ केवल 12 आवरणों का वर्णन किया गया है, शेष 8 का वर्णन यहाँ नहीं किया गया है, उनका ज्ञान उनके लक्षणों से करना चाहिये। उनका संक्षेप में ज्ञान करने का यह लक्षण बताया है। तात्पर्य है कि जिस बलवान वायु से जिस दुर्बल वायु का आवरण होता है तो आवरण प्राप्त वायु का कार्य कम हो जाता है और आवरण करने वाली वायु का कार्य बढ़ जाता है तथा आवरण से यदि आवृत हुई वायु प्रकुपित हो जाय तो आवरण प्राप्त हुई वायु का ही कार्य अधिक हो जाता है। अथवा आवरण हुई वायु का कार्य कम हो जाता है और आवरण करने वाली वायु का कार्य अधिक हो जाता है। इन लक्षणों के आधार पर बची हुई आवृत वायुओं के लक्षणों की चिकित्सा करनी चाहिये।

विभिन्न वायु आवरणों का चिकित्सा-सूत्र

1. उदान वायु के विकृत हो जाने पर उसे चिकित्सा द्वारा ऊपर ले जाना चाहिये।
2. अपान वायु का अनुलोम कर अन्न-पान औषधियों द्वारा अनुलोमन करना चाहिये।
3. समान वायु को शान्त करना चाहिये।
4. व्यान वायु के कुपित होने पर उसे ऊर्ध्वमार्ग, अधोमार्ग और मध्यमार्गों में ले जाना चाहिये।
5. इन चारो वायु से प्राणवायु की रक्षा करनी चाहिये। प्राणवायु के अपने स्थान में रहने से शरीर की स्थिति ठीक चलती है।

इस प्रकार यदि ये वायु विमार्ग हों या दोषों से आवृत हों तो उन्हें अपने स्थान में पहुँचा देना चाहिये।

प्राणवायु और उदान वायु का महत्त्व—विशेष रूप से प्राणवायु के आश्रित जीवन होता है और उदानवायु के आश्रित बल होता है। जब प्राण और उदान यह दोनों वायु से पीड़ित हो जाते हैं तो आयु और बल इन दोनों की हानि हो जाती है अर्थात् प्राण वायु की विकृति होने पर मृत्यु और उदानवायु की विकृति होने पर बल का नाश विशेष रूप से हो जाता है।[1]

आवृत वात की साध्यासाध्यता—सभी आवृत वातविकार 1 वर्ष तक उपेक्षा या अज्ञान के कारण शरीर में पड़े रहने से असाध्य या कृच्छ्रसाध्य हो जाते हैं।

1. विशेषाज्जीवितं प्राण उदाने संश्रितं बलम्।
स्यात्तयोः पीडनाद्धानिरायुषश्च बलस्य च।। (च. चि. 28/234)

उपेक्षित आवृत वायु के उपद्रव—

1. हृदयरोग
2. विद्रधि
3. प्लीहारोग
4. गुल्म
5. अतिसार

पथ्य—

1. जांगल पशु-पक्षियों का मांस
2. जौ से बने आहार द्रव्यों का सेवन
3. स्वेदन कर्म
4. यापन, क्षीर, निरूहबस्ति का प्रयोग
5. वमन, विरेचन कर्म
6. मधुर, अम्ल, लवण, स्निग्ध द्रव्यों का सेवन।

अपथ्य—

1. जागरण
2. चिन्तन
3. श्रम
4. रूक्ष पदार्थ

20 स्तम्भक रोग

आयुर्वेद में चिकित्सा तथा नैदानीय दृष्टि से वातव्याधि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वातव्याधि में वात नाडी संस्थान तथा अस्थि सन्धि संस्थान के अतिरिक्त अनेक कोष्ठाङ्गों से भी सम्बन्धित कई ऐसी कठिन तथा चिरकालावस्थायी व्याधियों का समावेश है, जिनका आज भी आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में समाधान नहीं है। पाचनसंस्थान के रोगों के बाद वातव्याधियाँ ही ऐसी क्षेत्र हैं, जहाँ आयुर्वेदीय चिकित्सा का वैशिष्ट्य आज भी है। सर्वव्यापी होने से वायु के कारण विविध प्रकार के रोग होते हैं; फलत: वातव्याधि के अन्तर्गत अनेक प्रकार के रोगों का वर्णन आता है, जो आधुनिक दृष्ट्या एक-दूसरे से अत्यन्त भिन्न हो सकते हैं। वातव्याधियों की चिकित्सा में बहु प्रयुक्त बाह्य तथा आभ्यन्तर स्नेहन का उपदेश किया गया है; परन्तु वात व्याधियों के अन्तर्गत स्तम्भक रोग के ऊरु:स्तम्भ रोग में पञ्चकर्म निषिद्ध है। स्तम्भक का सामान्य अर्थ है—जकड़न। जब शरीर के विशेष अंगों में वातप्रकोप के कारण जकड़न महसूस होने लगती है एवं उनके सामान्य कार्यों में भी बहुत कठिनाई महसूस होती है तो इसे ही स्तम्भक रोग कहते हैं। आयुर्वेद के स्तम्भ वात, पित्त और कफ हैं, किन्तु रोगों में स्तम्भ इन्हें कहा जाता है।

1. धनु:स्तम्भ
2. मन्यास्तम्भ
3. हनुस्तम्भ
4. जिह्वास्तम्भ
5. बाहुस्तम्भ
6. सिरास्तम्भ या सिराग्रह

ऐतिहासिक वर्णन—बाहुस्तम्भ नन्दिनी के सेवाकाल में राजा दिलीप को हुआ था, जिससे कि स्तम्भक रोग की प्राचीनता सिद्ध होती है।

प्रमुख सन्दर्भ—

1. चरकसंहिता, चिकित्सा स्थान-27
2. सुश्रुतसंहिता, चिकित्सा स्थान-5
3. वाग्भट, निदान-15
4. माधवनिदान-24-25
5. भावप्रकाश

प्रमुख स्तम्भक रोगों का वर्णन

1. मन्यास्तम्भ

मन्या का अभिप्राय ग्रीवा और स्तम्भ का अभिप्राय जकड़न से है अर्थात् ग्रीवा में जकड़न का होना मन्यास्तम्भ है। इसे Neck rigidity भी कहते है।

मन्यास्तम्भ के निदान[1]—

1. दिन में अधिक सोने से
2. विषम या ऊँचे-नीचे स्थान पर सोने से
3. मुख खोलकर ऊपर की ओर देखने से

इस प्रकार कुपित हुआ वात-दोष कफ से आवृत होकर अर्थात् घिरकर मन्यास्तम्भ रोग को उत्पन्न कर देता है।

मन्यास्तम्भ के लक्षण—

1. ग्रीवा में जकड़न
2. ग्रीवा का हिलना-डुलना कठिन होना

मन्यास्तम्भ का चिकित्सा-सूत्र—

1. रूक्ष स्वेदन करें तथा बालू की पोटली से ग्रीवा पर धत्तूर या एरण्ड का पत्ता रख कर सुखोष्ण सेक करें।
2. कट्फल का त्वक् चूर्ण लें एवं उसका नस्य दें।
3. सैन्धवादि तैल की मालिश।

व्यवस्था-पत्र—

1. दिन में 3 बार

रससिन्दूर	: 400 ग्रा.
महायोगराज गुग्गुल	: 1 ग्रा.
श्रृंगभस्म	: 1 ग्रा.
सोंठ चूर्ण	: 3 ग्रा.
	अनुपान-मधु

2. दिन में 2 बार—दशमूलक्वाथ में 2 ग्रा. पुष्करमूल चूर्ण

2. जिह्वास्तम्भ

जब वाणी का संचार करने वाली सिराओं में आश्रित कुपित वात दोष जिह्वा को

1. दिवास्वप्नासनस्थानविवृतोर्ध्वनिरीक्षणैः।
मन्यास्तम्भं प्रकुरुते स एव श्लेष्मणाऽऽवृतः।। (सु. नि. 1/67)

स्तब्ध कर देता है तब वह जिह्वास्तम्भ कहलाता है। इसे Paralysis of tongue भी कहते हैं।

जिह्वास्तम्भ के निदान[1]—वाणी संचालक सिराओं में आश्रित कुपित वात दोष द्वारा जिह्वा को स्तब्ध करने से।

जिह्वास्तम्भ के लक्षण[2]

(क) खाने-पीने में असमर्थता।
(ख) बोलने में असमर्थता।

चिकित्सा-सूत्र—सैन्धव लवण मिश्रित महानारायण तैल का मुख में कवल धारण करें।

व्यवस्था-पत्र—

1. दिन में 3 बार—कल्याणावलेह : 2-2 ग्रा. घी से चटायें।
2. दिन में 3-4 बार—महासितोपलादि चूर्ण 1-1 ग्रा. मधु से।

3. धनुःस्तम्भ

जब प्रकुपित वायु शरीर को धनुष के समान झुका दे तो उसे धनुःस्तम्भ कहते हैं।

धनुःस्तम्भ का निदान[3]—प्रकुपित वायु।

धनुःस्तम्भ का लक्षण[4]—प्रकुपित हुआ वात दोष वातवह नाडियों में व्याप्त होकर शरीर को धनुष के समान झुका देता है।

भेद—

1. आभ्यन्तरायाम धनुःस्तम्भ 2. बाह्यायाम धनुःस्तम्भ

(क) आभ्यन्तरायाम धनुःस्तम्भ—

सम्प्राप्ति[5]—प्रकुपित होने के कारण बलवान वातदोष जब पैर की अंगुलियों, गुल्फ, जठर, हृदयप्रदेश, वक्ष तथा गले में स्थित होकर इन अवयवों के स्नायुप्रतान में झटके उत्पन्न करता है।

1. वाग्वाहिनीसिरासंस्थो जिह्वा स्तम्भयतेऽनिलः। (अ. हृ. नि. 15/31)
2. जिह्वास्तम्भः स तेनान्नपानवाक्येष्वनीशता।। (अ. हृ. नि. 15/31)
3. धनुस्तुल्यं नमेद्यस्तु स धनुःस्तम्भसंज्ञकः। (सु. नि. 1/54)
4. अङ्गुली-गुल्फ-जठर-हृद्वक्षो-गलसंश्रितः।
स्नायुप्रतानमनिलो यदा क्षिपति वेगवान्।। (सु. नि. 1/54)
5. अङ्गुली-गुल्फ-जठर-हृद्वक्षो-गलसंश्रितः।
स्नायुप्रतानमनिलो यदा क्षिपति वेगवान्।। (सु. नि. 1/54)

लक्षण[1]—1. रोगी की आँखें जकड़ जाती हैं।
2. हनु में जकड़न होती है।
3. पसलियों में पीड़ा।
4. कफ की उलटी।
5. रोगी भीतर उदर की ओर धनुष के समान झुक जाता है।

(ख) बाह्यायाम धनुःस्तम्भ—

सम्प्राप्ति[1]—जब प्रकुपित हुआ वात दोष बाहरी भाग के स्नायुसमूह में स्थित होकर शरीर को बाहर की ओर झुका देता है तब इस रोग की बाह्यायाम संज्ञा होती है।

लक्षण[2]—इसमें छाती, कमर तथा टांगों में टूटने के समान पीड़ा होती है।

धनुःस्तम्भ और कुब्ज का सापेक्ष निदान—

धनुःस्तम्भ—

1. वेगकाल में रोगी उठ नहीं सकता।
2. इसके वेग में आशुकारित्व गुण होता है।
3. इसमें वात प्रकोप अतिशीघ्र होता है।
4. इसमें वेग के समय ही अंगों का झुकाव होता है।
5. इसमें रोग का प्रारम्भ एकाएक होता है।
6. इसमें रोगी के स्नायुओं का संकोच होता है।
7. इसमें आक्षेप वमनादि लक्षण होते है।

कुब्ज—

1. इसमें रोगी स्वयं चल-फिर सकता है।
2. यह क्रमशः उत्पन्न होकर चिरकालानुबन्धी होता है।
3. यह रोग शनैः-शनैः बढ़ता है।
4. इसमें रोगोत्पत्ति के बाद स्थायी झुकाव रहता है।
5. इसमें शनैः-शनैः रोग का प्रारम्भ होता है।
6. इसमें हृदय या पृष्ठ भाग में विकृति आ जाती है।
7. इसमें क्रमशः रोगवृद्धि के लक्षण होते हैं।

---

1. विष्टब्धाक्षः स्तब्धहनुर्भग्नपार्श्वः कफं वमन्।
आभ्यन्तरं धनुरिव यदा नमति मानवम्।। (सु. नि. 1/55)
2. तदाऽस्याभ्यन्तरायामं कुरुते मारुतो बली।
बाह्यस्नायुप्रतानस्थो बाह्यायामं करोति च।। (सु. नि. 1/56)
3. तमसाध्यं बुधा प्राहुर्वक्षःकट्यूरुभञ्जनम्। (सु. नि. 1/57)

4. ऊरुस्तम्भ

ऊरुस्तम्भ आयुर्वेद की प्रमुख संहिताओं में वर्णित एक विशेष प्रकार की व्याधि है। इसकी तुलना स्पष्ट रूप से किसी आधुनिक व्याधि से नहीं की जा सकती। इस रोग में सामान्य मांसपेशीय थकान (Muscle fatigue) या मांसगत वात (Myopathy) जैसे रोगों से मिलते-जुलते लक्षण बताये गये हैं। यह रोग त्रिदोषारब्ध, वात तथा कफ की प्रधानता से युक्त है। इसमें आम तथा पित्तदोष भी दूषित होते हैं। सुश्रुत ने इस रोग में वात को आरम्भक होने से प्रधान माना है और इस रोग का वर्णन महावात व्याधि अध्याय में किया गया है। चरक ने आवरक होने से तथा चिकित्सा प्राधान्य से कफ को प्रधान माना है और चरक के अष्टोदरीय अध्याय में सामान्य रोगों के साथ इसकी गणना की गई है। साथ-साथ महारोगाध्याय में वात के नानात्मज रोगों में भी इसका नामोल्लेख है। सम्भवतः इस रोग में वात के अतिरिक्त अन्य दोष अनुबन्धरूप में होते हैं। ऊरुस्तम्भ एक आम प्रधान और त्रिदोषज व्याधि है। इस रोग में मेद दूष्य है और इसका अधिष्ठान जंघा है। इसमें रोगी अपने पैरों को अपनी इच्छा के अनुसार हिला-डुला नहीं सकता। मेद के साथ कफ जब वात-पित्त को दबाकर ऊरु प्रदेश में आकर ऊरु को स्तब्ध, भारी, निश्चल और थकान से भर देता है तो रातों में भारी बोझ तथा अकर्मण्यता हो जाती है; जंघा में आम मेद और कफ की स्थिति सुदृढ़ होने से जंघा गतिहीन हो जाती है। इस रोग में पञ्चकर्म करने का निषेध है; क्योंकि इसमें दोष गम्भीर स्थिति में तथा मेद संश्लिष्ट हो जाते हैं और शोधन चिकित्सा द्वारा बाहर नहीं निकलते।

प्रमुख सन्दर्भ—

चरकसंहिता, चिकित्सा स्थान—20
सुश्रुतसंहिता, चिकित्सा स्थान—5
वाग्भट, निदान—15
माधवनिदान—24

ऊरुस्तम्भ के निदान—

निदान[1]
- रात्रिजागरण
- दिवास्वप्न
- स्नेहों का अधिक प्रयोग
- वेगधारण
- भय
- आयास
- अहिताहार-विहार

---

1. शीतोष्ण-द्रव-संशुष्क-गुरु-स्निग्धैर्निषेवितैः।
जीर्णाजीर्णे तथाऽऽयास-संक्षोभ-स्वप्न-जागरैः।। (अ. हृ. नि. 15/47)
2. सश्लेष्म-मेदः पवनः साममत्यर्थसञ्चितम्।
अभिभूयेतरं दोषमूरू चेत् प्रतिपद्यते।।
सक्थ्यस्थिनी प्रपूर्यान्तः श्लेष्मणा स्तिमितेन च। (अ. हृ. नि. 45/48-49)

ऊरुस्तम्भ सम्प्राप्ति[2]—

आहार-विहारजन्य निदान → त्रिदोष प्रकोप → मन्दाग्नि → आमसञ्चय → ऊरु प्रदेश में सञ्चय → सक्थि, ऊरु, जंघा की स्तब्धता एवं वायु का मार्गावरोध → श्रम-पूर्वता → **ऊरुस्तम्भ रोग।**

सम्प्राप्ति[1]—कफ तथा मेदधातु से घिरा हुआ वातदोष जब ऊरु प्रदेश में पहुँचता है तब अंगों का टूटना, जड़ता, रोमांच, वेदना, ज्वर, नींद का न आना, स्तब्धता, शीतलता, चेतनता का अभाव, भारीपन तथा रोगी अपनी टांगों को परायी जैसी समझने लगता है।

दोष-दूष्य अधिष्ठान—

दोष—वात, कफ, आम
दूष्य—मेद
अधिष्ठान—ऊरु

पूर्वरूप[2]—

1. निद्रा का अधिक आना
2. अत्यन्त चिन्ता करना
3. शरीर का गीले कपड़े से ढका रहने का अनुभव होना।
4. रोमाञ्च
5. ज्वर
6. भोजन के प्रति अरुचि
7. वमन
8. जानु और ऊरुओं में अवसाद

रूप[3]—

1. ऊरुस्तब्धता
2. शैत्य
3. अचेतनता
4. अंगों में परकीय-सदृश गौरव

1. कफमेदोवृतो वायुर्यदोरू प्रतिपद्यते।
तदाऽङ्गमर्दस्तैमित्यरोमहर्षरुजाज्वरैः।
निद्रया चार्दितौ स्तब्धौ शीतलावप्रचेतनौ।।
गुरुकावस्थिरावुरू न स्वाविव च मन्यते।
तमुरुस्तम्भमित्याहुराढ्यवातमथापरे। (सु. चि. 5/31-32)
2. प्राग्रूपं तस्य निद्राऽतिध्याने स्तिमितता ज्वरः।
रोमहर्षोऽरुचिश्छर्दिर्जङ्घोर्वोः सदनं तथा।। (च. चि. 27/15)
3. तदा स्तभ्नाति तेनोरू स्तब्धौ शीतावचेतनौ।।

5. अत्यधिक पीड़ा
6. चिन्ता
7. अंगमर्द
8. स्तैमित्य
9. तन्द्रा
10. छर्दि
11. ज्वर
12. पादसदन
13. अंगचालन में कठिनाई
14. सुप्ति

उपशयानुपशय—

स्नेहन—अनुपशय = ऊरुस्तम्भ
उपशय = वातव्याधि

भेद[1]—ऊरुस्तम्भ एक ही प्रकार का होता है, इसके कोई भेद नहीं होते।

साध्यासाध्यता—

1. नवीन एवं उपद्रवहीन ऊरुस्तम्भ साध्य होता है।
2. दाह, अरुचि, तोद एवं कम्पनयुक्त ऊरुस्तम्भ असाध्य होता है।

चिकित्सा-सूत्र

1. कफ और आम का युक्तिपूर्वक संशमन, क्षपण और शोषण करने के लिये बाह्य तथा आभ्यन्तर उपचार करना चाहिये।

2. आम, कफ और मेद के शोषण के लिये अल्प तैल में पकाये गये नमक-रहित शाकों के साथ जौ, कोदो और साँवाँ से बने आहार दें।

3. वातनाशक स्नेह तथा स्वेद का उपयोग निद्रानाश और वायु प्रकोप।

4. ऊँचे स्थान पर से कूदने का अभ्यास करवायें।

5. ऊरुस्तम्भ में कफ, आम और मेद की वृद्धि होती है, अतः स्नेहन नहीं कराना चाहिये।

6. क्षार का प्रयोग, अरिष्टों का प्रयोग, मधु और जल के शर्बत का प्रयोग ऊरुस्तम्भ-नाशक है।

औषध-प्रयोग—

1. शार्ङ्गेष्टादि योग
2. मूर्वादियोग
3. स्वर्णक्षीर्यादि योग
4. मुस्तादि योग

परकीयाविव गुरु स्यातामतिभृशव्यथौ।
ध्यानांगमर्दस्तैमित्यतन्द्राच्छर्द्यरुचिज्वरैः।।
संयुक्तो पादसदन-कृच्छ्रोद्धरण-सुप्तिभिः।
तमूरुस्तम्भमित्याहुराढ्यवातमथापरे।। (अ. हृ. नि. 15/49-51)
1. एक एव ऊरुस्तम्भः (च. सू. 10)

5. देवदार्वादि योग
6. पिप्पल्यादि योग
7. भल्लातकादि योग
8. षड्धरण योग

व्यवस्था-पत्र—

1. सवेरे शाम—

योगराज गुग्गुल	: 500 मि. ग्रा.
आरोग्यवर्धिनी	: 500 मि. ग्रा.
शृङ्गभस्म	: 500 मि. ग्रा.
अग्नितुण्डी	: 300 मि. ग्रा.

2 मात्रा (गोमूत्र से)

2. भोजन के बाद 2 बार—पिप्पल्यासव : 40 मि. ली. = 2 मात्रा (समान जल से)
3. रात्रि में सोते समय—षड्धरण चूर्ण : 3 ग्रा. = 1 मात्रा (सुखोष्ण जल से)
4. रूक्षतावृद्धिजन्य वातप्रकोप में—अष्टकट्वर तैल : 10 ग्रा. पानार्थ।

सापेक्ष निदान—

मन्यास्तम्भ—

1. इस रोग में गर्दन में जकड़न एवं हिलना-डुलना कठिन हो जाता है।
2. इसे आधुनिक मतानुसार Torticollis माना गया है।
3. यह एक आशुकारी व्याधि है।

जिह्वास्तम्भ—

1. इसमें खाने-पीने में तथा बोलने में असमर्थता होती है।
2. इसे Glossal palsy कहते हैं।
3. यह भी आशुकारी व्याधि है।

धनुःस्तम्भ—

1. स्नायु प्रतान में आक्षेप, रोगी की आँखें स्थिर, पसलियों में टूटने की-सी पीड़ा उदर का धनुष के समान बाहर या अन्दर की ओर झुक जाना होता है।
2. आधुनिक मतानुसार धनुःस्तम्भ को Episthotonus माना गया है।
3. आशुकारी व्याधि है।

ऊरुस्तम्भ—

1. ऊरुस्तम्भ में ऊरुस्तब्धता, अंगमर्द, ज्वर, अंगचालन में कठिनाई, दाह एवं वेदना की ऊरुओं में अनुभूति होती है।
2. इसे आधुनिक मतानुसार Paraplegia माना गया है।
3. यह चिरकारी व्याधि है।

21 आक्षेपक रोग

जब शरीर में बार-बार आक्षेप (Convulsions) आते हैं, तो ऐसी अवस्था को आक्षेपक कहा जाता है। आक्षेपक रोग को वातव्याधि के अन्तर्गत लिया गया है। जब वात दोष अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित होकर सम्पूर्ण धमनियों (वातवहा नाड़ियों) में जाता है तब वह शरीर में बार-बार आक्षेप लाता है। बार-बार शरीर के इन झटकों से ग्रस्त हो जाने के कारण ही इसे आक्षेपक रोग कहते हैं। प्रकुपित वायु जब अपने स्थान पक्वाशय से उठकर ऊपर की ओर जाता है तो हृदय, शिर और शंख प्रदेश में स्थित होकर मूर्छा की उत्पत्ति करता है। निदान की दृष्टि से आक्षेपक रोग चार प्रकार का माना गया है—कफान्वित, पित्तान्वित, केवल वातजन्य और अभिघातज।

शास्त्रों में आक्षेपक रोग के मुख्य दो प्रकार बताये गये हैं—अपतन्त्रक और अपतानक। अपतन्त्रक के कुछ लक्षण अपस्मार से मिलते हैं, किन्तु इसमें फेनोद्गम नहीं होता है। इसे योषापस्मार (Hysteria) कह सकते हैं। इसमें धनुर्वन्नमन स्थायी नहीं होता, अल्पकालिक होता है। अपतानक को धनुर्वात (Tetnus) कह सकते हैं, क्योंकि इसके लक्षण कुछ न कुछ बने ही रहते हैं। सुश्रुत के टीकाकार डा. अत्रिदेव ने अपतानक को चार प्रकार का माना है—दण्डापतानक, अन्तरायाम, बाह्यायाम, पार्श्वाघात। मधुकोशकार ने पार्श्वायाम के स्थान पर अभिघातज का उल्लेख किया है। गर्भपात के कारण, रक्त के अधिक स्राव हो जाने के कारण और अभिघात आदि के कारण उत्पन्न होने वाला अपतानक रोग असाध्य माना गया है। आक्षेपक रोग से पीड़ित रोगी वेग के समाप्त हो जाने पर तात्कालिक स्वास्थ्य का अनुभव करता है।

सन्दर्भ—

- सु. नि. 1
- च. सि. 9
- मा. नि. 38
- अ. हृ. नि. 15

परिभाषा[1]—जब विकृत वायु शरीर की सम्पूर्ण धमनियों (वातनाड़ियों) को बार-बार आक्रान्त करता है, तो सारे शरीर में पुनः पुनः आक्षेप होते हैं, जिस कारण इस रोग को आक्षेपक कहते हैं।

1. यदा तु धमनीः सर्वाः कुपितोऽभ्येति मारुतः।
तदाऽऽक्षिपत्याशु मुहुर्मुहुर्देहं मुहुश्चरः॥
मुहुर्मुहुस्तदाक्षेपादाक्षेपक इति स्मृतः। (सु. नि. 1/50-51)

निदान—

- रूक्ष, शीत, अल्प तथा लघु भोजन का निरन्तर सेवन
- रात्रि-जागरण और असमय में पञ्चकर्म
- काल, देश के विरुद्ध आहार-विहार
- वमन, बस्ति, विरेचन द्वारा अत्यधिक मल-निर्हरण
- अधिक व्यायाम
- चिन्ता, शोक, उपवास
- हाथी, ऊँट, घोड़े से गिर जाने के कारण

सम्प्राप्ति[2]—

प्रकुपित वायु → हृदय, शिर, शंख प्रदेश का उत्पीडन

आक्षेप, मूर्छा — दृष्टि संस्तम्भ

संज्ञा नाश कण्ठकूजन मुक्तेनरः स्वस्थं जाति मूर्छा → **अपतानक**

श्वास कष्ट संज्ञा नाश कण्ठकूजन स्तब्ध निमीलक → **अपतन्त्रक**

भेद—नैदानिक दृष्टि से आक्षेपक रोग चार प्रकार का होता है—

1. कफान्वित वात-जन्य आक्षेपक।
2. पित्तान्वित वातजन्य आक्षेपक।
3. केवल वातजन्य आक्षेपक।
4. अभिघातज आक्षेपक।

अपतन्त्रक के लक्षण[2]—

- धनु के समान शरीर का झुक जाना
- श्वास लेने में कष्ट
- स्तब्धाक्षि, निमीलक

1. वायुरूर्ध्वं व्रजेत् स्थानात् कुपितो हृदयं शिरः।
शंखौ च पीड़यत्यंगान्याक्षिपेन्नमयेच्च सः।।
निमीलिताक्षो निश्चेष्टः स्तब्धाक्षो वापि कूजति।
निरुच्छ्वासोऽथवा कृच्छ्राद् उच्छ्वस्यान्नष्टचेतनः।।
स्वस्थः स्यात् हृदये मुक्ते ह्यावृते तु प्रमुह्यति।
कफान्वितेन वातेन ज्ञेयो एषोऽपतन्त्रकः।। (सु. नि. 1/64-66)

2. क्रुद्धः स्वैः कोपनैर्वायुः स्थानादूर्ध्वं प्रपद्यते।
पीडयन् हृदयं गत्वा शिरः शङ्खौ च पीडयन्।।12।।
धनुर्वन्नमयेद्गात्राण्याक्षिपेन्मोहयेत्तथा।
कृच्छ्रेण चाप्युच्छ्वसिति स्तब्धाक्षोऽथ निमीलकः।।13।।
कपोत इव कूजेच्च निःसंज्ञः सोऽपतन्त्रकः।

अपतानक के लक्षण—

- दृष्टिजड़ता
- कण्ठकूञ्जन
- बेहोशी (वायु का प्रभाव खत्म होने पर सहजावस्था)

अपतानक के भेद—अपतानक के चार भेद बताये गये हैं।

सुश्रुत के टीकाकार डॉ. अत्रिदेव के अनुसार—

1. दण्डापतानक
2. धनुःस्तम्भ अन्तरायाम
3. बाह्यायाम
4. पार्श्वायाम

मधुकोशकार के अनुसार—

1. दण्डापतानक
2. धनुःस्तम्भ अन्तरायाम
3. बाह्यायाम
4. अभिघातज

दण्डापतानक के लक्षण[1]—

- दण्डवत् देह

अन्तरायाम के लक्षण[2]—

- विष्टब्धाक्ष
- स्तब्धहनु
- पसलियों में टूटने जैसी पीड़ा
- कफ वमन
- शरीर का भीतर की ओर धनुष के समान झुकना।

बाह्यायाम के लक्षण—

- शरीर का बाहर (पीठ) की ओर झुकना
- छाती, कमर, टांगों में टूटने के समान पीड़ा
- असाध्य

दृष्टिं संस्तभ्य संज्ञां च हत्वा कण्ठेन कूजति।।14।।
हृदि मुक्ते नरः स्वास्थ्यं याति मोहं वृते पुनः।
वायुना दारुणं प्राहुरेके तदपतानकम्। (च. सि. 9/12-15)

1. कफान्वितो भृशं वायुस्तास्वेव यदि तिष्ठति।
दण्डवत् स्तम्भयेद्देहं स तु दण्डापतानकः। (सु. नि. 1/53)

2. अङ्गुली-गुल्फ-जठर-हृद्वक्षो-गलसंश्रितः। स्नायुप्रतानमनिलो यदाऽऽक्षिपति वेगवान्।।
विष्टब्धाक्षः स्तब्धहनुर्भग्नपार्श्वं कफं वमन्। अभ्यन्तरं धनुरिव यदा नमति मानवः।।
तदाऽस्याभ्यन्तरायामं कुरुते मारुतो बली। (सु. नि. 1/54-56)

अभिघातज आक्षेपक के लक्षण[1]—

- अभिघात (चोट लगने) से उत्पत्ति।

असाध्य अपतानक के लक्षण[2]—

- गर्भपात (गर्भस्रावादि) से उत्पन्न
- अभिघातजन्य
- अधिक रक्तस्राव से उत्पन्न

अवधि[3]—वेग के समाप्त हो जाने पर रोगी तात्कालिक स्वास्थ्य का अनुभव करने लगता है।

चिकित्सा-सूत्र

- नस्य, तेल मालिश, सन्तर्पक आहार।
- मधुर-अम्ल-लवण रसयुक्त औषध तथा आहार।
- मालिश—नारायण तेल से।
- अभ्यंग—हिमांशु/हिमसागर तैल।
- बस्ति—वातघ्न द्रव्यों का क्वाथ + नारायणादि तैल + सेंधा नमक + मधु।
- नस्य—(मिर्च + सहिंजन के बीज + वायविडंग + महुआ) बारीक चूर्ण करके नस्य।

व्यवस्था-पत्र—

1. भोजनोत्तर 2 बार—सारस्वतारिष्ट 40 मि. ली. 2 मात्रा (समान जल के साथ)
2. रात को सोते समय—नारायण चूर्ण 5 ग्राम—सुखोष्ण जल के साथ।
3. दिन में 2-3 बार और वेग के समय—कट्फल नस्य।
4. प्रात:-मध्याह्न-सायं

अपतन्त्रकारि वटी	: 1 ग्राम
ब्राह्मी वटी	: 600 मि. ग्रा.
बृहद्वातचिन्तामणि रस	: 500 मि. ग्रा.
मृगशृंग भस्म	: 1 ग्राम
रसराज रस	: 500 मि. ग्रा.

3 मात्रा (मधु से बाद में मांस्यादि क्वाथ 100 मि. ली. पियें)

●

1. कफ-पित्तान्वितो वायुर्वायुरेव च केवलः।
कुर्यादाक्षेपकं त्वन्यं चतुर्थमभिघातजम्। (सु. नि. 1/58).
2. गर्भपातनिमित्तश्च शोणितातिस्रवाच्च यः।।
अभिघातनिमित्तश्च न सिद्ध्यत्यपतानकः।। (सु. नि. 1/59)
3. गते वेगे भवेत् स्वास्थ्यं सर्वेष्वाक्षेपकादिषु।। (सु. नि. 15/28)

22 वातव्याधि

आयुर्वेद में वातव्याधि का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। वातव्याधि एक स्वतन्त्र व्याधि न होकर अनेक व्याधियों का समूह है, जो लक्षण तथा चिकित्सा की दृष्टि से एक-दूसरे से काफी भिन्न प्रतीत होती है। किन्तु सभी में वात का प्रमुख कर्तृत्व होने के कारण एक ही समूह में रखी गई है। वातव्याधिसमूह में वात नाड़ी संस्थान तथा अस्थि-सन्धि संस्थान (Nervous system) के अतिरिक्त अनेक कोष्ठाङ्गों (Abdominal visceras) से भी सम्बन्धित कई चिरकालावस्थायी तथा दु:साध्य व्याधियों का समावेश है। उदरसम्बन्धी रोगों की तरह ही वातव्याधियों का भी ऐसा क्षेत्र है, जहाँ आयुर्वेदिक चिकित्सा का वैशिष्ट्य है।

आयुर्वेद में वात, पित्त तथा कफ के नानात्मज विकारों का वर्णन किया गया है, परन्तु किसी भी संहिता में वातविकारों के अलावा पित्त तथा कफ के विकारों पर स्वतन्त्र अध्याय नहीं लिखा गया। वात सर्वप्रेरक एवं आशुकारी है तथा सर्वाधिक वातविकार ही है; इसीलिये वात व्याधि पर स्वतन्त्र अध्याय लिखकर इसकी प्रमुखता को दर्शाया गया है। समस्त वातव्याधियों को अध्ययन की सुविधा के लिये चार वर्गों में बांटा गया है। (प्रो. रामहर्ष सिंह जी से साभार)

1. दूष्यगत वात व्याधियाँ
2. अवयव या कोष्ठगत वात व्याधियाँ
3. अंग-प्रत्यंग एवं सर्वांगगत वात व्याधियाँ
4. आवरणजन्य वात व्याधियाँ

प्रमुख सन्दर्भ

1. चरकसंहिता, सूत्र स्थान-12 (वातकलाकलीय अध्याय)
2. चरकसंहिता, सूत्र स्थान-20 (महारोगाध्याय)
3. चरकसंहिता, चिकित्सा स्थान-28 (वातव्याधि चिकित्सा)
4. चरकसंहिता, चिकित्सा स्थान-29 (वातशोणित चिकित्सा)
5. सुश्रुतसंहिता, निदान स्थान-1 (वातव्याधि निदान)
6. सुश्रुतसंहिता, चिकित्सा स्थान-4 (वातव्याधि चिकित्सा)
7. सुश्रुतसंहिता, चिकित्सा स्थान-5 (महावातव्याधि चिकित्सा)
8. अष्टांगहृदय, निदान-15 (वातव्याधि निदान)

9. अष्टाङ्गहृदय निदान-16 (वात शोणित निदान)
10. अष्टाङ्गहृदय चिकित्सा-21 (वात व्याधि चिकित्सा)
11. अष्टाङ्गहृदय चिकित्सा-22 (वात शोणित चिकित्सा)

वातव्याधि की निरुक्ति—वातव्याधि की निम्नलिखित निरुक्तियाँ की जा सकती हैं—

1. वात एव व्याधिः वातव्याधिः।

ऐसा सम्भव नहीं; क्योंकि यह तो सामान्य तथा स्वस्थ अवस्था हुई। अतः इसे वातव्याधि नहीं कहा जा सकता।

2. वातेन जनितो व्याधिः वातव्याधिः।

ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि वात की कार्मुकता तो प्रायः सभी रोगों में होती है। अतः इस परिभाषा में 'वातव्याधि' को विशेष व्याधि के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

3. विकृतवातजनितोऽसाधारणव्याधिः वातव्याधिः। विकृत वातजन्य असाधारण व्याधि को ही वात व्याधि कहना चाहिये। यही उचित निरुक्ति है।

वातवृद्धि या क्षय—वातव्याधियों में वात का क्षय होता है या वृद्धि, यह एक प्रमुख प्रश्न है जो सभी चिकित्सकों को संशय में डाल देता है। वातव्याधि का चिकित्सा वैशिष्ट्य इसी प्रश्न के उत्तर पर निर्भर करता है। यहाँ पर इस विषय में विभिन्न विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

जामनगर आयुर्वेद संस्थान के प्रतिष्ठित विद्वानों के अनुसार वायु के 'चल' गुण को आधार मानने पर वातव्याधियों में अंगों की गतिहानि को वात का क्षय माना जा सकता है। ऐसा प्रथम दृष्ट्या प्रतीत होता है; परन्तु निदानों (सभी वातप्रकोपक) तथा चिकित्सा (वातशामक) की ओर ध्यान देने पर शंका उत्पन्न हो जाती है।

वायोर्धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन च।

इस सर्वमान्य सिद्धान्त से वातप्रकोप की दो विधियाँ स्पष्ट है—

1. धातुक्षय के कारण वातप्रकोप।
2. मार्गावरण के कारण वातप्रकोप।

धातुक्षय के कारण वातवृद्धि होकर शरीर में रूक्षता, खरता, शुष्कता आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। स्रोतसों में आवरण या संग के कारण एकदेशीय वृद्धि और अन्य देशीय क्षय के लक्षण मिलते हैं। ऐसा आध्मान, गुल्म, उदावर्त आदि व्याधियों में द्रष्टव्य है। वातव्याधियों में आवरण प्रमुख विकृति होती है। दोष, धातु और मलों का एक-दूसरे से आवृत होना सम्भव है। इसी तरह वात का भी अन्य दोषों तथा

धातुओं के द्वारा आवरण होता है। यहाँ तक कि वात के भेदों का भी आपस में आवरण होता है। 'आवृत' और 'आवरक' सिद्धान्त के अनुसार, आवरक अपने लक्षण प्रकट करता है और आवृत के स्वाभाविक कर्म दब जाते हैं। अतः केवल आवरक के वृद्धि के लक्षण स्पष्ट होते हैं और आवृत के क्षय के लक्षण मिलते हैं। वातव्याधियों में ऐसी ही स्थिति होती है। अंगों में कर्म क्षय (वात चलगुण क्षय के कारण) होने पर आवरण की कल्पना करनी चाहिये। यह आवरण मुख्य रूप से कफ, रक्त तथा मेद से होता है। पक्षाघात में आवरण की कल्पना करनी चाहिये; क्योंकि इसमें अंगों में कर्मक्षय होता है। अगर यह संग से होता तो अन्यत्र कर्मवृद्धि मिलनी चाहिये, जो पक्षाघात में नहीं मिलती। आवरण, संग और क्षय इन तीनों को स्पष्ट समझना चाहिये। दोष क्षय के लक्षण तीन प्रकार से सम्भव हैं; यथा—

1. स्वयं दोष का क्षय हो जाना।
2. दोष के मार्ग में रुकावट हो, जिससे एकदेशीय वृद्धि और अन्यदेशीय क्षय के लक्षण दिखें।
3. दोष का किसी अन्य दोष या धातु द्वारा आवरण हो गया हो, जिससे आवरक के लक्षण प्रकट होते हैं और आवृत के लक्षणों का क्षय प्रतीत होता है।

वातव्याधियों में प्रायः रक्तदुष्टि, मांसदुष्टि, वातवह नाड़ियों की दुष्टि तथा नाड़ी केन्द्रों की दुष्टि होती है। अधिष्ठानों में मुख्यतः मांस, स्नायु, कण्डरा, शिरा तथा अस्थिसन्धियों को समझना चाहिये। शिर जो इन्द्रियों का अधिष्ठान है, इसमें निज या आगन्तुक कारणों से यदि रक्तस्राव हो जाता है तो कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों को नियन्त्रित करने वाले वात का आवरण हो जाता है। यही रक्त जमकर यदि किसी इन्द्रिय के केन्द्र को या वातवाहिनी को रोक दे तो संगात्मक विकृति के लक्षण मिलते हैं। वातव्याधि के पूर्वरूप अव्यक्त होते हैं, क्योंकि वात आशुकारी है; अतः वात-व्याधियाँ सहसा व्यक्त हो सकती हैं। ऐसा ही पक्षाघात आदि में देखने को मिलता है। अतः स्पष्ट है कि वातव्याधियों में यदि चल गुण का क्षय दिखता है तो आवरण और संग के कारण समझना चाहिये (पक्षाघात आदि) और चल गुण की वृद्धि दिखती हो तो वातवृद्धि (आक्षेपक व्याधियाँ) समझनी चाहिये।

वाराणसी की आयुर्वेद परम्परा के विद्वानों के अनुसार वात या वात-संस्थान से वातनाड़ी संस्थान (Nervous system) का बोध करने से वातव्याधियों को समझना आसान हो जाता है तथा आधुनिक चिकित्सा विज्ञान से समन्वय भी स्थापित हो जाता है। वात के शास्त्रोक्त गुणों और कर्मों की व्याख्या करने से ऐसा लगता है कि मूर्तरूप या स्थूलरूप वातनाड़ी संस्थान को वात या वायु नहीं माना जा सकता; क्योंकि सम्पूर्ण नाड़ी संस्थान (मस्तिष्क, सुषुम्ना तथा अन्य वातनाड़ियों सहित) की भौतिक रचना वात-गुणात्मक नहीं है; अपितु वायु के विपरीत गुण वाली है, जैसा कि मस्तिष्क

तथा नाड़ियों की रचना में उपस्थित वसा (Lipid) तथा तत्सम धातुओं को देखकर कह सकते हैं। अत: मस्तिष्क तथा नाड़ियों के आश्रयीभूत नाड़ी (Nerve impulse) क्रिया या उसके सूक्ष्म संवहन रसायनों (Neurotransmitter) को ही वात मानना उचित है। वात नाडी संस्थान की रचना वात गुणात्मक न होकर कफ तथा मेद गुणात्मक है, जो कि वायु-संवहन के लिये सुरक्षित पथ प्रदान करती है। जिसकी अनुपस्थिति में वायु का विमार्गगमन हो सकता है; क्योंकि वायु सूक्ष्म, चल तथा अत्यन्त वेगवान है। उपरोक्त तथ्य को ध्यान में रखकर विवेचन करने से स्पष्ट होता है कि वातव्याधियों की चिकित्सा में प्रयुक्त वाह्य तथा आन्तरिक स्नेहन का उद्देश्य तत्सम गुणात्मक नाड़ी संस्थान संरचना अर्थात् वायुपथ को पुष्ट करना है, न कि स्वयं वायु को पुष्ट करना। वात के गुण तो स्नेहन के गुण के विपरीत होते हैं[1]।

वातव्याधि के सामान्य निदान—

1. वातवर्धक आहार—रूक्ष, शीत, अल्प तथा लघु आहार का निरन्तर सेवन; जैसे—राजमा, सरसों का शाक, गोभी, दही आदि।
2. वातवर्धक चेष्टायें या विहार—अत्यधिक मैथुन, अत्यधिक जागरण, अत्यधिक व्यायाम, उपवास।
3. वेगों को धारण करना।
4. मानसिक कारण—चिन्ता, शोक, काम, भय आदि।
5. मार्गावरोध तथा आमरस की उत्पत्ति।
6. रोगातिकर्षण।
7. धातुक्षय।
8. पञ्चकर्म व्यतिक्रम।
9. अन्य अभिघात, मर्मस्थान की बाधा इत्यादि।

सम्प्राप्ति—

वातवर्धक आहार-विहारादि सामान्य हेतु, धातुक्षय, मार्गावरण

प्रकोपजन्य वात विकृति (Functional abnormality of nerve impulse) → शरीरांगों में कर्म विकृति (Functional imbalance) → वात कर्म वृद्धि (Increase in nerve function) → आक्षेपक (Convulsive disorders) → **विविध वात व्याधियाँ।**

शरीरांगों में कर्म विकृति (Functional imbalance) → वात कर्म क्षय (Decrease in nerve function) → पक्षवध (Paralytic disorders) → **विविध वात व्याधियाँ।**

सम्प्राप्ति घटक—

दोष—वात

दूष्य—सर्वधातु (रक्त, मांस और मेद प्रमुख दूष्य)

अधिष्ठान—अंग-प्रत्यंग एवं अवयवविशेष (मुख्यत: मांस स्नायु, कण्डरा, शिरा तथा अस्थिसन्धियाँ)

1. अवयवगत
2. दूष्यगत
3. अंग-एकांग, सर्वांग
4. आवरणजन्य

पूर्वरूप[1]—सभी वातव्याधियों के सन्दर्भ में 'अव्यक्त लक्षण' ही पूर्वरूप माने जाते हैं। ऐसा किसी भी रोग के सन्दर्भ में कहा जा सकता है; क्योंकि किसी रोग के अस्पष्ट लक्षण ही पूर्वरूप होते हैं। किन्तु शास्त्र में प्रत्येक व्याधि के पूर्वरूप वर्णित हैं; केवल वातव्याधि और उर:क्षत में 'अव्यक्त लक्षण' मात्र कहकर पूर्वरूप बताया गया है। ऐसा किञ्चित् वातव्याधि तथा उर:क्षत की आशुकारी प्रवृत्ति को दृष्टगत करके कहा गया है।

रूप[2]—वातविकारों के व्यक्त लक्षणों को ही रूप कहा गया है। 'अपाय' 'लघुता' वातव्याधि का मौलिक लक्षण है। चरक ने वातव्याधि का रूपवर्णन मुख्य रूप में दो प्रकार से किया है—

1. व्यक्त लक्षण
2. अपाय (अभाव या अस्थिरता—Remissions)

- लघुता (हल्कापन—Lightness)

अर्थात् लक्षणों की अस्थिरता (कभी स्पष्ट, कभी अस्पष्ट—Recurrence & Remissions) तथा विकृत अवयव की लघुता (हल्कापन या रूखापन—Lightness due to atrophy) वातव्याधि के सामान्य लक्षण हैं।

वातप्रकोप के सामान्य लक्षण[3]—

1. पर्वसंकोच 2. स्तम्भ

---

1. रूक्ष: शीतो लघु: सूक्ष्मश्चलोऽथ विशद: खर:। (च. सू. 1/59)
रूपरहितस्पर्शवान् वायु:। (च. सू. 12)
वायु: तन्त्रयन्त्रधर:। (च. सू. 12)
अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च रूक्ष: शीतो: लघु: खर:। (सु. नि. 1/7)
आशुकारी मुहुश्चारी पक्वाधानगुदालय:। (सु. नि. 1/9)

---

1. अव्यक्तं लक्षणं तेषां पूर्वरूपमिति स्मृतम्।
2. आत्मरूपं तु यद्व्यक्तमपायो लघुता पुन:।। (च. चि. 28/19)
3. संकोच: पर्वणां स्तम्भो..........।
..........मुहुश्चायास एव च।। (च. चि. 28/20-22)

3. अस्थिभङ्ग
4. रोमहर्ष
5. प्रलाप
6. पाणिपृष्ठ शिरोग्रह
7. खाञ्ज्य, पाङ्गुल्य, कुब्जत्व
8. अंगशोष
9. गर्भ, शुक्र, रजनाश
10. अनिद्रा
11. स्पन्द तथा गात्रसुप्तता
12. शिर, नासा, जत्रु, ग्रीवा से हुण्डन या टेढ़ा होना
13. भेद, तोद, अर्ति
14. आक्षेप
15. आयास

वातव्याधियों के विशेष लक्षण—वातव्याधि के अन्तर्गत अनेक प्रकार के रोगों का उल्लेख आता है, जिनमें लक्षणों के आधार पर समानता नहीं है और आधुनिक दृष्टि से विचार करने पर भी भिन्नता लगती है। इन सभी व्याधियों को रोग विज्ञान तथा चिकित्सा के सिद्धान्तों की दृष्टि से समान होने के कारण वातव्याधि समूह के अन्तर्गत रखा गया है। समस्त वातव्याधियों का निम्नलिखित वर्गीकरण के माध्यम से अध्ययन किया जा सकता है।

वातव्याधि की सामान्य चिकित्सा—

1. **स्नेहन**[1]—निरुपस्तम्भ अर्थात् आवरणरहित केवल शुद्ध वायु से रोग उत्पन्न हो तो सर्वप्रथम घृत, वसा, तैल, मज्जा आदि स्नेहों को मिलाकर स्नेहन द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार से स्नेहन कराना चाहिये। इसके लिये स्नेहपान, स्निग्ध मांसरस, खीर एवं अनुवासन बस्ति तथा स्निग्ध अन्न का उपयोग अच्छा है।

2. **स्वेदन**[2]—रोगी का पूर्ण रूप से स्नेहन हो जाने पर सारे शरीर पर या जिस अंगविशेष में वायु कुपित हो, उस प्रदेश में यथावश्यक साग्नि और निरग्नि भेद से चरकोक्त 13 प्रकार के स्वेदों का प्रयोग करना चाहिये। नाड़ी स्वेद, प्रस्तर स्वेद, सङ्कर स्वेद या पिण्ड स्वेद अथवा सर्वांग स्वेद अच्छा रहता है।

वातव्याधियों का वर्गीकरण

अवयव व कोष्ठांगगत वातव्याधियाँ—

- गुदास्थित वात Obstructive entero-uropathy
- आमाशयगत वात Acute gastroenteritis
- पक्वाशयगत वात Irritable bowel, Chronic colitis

1. केवलं निरुपस्तम्भमादौ स्नेहैरुपाचरेत्।
वायुः सर्पिर्वसातैलमज्जपानैर्नरं ततः।। (च. चि. 28/75)
नास्ति तैलात्परं किञ्चिदौषधं मारुतापहम्। (च. चि. 28/181)
2. सुस्निग्धं स्वेदयेत्ततः। (च. चि. 28/77)

- ज्ञानेन्द्रियगत वात Neouropathies of sense organs viz conduction deafness etc.
- मूक, मिन्मिन-गद्गद Aphasia, Rhinophonia Disarthria.
- आध्मान Generalised tympanitis (pyloric stenosis and dilated stomach)
- आनाह Distension of abdomen & constipation
- ऊर्ध्ववात Eructation/Belching
- तूनी Renal colic
- प्रतितूनी Urethral colic
- अष्ठीला Enlarged prostate
- प्रत्यष्ठीला Rectovesical tumour
- मूत्रावरोध Retention of urine

दूष्यगत वातव्याधियाँ—

- त्वग्गत वात (रसगत वात)
- Peripheral neuritis
- रक्तगत वात Hypertension
- मांस-मेदगत वात Myopathy, Myalgia, Muscle fatigue etc.
- अस्थि-मज्जागत वात Rheumatism, Osteomyelitis
- शुक्रगत वात Sexual neurosis, Dhat syndrome

अंग-प्रत्यंगगत वातव्याधियाँ—

एकांग

- सिरागत वात Engorged veins
- स्नायुगत वात Spastic disease of tendons and ligaments
- सन्धिगत वात Osteoarthrosis
- खल्ली Cramps
- कम्पवात Parkinsonism
- गृध्रसी Sciatica
- विश्वाची Brachial neuritis
- अवबाहुका Frozen shoulder
- अंशशोष Wasting of shoulder muscles
- क्रोष्टुशीर्ष Pyogenic arthritis of knee
- हनुग्रह Lockjaw

- मन्यास्तम्भ Neck rigidity
- जिह्वास्तम्भ Glossal palsy
- शिरोग्रह Trigeminal neuralgia
- पाददाह Burning feet
- पादहर्ष Tingling sensation of feet

सर्वांग

- पक्षवध Hemiplegia
- अर्दित Facial paralysis with or without hemiplegia
- कम्पवात Tremors, Palsy, Parkinsonism
- खञ्ज Limping (Lame for one leg)
- पंगु Lame from both legs
- कलायखञ्ज Lathyrism
- आक्षेपक Convulsive disordes
- अपतन्त्रक Hysterical convulsions
- अपतानक Tetenus like convulsions
- स्नायुगत वात Diseases of tendons and ligaments

आवरणजन्य वातव्याधियाँ—

चरक मतानुसार—

पञ्चवायु के परस्पर आवरण	: 20
दूष्यगत (सात) मल, वात, पित्त, कफ	: 22
योग	: **42**

यथा—

पञ्च वायुओं के परस्पर आवरण	: 20
पित्तावृत वात	: 1
कफावृत वात	: 1
सप्तधातु आवरण	: 7
मलावृत वात	: 1
मूत्रावृत वात	: 1
सर्वधात्वावृत वात	: 1
पित्तावृत पञ्च वात	: 5
कफावृत पञ्च वात	: 5
योग	: 42

सुश्रुत मतानुसार—

पित्तावृत प्राणवात—वमन, दाह।
कफावृत प्राणवात—दौर्बल्य सदन, तन्द्रा, वैरस्य।
पित्तावृत उदानवात—दाह, मूर्च्छा भ्रम, क्लम।
कफावृत उदानवात—स्वेद, हर्ष, मन्दाग्नि, शीतता।
पित्तावृत समान वात—स्वेद, दाह कृष्णता, मूर्च्छा।
कफावृत समान वात—मल, मूत्रावरोध, गात्रहर्ष।
पित्तावृत अपान वात—दाह, उष्णता रक्तमूत्रता।
कफावृत अपान वात—शरीर के निम्न भाग में भारीपन, शीतता।
पित्तावृत व्यान वात—दाह, अंगविक्षेप, क्लम।
कफावृत व्यान वात—स्तम्भन, शूल, शोथ आदि।

स्नेहन-स्वेदन से—

1. शरीर में मृदुता, लचीलापन, वेदनाशान्ति, पोषण आदि प्राप्त होता है।

2. साथ ही दोषों को शाखा से हटाकर कोष्ठ में एकत्र करता है, जहाँ से उन्हें सुविधापूर्वक बाहर निकाला जा सकता है।

3. संशोधन[1]—यदि वातव्याधि अधिक दोष के कारण या आवरणयुक्त हो तो मात्र स्नेहन-स्वेदन से पूर्ण लाभ नहीं होता। ऐसे में संशोधन आवश्यक हो जाता है। सबसे पहले मृदु स्नेहयुक्त रेचन देना चाहिये; जैसे—तिल्वक घृत, एरण्ड तैल + दूध आदि। यदि रोगी विरेचन-योग्य न हो तो उसे दीपन, पाचन, निरूह बस्ति एवं पाचन दीपन द्रव्यों से युक्त भोजन देना चाहिये। संशोधन के बाद संशमन के द्वारा अग्नि प्रदीप्त हो जाने पर पुनः स्नेहन-स्वेदन का प्रयोग करना चाहिये।

4. रसायन सेवन—वातव्याधि में रसायन-सेवन प्रशस्त माना गया है। विशेष रूप से शिलाजीत, दुग्ध के साथ गुग्गुल तथा अभयामलकाध्याय में कहे गये योग उत्तम हैं।

5. आवरण की चिकित्सा—आवरणजन्य व्याधि में आवरण की चिकित्सा पहले करनी चाहिये तथा कफ एवं पित्त दोनों दोष हों तो पित्त-चिकित्सा पहले करनी चाहिये[2]। आवृत वात की चिकित्सा में सर्वदा ऐसी औषध व्यवस्था करनी चाहिये कि आवरण की वृद्धि न हो।

- मधुर यापना वस्ति
- यथावश्यक अन्य संशोधन, बलवान रोगी में विरेचन।
- रसायन प्रयोग—शिलाजीत, दुग्ध, गुग्गुल, अभयामलकी आदि।
- पित्तावृत में पित्तनाशक एवं वातानुलोमन कर्म।

1. मृदुभिः स्नेहसंयुक्तैरौषधैस्तं विशोधयेत्। (च. चि. 28/03)
2. संसृष्टे कफपित्ताभ्यां पित्तमादौ विनिर्जयेत्। (च. चि. 28/100)

- कफावृत में कफनाशक एवं वातानुलोमन कर्म।
- रक्तावृत वात में वातरक्त के समान चिकित्सा।
- मेदावृत में प्रमेहघ्न, वातघ्न एवं मेदोहर कर्म।
- अन्नावृत में वमन, दीपन, पाचन।
- मूत्रावृत में मूत्र विरेचन, स्वेद, उत्तरबस्ति।
- अपने-अपने स्थान में स्थित परन्तु बलवान दोष की चिकित्सा यथावत करें। वात के लिये बस्ति, पित्त के लिये विरेचन, कफ के लिये वमन।

चिकित्सा-सूत्र

एकल द्रव्य—अश्वगन्धा, बला, कुचला, शुण्ठी, रास्ना, निर्गुण्डी, गुग्गुल, अमृता, मुस्तक, आदि।

कषाय—रास्नासप्तक, दशमूल + निर्गुण्ड + रास्ना, महारास्नादि क्वाथ।

तैल—महानारायण तैल, प्रसारणी तैल, पञ्चगुणतैल, विषगर्भतैल, सहचर तैल, महामाष तैल आदि।

गुग्गुल योग—महायोगराज गुग्गुल, त्रयोदशांग गुग्गुल, सिंहनाद गुग्गुल, स्वर्णयोगराज गुग्गुल आदि।

रस औषधियाँ—वृहद्वातचिन्तामणिरस, वातगजांकुश रस, चिन्तामणि रस, योगेन्द्र रस, रसराज रस, अग्नितुण्डी वटी, विण्मुष्ठी, रुमाराज (ऊंझा) आदि।

पथ्य—मधुर, अम्ल, लवण-स्निग्ध द्रव्य, एरण्ड तैल, शुण्ड, अजवाइन, हल्दी, जीरक आदि।

अपथ्य—रात्रि-जागरण, चिन्तन, शोक, श्रम, रूक्ष पदार्थ, सरसों का शाक, गोभी, राजमा, चना, सेम, दही आदि।

व्यवस्था-पत्र—

1. अश्वगन्धा चूर्ण : 3 ग्राम
   पञ्चकोल चूर्ण : 3 ग्राम
   हरीतकी चूर्ण : 2 ग्राम
   1×3 मिश्रित दूध से
2. योगराज गुग्गुल : 1 गोली
   विण्मुष्ठी वटी : 1 गोली
   चित्रकादि वटी : 1 गोली
   1×3 गर्म पानी से
3. महारास्नादि क्वाथ 30 मि. ली. = मात्रा भोजन के बाद।
4. महानारायण तैल अभ्यङ्ग/सर्वाङ्ग निर्गुण्डी वाष्प स्वेद।

23 गृध्रसी रोग

परिचय—गृध्रसी नामक नाड़ी स्फिक प्रदेश से निकलती है और उसकी शाखायें पैरों तक जाती हैं। इसी गृध्रसी नाडी में क्षोभ या शोथ होने से गृध्रसी रोग होता है। अत एव वेदना भी स्फिक प्रदेश से प्रारम्भ होकर क्रमशः कटि के पिछले भाग, ऊरु, जानु, जंघा तथा पैरों तक जाती है। आधुनिक चिकित्सा विशेषज्ञ गृध्रसी रोग को Sciatica कहते हैं तथा गृध्रसी नाड़ी को Sciatic nerve कहते हैं। वास्तव में पञ्चम कटिप्रदेशीय तथा प्रथम-द्वितीय त्रिकप्रदेशीय नाड़ी-मूलों के मिलने से गृध्रसी नाडी की संरचना होती है। इन नाड़ी मूलों पर दबाव पड़ने से गृध्रसी रोग की उत्पत्ति होती है। यह रोग आजकल आमतौर पर लोगों में पाया जाता है, जिसका कारण अनुचित आहार-विहार का सेवन है। यह रोग वातप्रकोपक आहार-विहार; यथा—रूक्ष, शीत, कटु, तिक्त, कषाय एवं अतिजागरण, वेगविधारण, अतिमैथुन, शोक, चिन्ता आदि के कारण होता है। इसके अतिरिक्त मृदु शय्या पर सोये तथा बैठे रहने एवं सायं काल अधिक चलना भी इसका निदान है। यह रोग केवल वातदोष अथवा वात तथा कफ दोष से दो प्रकार का होता है। शुद्ध वातदोषज गृध्रसी में बार-बार कम्पन, तोद तथा शरीर में टेढ़ापन हो जाता है एवं वात तथा कफदोषज गृध्रसी में तन्द्रा, शरीर में भारीपन तथा भोजन के प्रति अरुचि आदि लक्षण होते हैं। Straight leg raising test द्वारा इस रोग की परीक्षा की जाती है।

प्रमुख सन्दर्भ—

1. चरकसंहिता, चिकित्सा स्थान—28
2. सुश्रुतसंहिता, शारीर स्थान—8
3. माधवनिदान, पूर्वार्द्ध अध्याय—22

निदान—

1. सामान्यतया वातप्रकोप के निदान ही गृध्रसी के भी निदान हैं। यथा—रूक्ष, शीत, अल्प, विरुद्ध, असात्म्य, कटु, तिक्त, कषाय, खर, विशद, विषम आदि आहार एवं अतिमैथुन, अतिजागरण, अतिव्यायाम, वेगविधारण, चिन्ता, शोक, प्लवन, भारवहन इत्यादि विहार का अधिक सेवन करना।
2. मृदु शय्या या आसन पर सोये या बैठे रहना।
3. सायंकाल को अधिक चलना भी इसका निदान है।

निदान

सामान्य वातप्रकोपक निदान	मृदु शय्या या आसन पर बैठे या सोये रहना	सायंकाल अधिक चलना

सम्प्राप्ति—

1. स्वप्रकोपक कारणों से प्रकुपित वात अथवा वात-कफ कटि, पृष्ठ, ऊरु, जानु, जंघा तथा पैरों में शूल उत्पन्न करता है। तब गृध्रसी रोग की उत्पत्ति होती है।

2. गृध्रसी नाड़ी में क्षोभ या शोथ होने से गृध्रसी रोग होता है।

3. गृध्रसी नाड़ी स्फिक् प्रदेश से निकलती है तथा उसकी शाखायें क्रमशः पैरों तक जाती हैं। अतएव वेदना भी स्फिक् से प्रारम्भ होकर पैरों तक जाती है।[1]

● प्रकुपित—वात, वात कफ → स्फिक्, पृष्ठ, कटि, ऊरु, जानु, जंघा, पाद में शूल → **गृध्रसी रोग।**

लक्षण एवं भेद

सामान्य लक्षण—

1. इसमें वेदना स्फिक् से प्रारम्भ होती है।

2. पश्चात् यह वेदना कटि, पृष्ठ, ऊरु, जानु, जंघा और पाद की ओर जाती है। इन स्थानों पर स्तब्धता, जकड़न तथा स्पन्दन भी होता है।

3. पैर को मोड़ने या सीधा करते समय वेदना होती है।

4. यह रोग प्रायः एक तरफ होता है; किन्तु कभी-कभी दोनों तरफ भी मिलता है।

भेद—

वातज गृध्रसी के लक्षण[2]—इसमें तोद तथा शरीर में टेढ़ापन हो जाता है। जानु, कटि, ऊरु एवं सन्धियों में फड़कन अथवा अधिक स्तब्धता आ जाती है।

वातकफज गृध्रसी के लक्षण[3,4]—इसमें पाचकाग्नि की मन्दता, तन्द्रा, मुख से लार निकलते रहना तथा भोजन के प्रति अरुचि—ये लक्षण होते हैं।

---

1. स्फिक्पूर्वा कटिपृष्ठोरुजानुजंघापदं क्रमात्।
   गृध्रसी स्तम्भरुक्तोदैर्गृह्णाति स्पन्दते मुहुः।। (च. चि. 28/56)
2. वातजायां भवेत्तोदो देहस्यापि प्रवक्रता।
   जानुकट्यूरूसन्धीनां स्फुरणं स्तब्धता भृशम्।। (मा. नि. 22/55)
3. वातश्लेष्मोद्भवायां तु निमित्तं बह्निमार्दवम्।
   तन्द्रा मुखप्रसेकश्च भक्तद्वेषस्तथैव च।। (मा. नि. 22/56)
4. वाताद् वातकफात्तन्द्रागौरवारोचकान्विता।। (च. चि. 28/57)

व्यवस्था-पत्र—

1. सुखोष्ण जल से रसोन पिण्ड 10 ग्राम 9 सुबह, 2 रात।

2. रात में सोते समय एरण्ड तैल : 30 मि. ली. (सुखोष्ण गोदुग्ध के साथ)

3. सवेरे-शाम भोजन से पहले कट्फल नस्य महानारायण तैल का अभ्यंग कर स्वेदन करना चाहिये।

4. प्रातः-मध्याह्न-सायं

महायोगराज गुग्गुल	: 600 मि. ग्रा.
महावातविध्वंसन	: 300 मि. ग्रा.
रसराज	: 300 मि. ग्रा.
श्रृंगभस्म	: 1 ग्रा.
अग्नितुण्डी वटी	: 500 मि. ग्रा.

दिन में 3 बार आर्द्रक स्वरस और मधु के साथ तत्पश्चात् महारास्नादि क्वाथ 50 मि. ली. पियें।

परीक्षा—रोगी को पीठ के बल उत्तान सुलाकर पैरों को फैला दें। फिर रोगी को अपने पैर आसमान की ओर उठाने को कहें। यदि रोगी पैर नहीं उठा पाता या कम उठा पाता है तो रोगी को वेदना का अनुभव होगा और जब चिकित्सक रोगी के पैरों को ऊपर उठाकर शिर की ओर मोड़े तो गृध्रसी नाड़ी पर दबाव पड़ने से जोर से दर्द होगा। तब गृध्रसी रोग होने का निश्चय करना चाहिये। (Straight leg raising test)

चिकित्सा-सूत्र

1. कण्डरा तथा गुल्फ के बीच में सिरावेध तथा अग्निकर्म करना चाहिये।

2. उष्ण उपनाह बांधना चाहिये।

3. बालुका स्वेद करना चाहिये।

4. यदि अभ्यंग करना हो तो जोर से न करे, क्योंकि इससे गृध्रसी नाड़ी पर दबाव पड़ता है।

5. रोगी को तखत पर सोने को कहें।

6. अनुवासन तथा निरूह बस्ति का बारी-बारी से प्रयोग करना चाहिये।

●

24 अर्दित

जिस रोग से मुखार्ध में पीड़ा हो, उसे अर्दित कहते हैं। सुश्रुत के कथनानुसार यह रोग मुखमण्डल तक ही सीमित रहता है, जिसके कारण विकृत पार्श्व के आँख, नाक, कान, मस्तक, ओष्ठ, हनु तथा दांतों में विशेष विकृति होती है। किन्तु दृढबल मुख के साथ सम्पूर्ण अर्धाङ्ग को भी इस विकृति का अधिष्ठान मानते हैं। वे केवल आधे मुख की विकृति तथा मुख के साथ अर्धांग की विकृति, इन दोनों अवस्थाओं को सामान्य रूप से अर्दित कहते हैं। अर्दित का चरकोक्त लक्षण स्वीकार करने पर अर्दित और पक्षवध में कोई अन्तर नहीं रहेगा, इस शंका का निराकरण श्री चक्रपाणि ने स्वयं शंका करके निम्न प्रकार से किया है।

अर्दित के दौरे होते हैं। वह स्थायी स्वरूप का नहीं होता, किन्तु अर्धाङ्ग वात निरन्तर रहता है। इसके अतिरिक्त अर्दित में मुखमण्डलगत विकृतियाँ प्रधान रूप से रहती हैं, जब कि अर्धाङ्गवात या पक्षवध में नहीं रहती।

पाश्चात्य रोग विज्ञान की दृष्टि से मुखमात्र में विकृति को Facial paralysis कहते हैं। यह सातवीं शीर्षण्य नाड़ी (Facial nerve) की विकृति का परिणाम है। इसका विकृति क्षेत्र मुखमण्डल ही है। सुश्रुत ने भी मुखमण्डल में ही इसकी सीमा निर्धारित की है।

प्रमुख सन्दर्भ—

1. वा. नि. 15   3. च. चि. 28
2. सु. नि. 1   4. मा. नि. 22

अर्दित रोग (Facial paralysis)—जिस रोग से मुखार्ध में पीड़ा हो, उसे अर्दित कहते हैं।[1]

कठिन पदार्थों का भक्षण अधिक भार उठाना वातवर्धक आहार-विहार	**निदान**[2]	अधिक उच्च स्वर से भाषण अधिक हंसना या अधिक जम्भाई मुंह टेढ़ा रखकर छींकना अति कठिन धनुष खींचने से

1. अर्दयति पीड़यति इति अर्दितः।
2. उच्चैर्व्याहरतोऽत्यर्थं खादतः कठिनानि वा।
हसतो जृम्भतो वाऽपि भाराद्विषमशायिनः। (सु. नि. 1/68)

सम्प्राप्ति[1]**—**

पूर्वोक्त निदानों से वायु प्रकुपित होकर → मुख, नासिका, ललाट, ओष्ठ हनु, ग्रीवा की सन्धियों में जाकर उन्हें टेढ़ा कर देता है → **अर्दित रोग।**

पूर्वरूप[2]**—**

1. रोमहर्ष
2. वेपथु
3. आविल नेत्रता
4. वायु का ऊर्ध्व वेग
5. त्वचा में सुप्ति
6. तोद एव मन्या हनुग्रह

लक्षण—

1. मुख एक ओर टेढ़ा हो जाता है। आंख, नाक, ललाट तथा ओष्ठ व जिह्वा एक ओर हो जाते हैं।
2. बोलने में कष्ट का अनुभव।
3. आक्रान्त नेत्र ठीक से नहीं घुमता।
4. जिह्वा एक ओर वक्र होकर बाहर निकलती है।
5. खाना खाने पर अन्न तथा उदक आक्रान्त भाग की ओर से बाहर गिर जाते हैं।
6. दृष्टिवक्रता, वाक्संग, श्रुतिहानि, क्षवथुग्रह, गन्धज्ञानहानि, दन्तवेदना, शिरः-कम्पन।

चिकित्सा-सूत्र

1. नस्य देकर नाक में स्नेह डालें।
2. बला तैल का अभ्यंग करके नाड़ी स्वेद तथा उपनाह।
3. क्षीरबला तैल की बस्ति दें।
4. कर्ण तथा नेत्रों का तर्पण।
5. दाह और रागयुक्त अर्दित में सिरावेध।

औषध-प्रयोग—

1. भल्लातकावलेह
2. माषमोदक
3. समीरपन्नग रस
4. योगराज गुग्गुल
5. वातविध्वंस रस
6. रसराज
7. शृंगभस्म
8. अग्नितुण्डी वटी

1. शिरोनासौष्ठचिबुकललाटेक्षणसन्धिगः।
अर्दयित्वायनिलो वक्त्रमर्दितं जनयत्यतः।
वक्रीभवति वक्त्रार्धं ग्रीवा चाप्यपवर्तते।। (सु. नि. 1/69)
2. यस्याग्रजो रोमहर्षो वेपथुर्नेत्रमाविलम्।
वायुरूर्ध्वं त्वचि स्वापस्तोदो मन्याहनुग्रहः।। (सु. नि. 1/72)

चिकित्सा—

1. अभ्यंग—सैन्धवादि तैल या महाविषगर्भ तैल की मालिश करें।

2. स्वेदन—एरण्डबीज की पोटली से वातज में और वातकफज में सेंधा नमक की पोटली से विशेष स्वेदन करें।

3. उपनाह—मेउड़ी, मदार, धतूर, बकायन, सहिजन, एरण्ड आदि की पत्तियों के कल्क को सुखोष्ण कर आवश्यकतानुसार पुल्टिस बांधना चाहिये।

4. कोलादि लेप—झरबेर, कुलथी, देवदारु, बुरादा, रास्ना, उड़द, तीसी, तिल, रेड़ी के बीज, कूठ, घोड़बच, सोवा और जौं—इनका चूर्ण बनाकर सिरका में पीस कर पोटली बना कर सेंक करे और पुल्टिस बांधे।

5. लशुनक्षीर—छीले हुये लहसुन 30 ग्राम लेकर पीस कर 250 मि. ली. दूध और 1 लीटर जल डालकर पकावें, जब मात्र दूध बचे तो छान ले। आधा सुबह तथा आधा शाम को पीना चाहिये।

औषधि प्रयोग—

1. एरण्ड स्नेह
2. वातविध्वंसन रस
3. भल्लातक अवलेह
4. योगराज गुग्गुल
5. सिंहनाद गुग्गुल

शिरावेध चिकित्सा : सुश्रुतानुसार—

पीठ को ऊँचे और सिर को नीचे किये हुये, जिसकी पीठ तनी हुई है, ऐसे बैठे हुये पुरुष की पीठ, श्रोणी और कन्धे में सिरा का वेधन करें।[1]

छाती को प्रसारित किये हुये, सिर कों ऊँचा किये हुये और देह को फैलाये हुये मनुष्य की उदर और छाती की सिरा का वेधन करें।[2]

बाहुओं से लटकते हुये शरीर की पार्श्व की सिरा का वेधन करें।[3]

जिसका शिश्न कुछ नीचे झुकाया गया है, ऐसे पुरुष के मेढ़ में सिरावेधन करें।[4]

जिसकी जिह्वा का अग्र ऊपर और मोड़कर अन्दर गले की ओर किया गया है, ऐसे पुरुष की जीभ के नीचे की सिरा का वेधन करें।[5]

पथ्य—मधुर, अम्ल, लवण, स्निग्ध द्रव्य।

---

1. श्रोणीपृष्ठस्कन्धेषून्नामितपृष्ठस्यावाक्शिरस्कस्योपविष्टस्य विस्फूर्जितपृष्ठस्य विध्येत्। (सु. शा. 8/11)
2. उदरोरसो: प्रसारितोरस्कस्योन्नामितशिरस्कस्य विस्फूर्जितदेहस्य। (सु. शा. 8/12)
3. बाहुभ्यामवलम्बमानदेहस्य पार्श्वयो:। (सु. शा. 8/13)
4. अवनामितमेढ्रस्य मेढ्रे। (सु. शा. 8/14)
5. उन्नमितविदष्टजिह्वाग्रस्याधोजिह्वायाम्। (सु. शा. 8/15)

अपथ्य—जागरण, चिन्तन, श्रम, रूक्ष पदार्थ।

व्यवस्था-पत्र—

1. गुग्गुल वटी : 1 ग्राम = 1 मात्रा (सुखोष्ण दूध से रात में सोते समय)
2. महायोगराज गुग्गुल : 1 ग्राम
   समीरपन्नग रस : 300 मि. ग्रा.
   रसराज रस : 300 मि. ग्रा.
   शृंग भस्म : 1 ग्राम
   अग्नितुण्डी वटी : 500 मि. ग्रा.
   3 मात्रा (सिन्दुवार स्वरस से)
3. महारास्नादि क्वाथ : 50 मि. ली. ञ 2 मात्रा (पानार्थ)
4. अश्वगन्धारिष्ट : 40 मि. ली. = 2 मात्रा (भोजनोत्तर समान जल मिलाकर)

25 पक्षाघात

परिचय—आयुर्वेद में चिकित्सा तथा नैदानिकीय दृष्टि से वातव्याधि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वस्तुत: वातव्याधि शब्द की निम्नलिखित निरुक्ति की जा सकती है—**विकृतवातजनितोऽसाधारणव्याधि: वातव्याधि:** अर्थात् विकृत वातजन्य असाधारण व्याधि को ही वातव्याधि कहना चाहिये। चरक ने सामान्य एवं नानात्मज भेद से दो प्रकार की व्याधियों का वर्णन किया है। वातादि प्रत्येक दोष तथा समस्त दोषों से होने वाले रोगों को सामान्यज रोग कहा गया है। जैसे ज्वर, अतिसार, अर्श इत्यादि। इसके विपरीत जो व्याधियाँ केवल एक ही दोष से उत्पन्न होती हैं, उन्हें नानात्मज व्याधि कहते हैं। उदाहरणार्थ—पक्षवध, आक्षेप, गृध्रसी आदि रोग। वातव्याधियाँ दु:साध्य होती हैं। ([1]जब अपने कारणों से प्रकुपित वायु शरीर के आधे भाग में अधिष्ठित होकर सिराओं तथा स्नायुओं को सुखाकर शरीर बन्धनों को शिथिल करता हुआ मनुष्य के आधे शरीर की क्रिया एवं चेतना को नष्ट कर देता है तो उस स्थिति को पक्षाघात-एकाङ्गरोग-सर्वाङ्गघात कहते हैं।)

प्रमुख ग्रन्थसन्दर्भ—

1. चरक, चिकित्सास्थान अध्याय 28
2. चरक, सूत्रस्थान अध्याय 1
3. अष्टाङ्गहृदय अध्याय 15
4. सुश्रुत, निदान स्थान अध्याय 1
5. माधवनिदान

निदान— **विविध वातव्याधि**

वात विकृति (Functional abnormality of nerve impulse)

वातकर्म वृद्धि	वातकर्म क्षय
(Increase in nerve function viz convulsion etc.)	(Decrease in nerve function viz paralysis etc.)
आक्षेपक	पक्षवध

---

1. देहे स्रोतांसि रिक्तानि पूरयित्वाऽनिलो बली।
करोति विविधान् व्याधीन् सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रयान्।। (च. चि. 28-18)

वातव्याधि के सामान्य निदान—

1. वातवर्द्धक आहार-विहारादि सामान्य हेतु[1] वात प्रकोप
2. धातुक्षय[2] वात प्रकोप
3. मार्गावरण वात प्रकोप
4. वेगविधारण द्वारा वात वृद्ध होकर वातज रोग उत्पन्न होते हैं।
5. वातवर्धक कर्म क्रिया।

वातप्रकोप के कुछ सामान्य हेतु—

1. आहारसम्बन्धी—रूक्ष, शीत, अल्प तथा लघु आहार का निरन्तर सेवन।
2. विहारसम्बन्धी—अत्यधिक जागरण, अत्यधिक व्यायाम, उपवास, वेग-विधारण, चिन्ता, शोक।
3. रोगातिकर्षण
4. धातुक्षय
5. मार्गावरोध तथा आमरस की उपस्थिति।
6. क्रिया-कर्मसम्बन्धी व्यतिक्रम : असमय में पञ्चकर्म, अत्यधिक रक्त विस्रावण, अत्यधिक लंघन।
7. अन्य अभिघात, मर्म स्थान की बाधा इत्यादि।

पक्षाघात रोग के दोष-दूष्य अधिष्ठान—

दोष—वात
दूष्य—सर्वधातु
अधिष्ठान—एकाङ्ग, सर्वाङ्ग

पक्षाघात के भेद[3]

एकाङ्गघात (Monoplogia)—किसी एक अंग का घात।

पक्षवध/अर्धाङ्गवात (Hemiplegia)—शरीर के दक्षिण या वाम के प्रत्येक अंग या सिर।

सर्वाङ्गघात (Quadriplegia)— शरीर के सम्पूर्ण अंगों में क्रियाहीनता।

अधराङ्गघात (Paraplegia)—कमर के ऊपर का भाग निष्क्रिय हो जाता है।

---

1. सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्। (च. सू. 1/44)
2. वायोर्धातो: क्षयात्कोपो मार्गस्यावरणेन च। (च. चि. 28/59)
3. एकाङ्गरोगं तं केचिदन्ये पक्षवधं विदु:।
सर्वाङ्गरोगं तद्वच्च सर्वथायाश्रितेऽनिले।। (अ. हृ. नि. 15/41)

सम्प्राप्ति[1]—

प्रकुपित वायु

सिरासंकोच → सिरासंकोच से पोषणाभाव

स्नायुओं में स्थानसंश्रय तथा शोषण → दूष्य रस, रक्त, मांस

↓

मांसक्षय

↓

एक तरफ का आधा शरीर कार्य नहीं कर पाता

↓

पक्षाघात

लक्षण एवं रूप—

1. शरीर के आधे भाग में क्रियाहीनता
2. सिरा स्नायु शोष
3. आक्रान्त भाग स्थिर, संकुचित और कृश
4. वातविकारों के व्यक्त लक्षण ही वातव्याधि के रूप हैं।

सामान्यत: अपाय तथा लघुता वात व्याधि के मौलिक लक्षण हैं।

अपाय—(अभाव या अस्थिरता—Remissions)

लघुता—(हल्कापन—Lightness)

साध्य-असाध्यता[2]—

साध्य—वात के साथ पित्त या कफ दोष से युक्त पक्षवध।

असाध्य—धातुओं की हीनता के कारण उत्पन्न पक्षवध।

कृच्छ्रसाध्य—केवल वात दोष के कारण उत्पन्न पक्षवध।

अन्य असाध्य लक्षण—

1. गर्भिणी, सूतिका (सद्य:प्रसूता),
2. बालक, वृद्ध, क्षीण (कृश),
3. तथा अधिक रक्तस्राव के कारण होने वाला पक्षवध असाध्य होता है।
4. यदि पक्षाघात के रोगी को किसी प्रकार की वेदना न हो तो ऐसे रोगी की चिकित्सा न करे, क्योंकि वह भी असाध्य होता है।

---

1. हत्वैकं मारुत: पक्षं दक्षिणं वाममेव वा।।
कुर्याच्चेष्टानिवृत्तिं हि रजं वाक्स्तम्भमेव च। (च. चि. 28/53)
2. शुद्धवातहतं पक्षं कृच्छ्रसाध्यतयं विदु:।
साध्यमन्येन संसृष्टमसाध्यं क्षयहेतुकम्।। (सु. नि. 1/63)

चिकित्सा-सूत्र

1. बला तैल का शरीर में अभ्यंग।
2. महाशाल्बण स्वेद—इसकी औषधी को पोटली में बांधकर वातहर तैल से अभ्यंग के बाद सेंक करना चाहिये।
3. वातहर द्रव्यों के क्वाथ को सुखोष्ण कर किसी टब में भरकर उसमें अभ्यंग कराकर रोगी को कुछ समय बैठायें।
4. विरेचन करना चाहिये।

औषध-प्रयोग—

1. बला तैल	4. समीरपन्नग रस	7. क्षीरबला तैल
2. भल्लातकावलेह	5. वातविध्वंस रस	
3. स्वर्णसूतशेखर रस	6. योगराज गुग्गुल	

व्यवस्था-पत्र—

1. प्रात: सायं-मध्याह्न

रसराज-रस	: 500 मि. ग्रा.
मल्लसिन्दूर	: 250 मि. ग्रा.
महायोगराज गुग्गुल	: 1 ग्राम
शृंगभस्म	: 1 ग्राम

3 मात्रा (सिन्दुवार पत्रस्वरस और मधु से आधे घण्टे बाद महारास्नादि क्वाथ 50 मि. ली. पियें)

2. 9 बजे 2 बजे

वातकुलान्तक रस	: 250 मि. ग्रा.
बृहद्वातचिन्तामणि रस	: 250 मि. ग्रा.
समीरपन्नग रस	: 100 मि. ग्रा.

2 मात्रा (आर्द्रक स्वरस और मधु से)

3. भोजनोत्तर अश्वगन्धारिष्ट : 40 मि. ली. = 2 मात्रा बराबर जल से।

नोट—पक्षवधादि वातकर्मक्षय वाले रोगों में भी स्नेहन कराने का विधान है। सामान्य विपरीत गुण वाला होने से स्नेहन कराने से वात का और क्षय होता है।

पथ्य—मधुर, अम्ल, लवण, स्निग्ध द्रव्य।

अपथ्य—जागरण, चिन्तन, श्रम, रूक्ष पदार्थ।

26 छर्दि

मुख से लेकर गुदपर्यन्त एक लम्बा मार्ग है, जिसे महास्रोतस् कहते हैं। इसके दो द्वार हैं, एक मुखद्वार जो प्रवेश द्वार है और दूसरा गुदद्वार या मलद्वार है। मुख के द्वारा गृहीत भोजन जठराग्नि के द्वारा पचकर प्रसाद और मलभाग के रूप में विभक्त हो जाता है। इसमें प्रसादभाग शरीर का पोषण करता है, जबकि मलभाग गुदा द्वारा बहिर्भूत कर दिया जाता है; इसे अनुलोम गमन कहते हैं। लेकिन जब इसके विपरीत किन्हीं कारणों से खाया हुआ भोजन या अन्य पदार्थ अपक्व या अर्द्धपक्वावस्था में मुख के द्वारा बाहर निकलता है तो यह प्रतिलोम गमन है, जिसे छर्दि, वमन या उल्टी कहते हैं।

वमन, वमि, वान्ति, उल्टी, विच्छर्दिका—ये सभी छर्दि के पर्याय हैं। आयुर्वेद शास्त्र में छर्दि रोग पाँच प्रकार का कहा गया है—

1. वातज
2. पित्तज
3. कफज
4. त्रिदोषज
5. आगन्तुज

प्रमुख सन्दर्भ—

चरक संहिता चिकित्सा स्थान-20
सुश्रुत संहिता उत्तरतन्त्र-49
अष्टाङ्गहृदय निदान स्थान-5
अष्टाङ्गहृदय चिकित्सा स्थान-6
माधव निदान-15

निरुक्ति[1]—जो मुखगुहा को आच्छादित या भरपूर कर दे और अंगों को पीड़ित करे, उसे छर्दि कहते हैं। छर्दि शब्द का निर्माण दो धातुओं से हुआ है।

छद अपवारणे[2] और **अर्द हिंसायाम्**—इन दो धातुओं से अक्षर लोप और आगम होकर पृषोदरादिगण से छर्दि शब्द बनता है।

1. छादयन्नाननं वेगैरर्दयन्नङ्गभञ्जनैः।
निरुच्यते छर्दिरिति दोषो वक्त्रं प्रधावितः।। (सु. उ. 49/6)
2. छादयति मुखम्, अर्दयति चाङ्गानीति छर्दिः; 'छद अपवारणे', 'अर्द हिंसायां', अनयोः पृषोदरादित्वेन रूपसिद्धिः। (मा. नि. 15/4)

परिभाषा—अन्ननलिका तथा मुख द्वारा आमाशयगत पदार्थों को वेगपूर्वक बाहर निकालना ही छर्दि है।

छर्दि के भेद[1]—

छर्दि
- वातजा
- पित्तजा
- कफजा
- सन्निपातजा
- आगन्तुजा
  - बीभत्सजा
  - दौर्हृदजा
  - आमजा
  - असात्म्यजा
  - कृमिजा

निदान—

1. **सामान्य**[2]—

(क) भोजन से सम्बन्धित—

- अत्यधिक द्रव आहार का सेवन
- अत्यधिक चिकने पदार्थ खाना
- मन की पसन्द के प्रतिकूल आहार करना
- नमकीन पदार्थों का बहुत सेवन करना
- असमय भोजन करना
- जठराग्नि की पाचन क्षमता से अधिक भोजन करना
- असात्म्य भोजन करना
- अजीर्ण होना

(ख) विहार से सम्बन्धित—

- शीघ्रता से भोजन करना
- अधिक श्रम करना
- भयग्रस्त होना
- उद्वेग होना

(ग) अन्य

- उदर में कृमि होना

1. दोषैः पृथक् त्रिप्रभवाश्चतस्रो द्विष्टार्थयोगादपि पञ्चमी स्यात्। (च. चि. 20/6)
2. अतिद्रवैरतिस्निग्धैरहृद्यैर्लवणैरति।
अकाले चातिमात्रैश्च तथाऽसात्म्यैश्च भोजनैः।।
श्रमात् क्षयात्तथोद्वेगादजीर्णात् क्रिमिदोषतः।
नार्याश्चापन्नसत्त्वायास्तथाऽतिद्रुतमश्नतः।।
अत्यन्तामपरीतस्य छर्देर्वै सम्भवो ध्रुवम्।
बीभत्सैर्हेतुभिश्चान्यैर्द्रुतमुत्क्लेशितो बलात्।। (सु. उ. 49/3-5)

- स्त्री का सगर्भा होना
- शरीर में आमज विकारों का बढ़ जाना
- बीभत्स घृणाजनक दृश्यों को देखना
- मन को पसन्द न आने वाले विविध कारण

2. **विशेष**—

वातज[1]—व्यायाम, तीक्ष्ण औषध सेवन, शोक, जीर्ण रोग, भय, उपवास।

पित्तज[2]—अजीर्ण भोजन, कटुरस सेवन आधिक्य, अम्लरस सेवन, आधिक्य, विदाही पदार्थ सेवन, उष्ण आहार सेवन।

कफज[3]—अति स्निग्ध भोजन, अति गुरु भोजन, आम और विदाही अन्न, दिवास्वप्न।

सन्निपातज[4]—सभी रसों को एकत्रित करके अनुचित रूप में सेवन करना, ऋतु-विपर्यय।

आगन्तुज[5]—मन को अप्रसन्न करने वाले गन्ध, भोजन, अभोज्य पदार्थ, भोजन में मक्खी, कीड़ा आदि का होना।

सम्प्राप्ति—विविध निदान → महास्रोतस्थ वायु की विकृति → आमाशयस्थ दोषों का उत्क्लेश → मुखाच्छादन और अङ्गपीडन → **छर्दि।**

दोष-दूष्य-अधिष्ठान—

दोष—वायु प्रधान

दूष्य—अन्नरस

अधिष्ठान—1. अन्नवह स्रोतस् एवं 2. मनोवह स्रोतस्

पूर्वरूप[6]—

1. हृल्लास
2. उद्गार
3. लवण रसयुक्त एवं तनुप्रसेक
4. अन्नद्वेष

1. व्यायामतीक्ष्णौषधशोकरोगभयोपवासाद्यविकर्शितस्य।। (च. चि. 20/7)
2. अजीर्णकट्वम्लविदाह्यशीतैरामाशये पित्तमुदीर्णवेगम्।। (च. चि. 20/10)
3. स्निग्धातिगुर्वामविदाहिभोज्यैः स्वप्नादिभिश्चैव कफोऽतिवृद्धः। (च. चि. 20/12)
4. समश्नतः सर्वरसान् प्रसक्तमामप्रदोषर्तुविपर्ययैश्च।। (च. चि. 20/14)
5. द्विष्टप्रतीपाशुचिपूत्यमेध्यबीभत्सगन्धाशनदर्शनैश्च।
यश्छर्दयेत्तप्तमना मनोघ्नैर्द्विष्टार्थसंयोगभवा मता सा।। (च. चि. 20/18)
6. हृल्लासोद्गाररोधौ च प्रसेको लवणस्तनुः।
द्वेषोऽन्नपाने च भृशं वमीनां पूर्वलक्षणम्।। (सु. उ. 49/8)

लक्षण

Disease	Features of vomitus	Systemic manifestations
वातज[1]	प्रबल उद्गार शब्द, सफेन कृष्ण वर्ण, कषाय, विच्छिन्न एवं तनु	हृत्पार्श्व पीड़ा, मुखशोष, कास, स्वरभेद, शिर व नाभि में पीड़ा
पित्तज[2]	पीत, हरित, धूमवर्ण, तिक्त रस एवं उष्ण	भ्रम, मूर्च्छा, दाह, तृष्णा
कफज[3]	मधुर, घन, स्निग्ध, श्वेत	तन्द्रा, निद्रा, गौरव, कफप्रसेक, तृप्ति, अरुचि, रोमहर्ष
सन्निपातज[4]	अम्ल, लवण, नील वर्णयुक्त, उष्ण, गाढ़ा, रक्तमिश्रित	अरुचि, शूल, अविपाक, दाह, तृष्णा, श्वासवृद्धि, प्रबल वेग
आगन्तुज[5]	दोषानुसार	दोषानुसार

कृमिज छर्दि के लक्षण[6]—उदर में शूल होना, मिचली होना तथा कृमिज हृद् रोग के लक्षणों का छर्दि के साथ होना, कृमिज छर्दि के लक्षण हैं।

असाध्य छर्दि के लक्षण[7]—जब प्रकुपित हुआ वात दोष मल-मूत्र, स्वेद तथा जलवाही स्रोतों को रोक कर उभड़े हुये दोषों वाले मनुष्य के कोष्ठ से इकट्ठे हुये वातादि दोषों को ऊपर की ओर ले जाता है तो मल-मूत्र के समान गन्ध एवं वर्ण

1. हृत्पार्श्वपीड़ा-मुखशोष-मूर्धनाभ्यर्ति-कास-स्वरभेदतोदैः।
उद्गारशब्दप्रबलं सफेनं विच्छिन्नकृष्णं तनुकं कषायम्।
कृच्छ्रेण चाल्पं महता च वेगेनार्तोऽनिलाच्छर्दयतीह दुःखम्।। (च. चि. 20/8-9)
2. मूर्च्छा-पिपासा-मुखशोष-मूर्धताल्वक्षिसन्ताप-तमो-भ्रमार्तः।
पीतं भृशोष्णं हरितं सतिक्तं धूम्रं च पित्तेन वमेत् सदाहम्।। (च. चि. 20/11)
3. तन्द्रास्यमाधुर्य-कफप्रसेक-सन्तोष-निद्रारुचि-गौरवार्तः।
स्निग्धं घनं स्वादु कफाद्विशुद्धं सरोमहर्षोऽल्परुजं वमेत्तु।। (च. चि. 20/13)
4. शूलाविपाकारुचि-दाह-तृष्णा-श्वास-प्रमोहप्रबला प्रसक्तम्।
छर्दिस्त्रिदोषाल्लवणाम्ल-नील-सान्द्रोष्ण-रक्तं वमतां नृणां स्यात्।। (च. चि. 20/15)
5. बीभत्सजा दौर्हृदजाऽऽमजा च ह्यसात्म्यजा च क्रिमिजा च या हि।
सा पञ्चमी तां च विभावयेच्च दोषोच्छ्रयेणैव यथोक्तमादौ।। (सु. उ. 49/12)
6. शूलहृल्लासबहुला क्रिमिजा च विशेषतः।
क्रिमिहृद्रोगतुल्येन लक्षणेन च लक्षिता।। (सु. उ. 49/13)
7. विट्-स्वेद-मूत्राम्बुवहानि वायुः स्रोतांसि संरुध्य यदोर्ध्वमेति।
उत्सन्नदोषस्य समाचितं तं दोषं समुद्धूय नरस्य कोष्ठात्।।
विण्मूत्रयोस्तत्समगन्धवर्णं तृट्-श्वास-हिक्कार्तियुतं प्रसक्तम्।
प्रच्छर्दयेद्दुष्टमिहातिवेगात्तयाऽर्दितश्चाशु विनाशमेति।। (च. चि. 20/16-17)

से मिला हुआ द्रव्य वेग के साथ मुख से बाहर लगातार निकलता है। इस स्थिति में रोगी की प्यास, श्वास, हिचकी एवं पीड़ा अधिक बढ़ जाती है। इस प्रकार की छर्दि से पीड़ित रोगी शीघ्र ही मर जाते हैं।

छर्दि के उपद्रव[1]—कास, श्वास, ज्वर, हिचकी, प्यास, बेचैनी, हृद्रोग, तमक-श्वास।

चिकित्सा-सूत्र

1. सबसे पहले लंघन, आमपाचन और आमाशयशुद्धि करनी चाहिये; क्योंकि सभी छर्दि रोग आमाशयोत्क्लेश से होते हैं।

2. वातज छर्दि में लंघन नहीं कराना चाहिये; क्योंकि लंघन से रसादि धातुओं के क्षय होने के परिणामस्वरूप वायु का प्रकोप बढ़ जाता है।

3. दुर्बल व्यक्ति को वमन नहीं कराना चाहिये, उन्हें मांस रस एवं लघु तथा शुष्क भोजन देकर संशमन चिकित्सा दें।

4. दीर्घकालीन छर्दि में वायुनाशक, स्तम्भन और बृंहण चिकित्सा करनी चाहिये।

5. विरेचन कराने के लिये 5 ग्राम बड़ी हर्रे का चूर्ण मधु या चीनी से खिलायें।

औषध-प्रयोग—

1. पित्तपापड़ा का क्वाथ चीनी मिलाकर पिलायें।
2. बेल और गुरुच का क्वाथ चीनी डालकर थोड़ा-थोड़ा पिलायें।
3. पुदीने का अर्क पीने से।
4. बड़ी हर्रे का चूर्ण 2-2 ग्राम, 1-1 घण्टे पर मधु से चाटने से वायु का अनुलोमन होकर वमन का शमन होता है।
5. लवंग 7, बड़ी इलायची का छिलका 2 ग्राम, सौंफ 2 ग्राम, 100 ग्राम जल में अर्धावशिष्ट ढककर पकाकर मिश्री मिलाकर पिलायें।
6. बरफ के टुकड़े चूसने से।
7. नारियल का पानी, सौंफ का अर्क, पित्तपापड़े का अर्क थोड़ा-थोड़ा पीने से।
8. नारियल की जटा जलाकर पानी में घोलकर रख दें, निथर जाने पर मिश्री डालकर थोड़ा-थोड़ा पिलायें।

---

1. कास. श्वासो ज्वरो हिक्का तृष्णा वैचित्त्यमेव च।
हृद्रोगस्तमकश्चैव ज्ञेयाश्छर्देरुपद्रवाः॥15॥ (मा. नि. 15/15)

व्यवस्थापत्र (छर्दि)—

1. सूतशेखर रस : 600 मि. ग्रा.
   शृंग भस्म : 600 मि. ग्रा.
   मयूरपिच्छ भस्म : 600 मि. ग्रा.
   3 मात्रा (आर्द्रक स्वरस के साथ दिन में)
2. बृहद्वातचिन्तामणि रस : 600 मि. ग्रा.
   सितोपलादि चूर्ण : 1 मि. ग्रा.
   शृंग भस्म : 600 मि. ग्रा.
   3 मात्रा (नीम्बू के रस के साथ दिन में)
3. दाडिम शार्कर 1 तोला (दिन में 4-5 बार चाटकर)।

27 अम्लपित्त

अम्लपित्त बहुतायत में पाया जाने वाला विगुणित पित्तजन्य जठर रोग है। इस रोग का पूर्ण वर्णन चरक आदि संहिता ग्रन्थों में नहीं आता। चरक संहिता के ग्रहणी चिकित्सा अध्याय में अम्लपित्त के सम्भावना की कल्पना की गई है। केवल काश्यप संहिता में इसका उल्लेख है। माधवकर ने अम्लपित्त का वर्णन एक स्वतन्त्र अध्याय के रूप में किया है।

अम्लपित्त पित्तप्रधान रोग है। वस्तुतः प्राकृत तथा विदग्ध भेद से पित्त दो प्रकार का होता है। सुश्रुत ने प्राकृत पित्त का रस प्रधानतः कटु तथा विदग्ध पित्त का अम्ल बताया है। जब विदग्ध पित्त की वृद्धि हो जाती है तो उसे अम्लपित्त कहते हैं। अम्लपित्त के आहारसम्बन्धी निदान में विरुद्धाहार, दुष्टाहार, विदाही भोजन, पित्तल आहार, मद्यपान, तीक्ष्ण वीर्य औषध का सेवन तथा विहारसम्बन्धी निदान में पित्तल विहार, वर्षा ऋतु, आनूपदेश, वेगावरोध हैं। ऊपर लिखित निदान सेवन से आहार की विदग्धता होकर पित्त की अम्लता का सञ्चय हो जाता है। इससे अविपाक क्लम, उत्क्लेश, तिक्ताम्ल उद्गार जैसे लक्षण उत्पन्न होकर अम्लपित्त रोग हो जाता है। अम्लपित्त गति व दोषसंसर्ग भेद से दो प्रकार का होता है। गतिभेद से ऊर्ध्वग अम्लपित्त व अधोग अम्लपित्त तथा दोषसंसर्ग भेद से वाताधिक, कफाधिक तथा वातकफाधिक अम्लपित्त—तीनों की चिकित्सा के लिये पटोलपत्र, निम्बपत्र तथा मदनफल समभाग क्वाथ बनाकर मधु मिलाकर पीने से वमन कराना चाहिये। निशोथ चूर्ण 4 ग्राम चीनी के साथ या अविपत्तिकर चूर्ण द्वारा विरेचन करवाना चाहिये। आहार में तिक्त भूमिष्ठ आहार तथा दूध सेवन उत्तम है। तीक्ष्ण द्रव्य अहित कर सकते हैं।

प्रमुख सन्दर्भ—

1. माधवनिदान-51
2. चरकसंहिता, चिकित्सा स्थान अध्याय-15 (ग्रहणी चिकित्सा)

निदान[1]

आहारसम्बन्धी	विहारसम्बन्धी	मानसिक
विरुद्धाहार	पित्तल विहार	शोक
दुष्टाहार	वर्षा ऋतु	उद्वेग
विदाही आहार	आनूपदेश	
पित्तल आहार	जलार्द्र वातावरण	
मद्यपान	वेगावरोध	
तीक्ष्ण वीर्य औषध		

सम्प्राप्ति[2]—

निदान सेवन → आहार की विदग्धता → पित्त की अम्लता व सञ्चय → अविपाक, क्लम, उत्क्लेश, तिक्ताम्ल, उद्गार → **अम्लपित्त**

लक्षण[3]—

अम्लपित्त

- कड़वी व खट्टी डकार
- भारीपन
- हृदय प्रदेश व गले में जलन
- अरुचि
- आध्मान
- आन्त्र कूजन
- विड्भेद
- कुक्षि शूल
- अंगों में शक्ति ह्रास
- शिर में व्यथा
- आहार का अविपाक
- क्लम

अम्लपित्त प्रकार—

अम्लपित्त

- गति
  - ऊर्ध्वग
  - अधोग
- दोषसंसर्ग
  - वाताधिक
  - कफाधिक
  - वातकफाधिक

चिकित्सा-सूत्र

1. प्रथम चिकित्सा : निदान परिवर्जन

---

1. परं तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः।
आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते।। (च. चि. 15/9)
2. विरुद्धदुष्टाम्लविदाहिपित्तं प्रकोपिपानान्नभुजो विदग्धम्।
पित्तं स्वहेतूपचितं पुरा यत्तदम्लपित्तं प्रवदन्ति सन्तः।। (मा. नि. 51/1)
3. अविपाकक्लमोत्क्लेशतिक्ताम्लोद्गारगौरवैः।
हृत्कण्ठदाहारुचिभिश्चाम्लपित्तं वदेद्भिषक्।। (मा. नि. 51/2)

2. वमन : पटोलपत्र, निम्बपत्र, मदनफल—समभाग 5-5 ग्राम लेकर क्वाथ बनाकर मधु मिलाकर पीने से

3. विरेचन : (क) निशोथ चूर्ण 4 ग्रा. चीनी के साथ
(ख) अविपत्तिकर चूर्ण (3-4 ग्रा.)

4. दोषशेष के शमनार्थ : सोंठ, अतीस, नागरमोथा के समभाग का 20 ग्राम क्वाथ।

औषध-प्रयोग—

1. चन्दन, लाल चन्दन, नेत्रबाला, खश, विदारी कन्द, शतावर, पित्तपापडा, फालसा, सन्तरा—ये सब पित्त की आम्लता का शमन करते हैं।
2. भोजनपूर्व शीतल जलपान, सज्जीक्षार, मुक्ता, प्रवाल, शंखभस्म, चूने के पानी का प्रयोग।
3. मधुयष्टी 4 ग्राम मधु के साथ (तीन बार)
4. निशोथ चूर्ण रोगी के बलानुसार (3-6 ग्राम)
5. त्रिफला चूर्ण 2-3 बार मधु के साथ
6. आंवला स्वरस 10 ग्राम या चूर्ण 4 ग्राम मधु के साथ
7. मुनक्का मिश्री के साथ
8. नारियल की गिरी को मिश्री के साथ चूसना या नारियल का पानी पीना।

व्यवस्था-पत्र—

1. प्रवाल पञ्चामृत : 300 मि. ग्रा.
अम्लपित्तान्तक लौह : 400 मि. ग्रा.
सूतशेखर रस : 300 मि. ग्रा.
लीलाविलास रस : 500 मि. ग्रा.
मुक्ता शुक्ति भस्म : 500 मि. ग्रा.
सितोपलादि चूर्ण : 3 ग्राम
3 मात्रा (आँवला चूर्ण 1 ग्राम और मधु से 4-4 घण्टे पर दिन में तीन बार बाद में—भूनिम्बादि क्वाथ 25 मि. ली.)

2. नारिकेल खण्ड/कूष्माण्ड खण्ड/आँवले का मुरब्बा 20 ग्रा. गोदुग्ध 100 मि. ली. के साथ (8 बजे सुबह, 4 बजे शाम को)
3. यवानी षाडव 3 ग्रा. (चखकर खाना भोजन के 10 मिनट पूर्व)
4. अविपत्तिकर चूर्ण 6 ग्रा. = 2 मात्रा (जल से भोजन के बाद दो बार)

28 शूल रोग

'शूल रूजायाम्' धातु से 'क' प्रत्यय होकर 'शूल' शब्द बना है। इसलिये सामान्य तौर पर किसी भी प्रकार की वेदना को शूल कहा जाता है। इसके कारण रोगी को शरीर में प्रविष्ट कील या शङ्कु के समान पीड़ा होती है। जैसे शिर के दर्द को शिर:शूल, कान के दर्द को कर्णशूल, नेत्र के दर्द को नेत्रशूल, दाँत के दर्द को दन्तशूल, पसली के शूल को पार्श्वशूल, पीठ के दर्द को पृष्ठशूल, बस्ति के शूल को बस्तिशूल, हृदय के दर्द को हृदयशूल और उदर के शूल को उदरशूल कहा जाता है।

शूल बहुत से रोगों के लक्षण रूप में अथवा उपद्रव के रूप में भी वर्णित है। शूल स्वतन्त्र भी हो सकता है और परतन्त्र भी। स्वतन्त्र शूल वह है, जो किसी रोग के साथ अनुगामी न हो और उपद्रवस्वरूप न हो। परतन्त्र शूल वह है, जो किसी रोग के साथ अनुगामी अथवा उपद्रवस्वरूप होता है।

हारीत संहिता में शूल की उत्पत्ति के बारे में पौराणिक कथा मिलती है—जब तपस्या करते समय अपनी समाधिभङ्ग में उद्यत कामदेव पर कुपित होकर शंकर जी ने त्रिशूल फेंका और उसके भय से त्रस्त कामदेव ने विष्णु के शरीर में छिप कर शरण लिया तब विष्णु के हुँकार द्वारा अपवारित होकर वह त्रिशूल पृथ्वी पर गिरा, उसी से शूल रोग की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार त्रिशूलजनित होने के कारण इसे शूल कहते हैं।

सुश्रुत संहिता उत्तर तन्त्र में गुल्म के उपद्रवरूप में एवं स्वतन्त्र रूप में भी शूलरोग का वर्णन किया है। माधव निदान में शूल का निदान विस्तार से स्वतन्त्र रूप में वर्णित है। काश्यप संहिता खिल स्थान में भी शूल का वर्णन है। चरक संहिता में शूल का स्वतन्त्र रूप में वर्णन नहीं है और अष्टाङ्गहृदय में भी स्वतन्त्र रूप में इसका वर्णन नहीं मिलता।

प्रमुख सन्दर्भ—

1. सुश्रुत संहिता उत्तरतन्त्र 42 (गुल्म प्रतिषेध)
2. माधव निदान (शूल निदान)
3. काश्यपसंहिता-खिल स्थान

रोगी के शरीर में होने वाली किसी भी वेदना विशेष का नाम 'शूल' है। 'शूल' का अर्थ है—'पीड़ा देने वाली'।

निरुक्ति—

1. जिस रोग से रुग्ण व्यक्ति के शरीर में कील, खूँटा, बाण की नोक या किसी नोकदार हथियार के धँसने के समान तीव्र वेदना उत्पन्न होती है, उस रोग को शूल कहा जाता है।[1]

2. शूलविद्ध व्यक्ति की तरह जिस रोग में वेदना की तीव्रता होती है, उस रोग को शूल कहते हैं।[2]

3. इस रोग की उत्पत्ति शूल से हुई है, इसलिये इसे शूल कहा जाता है।[3]

4. शूल धँसाने जैसी पीड़ा के कारण इस रोग को शूल कहा जाता है।[4]

भेद[5]—माधवकर ने 8 प्रकार के शूल रोगों का वर्णन किया है।—

1. वातज　3. कफज　5. वातकफज　7. सन्निपातज
2. पित्तज　4. वात-पित्तज　7. पित्त कफज　8. आमज

माधवकर ने ही पुनः 8 शूलों का वर्णन किया है।

1. वातज परिणामशूल　5. पित्तकफज परिणामशूल
2. पित्तज परिणामशूल　6. वातपित्तज परिणामशूल
3. कफज परिणामशूल　7. सन्निपातज परिणामशूल
4. वातकफज परिणामशूल　8. अन्नद्रव शूल

सुश्रुताचार्य ने 4 दोषज शूलों का वर्णन किया है—

1. वातज　2. पित्तज　3. कफज　4. सन्निपातज

सुश्रुताचार्य ने 7 प्रकार के और शूलरोगों का वर्णन किया है—

1. पार्श्वशूल　3. हृदयशूल　5. मूत्रशूल　7. अविपाकज शूल
2. कुक्षिशूल　4. बस्तिशूल　6. विट्शूल

1. शङ्कुस्फोटनवत्तस्य यस्मात् तीव्राश्च वेदनाः।
शूलासक्तस्य लक्ष्यन्ते तस्माच्छूलमिहोच्यते।। (सु. उ. 42/81)
2. यतश्च तस्मिन् शूलाविद्ध इव व्यथते तीव्रवेदनार्दितं तस्माच्छूलमित्युच्यते। (अ. सं. नि. 11)
3. शूलसम्भवत्वादस्य शूलमिति संज्ञा। (मधुकोष 26/1)
4. शूलनिखातवद्वेदनाजनकत्वात्। (मधुकोष 26/1)
5. दोषैः पृथक् समस्तामद्वन्द्वैः शूलोऽष्टधा भवेत्।
सर्वेष्वेतेषु शूलेषु प्रायेण पवनः प्रभुः।। (मा. नि 26/1)

माधवकर के अनुसार शूलभेद-सारिणी—

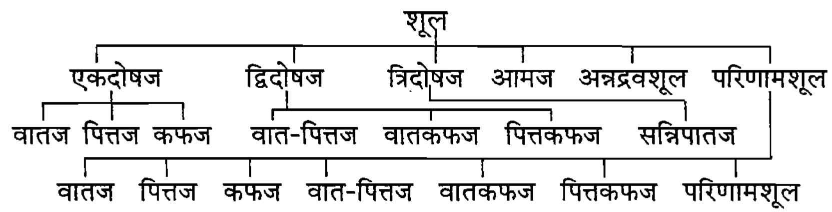

सुश्रुत के अनुसार शूलभेद-सारिणी—

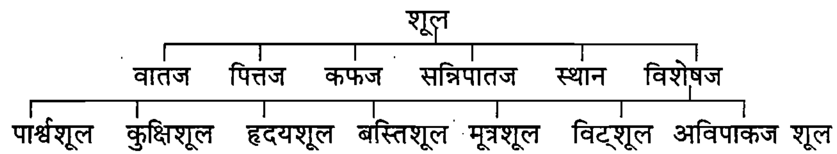

1. वातज शूल

निदान[1]**—**

आहारजन्य निदान—

1. अधिक भोजन करने से
2. अजीर्ण होने से
3. भोजन के बिना पचे पुनः भोजन करने से
4. विरुद्ध भोजन करने से
5. भूख लगने पर अन्न न खाकर मात्र पानी पी लेने से
6. अंकुरित अन्न खाने से
7. सूखे मांस का सेवन करने से।

विहारजन्य निदान—

1. अधोवायु के वेग
2. मूत्र के वेग और
3. मल के वेग को रोकने से।

सम्प्राप्ति[2]**—**

वातप्रकोपक निदान → वायु का प्रकोप → तीव्र शूल।

1-2. वातमूत्रपुरीषाणां निग्रहादतिभोजनात्। अजीर्णाध्यशनायासविरुद्धान्नोपसेवनात्।।
पानीयपानात् क्षुत्काले विरुद्धानाञ्च सेवनात्। पिष्टान्नशुष्कमांसानामुपयोगात्तथैव च।।
एवंविधानां द्रव्याणामन्येषाञ्चोपसेवनात्। वायुः प्रकुपितः कोष्ठे शूलं सञ्जनयेद् भृशम्।।
निरुच्छ्वासी भवेत्तेन वेदनापीडितो नरः। (सु. उ. 42/78-80)

लक्षण[1]—

1. वातज शूल भोजन के पच जाने पर, सायंकाल के समय, वर्षा ऋतु और शीत के समय विशेष रूप से बढ़ जाता है।
2. यह शूल बार-बार घटता-बढ़ता रहता है।
3. मल तथा वायु की रुकावट हो जाती है।
4. सुई चुभने जैसी व्यथा होती है।

2. पित्तज शूल

आहारजन्य निदान[2]—

1. क्षार, अति तीक्ष्ण, उष्ण, विदाही पदार्थ, सेम, तेल, तिल की खली तथा कुलथी का यूष अधिक खाने से।
2. कटु, अम्ल तथा काँजी एवं मद्य का सेवन करने से।

सम्प्राप्ति—

पित्तप्रकोपक निदान → भोजन का विदग्ध पाक → पित्तप्रकोप → नाभि प्रदेश में शूल।

लक्षण—

तृषा, दाह, मोह, पीड़ा, पसीना आना, मूर्च्छा, चक्कर आना और शूल स्थान में चूसने जैसी पीड़ा का होना।

3. कफज शूल

निदान[3]—

1. आनूपदेश के पशु-पक्षियों का तथा जलचर जीवों का मांस खाने से,
2. खोवा, छेना अथवा दूध के बने हुये पदार्थों के खाने से,
3. मांस का अधिक सेवन करने से,
4. गन्ने का रस, उड़द आदि की पिष्टी से बने पदार्थों का सेवन करने से,
5. खिचड़ी, तिल और पूड़ी का अधिकांश सेवन करने से,

---

1. जीर्णे प्रदोषे च घनागमे च शीते च कोपं समुपैति गाढ़म्।
मुहुर्मुहुश्चोपशमप्रकोपौ विड्वातसंस्तम्भनतोदभेदैः।। (मा. नि. 26/4-5)
2. क्षारातितीक्ष्णोष्णविदाहितैलनिष्पावपिण्याककुलत्थयूषैः।
कट्वम्लसौवीरसुराविकारैः क्रोधानलायासरविप्रतापैः।।
ग्राम्यातियोगादशनैर्विदग्धैः पित्तं प्रकुप्याशु करोति शूलम्। (मा. नि. 26/6-7)
3. आनूपवारिजकिलाटपयोविकारैर्मांसेक्षुपिष्टकृशरातिलशष्कुलीभिः।
अन्यैर्बलासजनकैरपि हेतुभिश्च श्लेष्मा प्रकोपमुपगम्य करोति शूलम्।।(मा. नि. 26/9)

सम्प्राप्ति[1]—

कफकारक पदार्थों का सेवन → कफप्रकोप → आमाशय में शूल।

लक्षण—

1. मिचली आना	4. अरुचि	7. शिर में भारीपन
2. खांसी	5. मुख से लार टपकना	
3. अंगों में थकावट	6. कोष्ठबद्धता होना	

द्वन्द्वज शूल के लक्षण[2]—

शूल	लक्षण
1. वात कफज शूल	यह शूल हृदय, पार्श्व तथा पीठ में होता है।
2. कफ पित्तज शूल	यह शूल कुक्षि, हृदय और नाभि के मध्य में होता है।
3. वात पित्तज शूल	1. यह शूल बस्ति और नाभि में भयङ्कर रूप में होता है। 2. इसमें दाह तथा ज्वर भी होता है।

सन्निपातज शूल के लक्षण[3]—

1. इस प्रकार के शूल में सभी प्रकार के लक्षण पाये जाते हैं।
2. यह शूल अत्यन्त कष्टप्रद होता है।
3. इसे विष और बिजली के समान असाध्य माना गया है।

आमज शूल के लक्षण[4]—

1. आवाज़ के साथ पेट फूलना 2. मिचली, वमन आना, लार टपकना 3. शरीर में भारीपन और ऐसा लगना जैसे शरीर को गीले कपड़े में लपेट दिया, 4. विबन्ध।

शूल की साध्यासाध्यता[5]—

एकदोषज शूल : साध्य होता है।

---

1. आनूपवारिजकिलाटपयोविकारैर्मांसेक्षुपिष्टकृशरातिलशष्कुलीभिः।
अन्यैर्बलासजनकैरपि हेतुभिश्च श्लेष्मा प्रकोपमुपगम्य करोति शूलम्।।(मा. नि. 26/9)
2. वस्तौ हृत्पार्श्वपृष्ठेषु सशूलः कफवातिकः।
कुक्षौहृन्नाभिमध्येषु सशूलः कफपैत्तिकः।
दाहज्वरकरो घोरो विज्ञेयः वातपैत्तिकः। (मा. नि. 26/13)
3. सर्वेषु दोषेषु च सर्वलिङ्गं विद्याद्भिषक् सर्वभवं हि शूलम्।
सुकष्टमेनं विषवज्रकल्पं विवर्जनीयं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः।। (मा. नि. 26/11)
4. आटोपहल्लासवमीगुरुत्वस्तैमित्यकानाहकफप्रसेकैः।।
कफस्य लिङ्गेन समानलिङ्गमामोद्भवं शूलमुदाहरन्ति।। (मा. नि. 26/12)
5. एकदोषोत्थितः साध्यः कृच्छ्रसाध्यो द्विदोषजः।
सर्वदोषोत्थितो घोरस्त्वसाध्यो भूर्युपद्रवः।। (मा. नि. 26/14)

द्विदोषज शूल : याप्य होता है।
त्रिदोषज शूल : असाध्य होता है।
↓
(उपद्रवयुक्त भयानक शूल)

शूल के उपद्रव[1]—पीड़ा होना, प्यास लगना, मूर्च्छा, आनाह, शरीर में भारीपन, अरुचि, खाँसी, श्वास और हिचकी—यह शूल के उपद्रव हैं।

परिणाम शूल[2]—रूक्ष आदि स्वप्रकोपक कारणों से प्रकुपित वायु स्थान-विशेष में स्थित होने से भोजन के परिणाम काल (पच्यमानावस्था) में प्रबल होकर कफ और पित्त को आवृत कर शूल उत्पन्न करता है। यह शूल भोजन के पचने के समय होता है, इसीलिये इसे परिणाम शूल (Duodenal ulcer) कहते हैं।

अन्नद्रव शूल[3]—जो शूल भोजन के पच जाने पर या भोजन के पचते समय या भोजन के पूर्व अर्थात् भोजन के बाद एवं अजीर्ण स्थिति में होता है और पथ्य या अपथ्य के सेवन से तथा भोजन कर लेने पर या खाली पेट रहने पर नियम से शान्त नहीं होता, उस शूल को अन्नद्रव शूल कहते हैं।

परिणाम शूल और अन्नद्रव शूल—आपेक्ष निदान

परिणाम शूल (Duodenal ulcer)	**अन्नद्रव शूल** (Gastric ulcer)
1. भोजन के पाचन काल में शूल होता है।	1. भोजन लेते ही शूल होता है।
2. अर्ध रात्रि में तेज़ दर्द होता है।	2. रात्रि में दर्द नहीं होता है।
3. छर्दि और हृल्लास कदाचित होते हैं।	3. छर्दि और हृल्लास होते हैं।
4. शूल उदर के ऊपरी दक्षिण भाग (Right hypochondrium) में होता है।	4. शूल उदर के ऊपरी भाग में मध्य रेखा (Epigastrium) पर होता है।
5. ऋतु-परिवर्तन के अनुसार शूल कम ज्यादा होता है।	5. ऋतु-परिवर्तन का प्रभाव नहीं पड़ता।
6. तनावग्रस्त लोगों में अधिक होता है।	6. श्रम का कार्य करने वाले लोगों में अधिक होता है।
7. रोगी का वजन सामान्य रहता है।	7. रोगी का वज़न कम हो जाता है।
8. रोगी को शूल में कुछ खाने से आराम मिलता है।	8. रोगी को कुछ खाते ही शूल आरम्भ होता है।
9. इस प्रकार का शूल आयु के तीसरे से पाँचवें दशक में अधिक होता है।	9. इस प्रकार का शूल पाँचवें से छठे दशक में अधिक होता है।

2. वेदना च तृषा मूर्च्छा ह्यानाहो गौरवारुची:।
कास: श्वासश्च हिक्का च शूलस्योपद्रवा:।। (मा. नि. 26/15 पर मधुकोष)
3. स्वैर्निदानै: प्रकुपितो वायु: सन्निहितस्तदा स्मृता:।।
कफपित्ते समावृत्य शूलकारी भवेद्बली।
भुक्ते जीर्यति यच्छूलं तदेव परिणामजम्।। (मा. नि. 26/15-16)
4. जीर्णे जीर्यत्यजीर्णे वा यच्छूलमुपजायते।।
पथ्यापथ्यप्रयोगेण भोजनाभोजनेन च। (मा. नि. 26/21)
न शमं याति नियमात् सोऽन्नद्रव उदाहृत:।। (मा. नि. 26/22)
अन्नद्रवाख्यशूलेषु न तावत् स्वास्थ्यमश्नुते।
वान्तमात्रे जरत्पित्तं शूलमाशु व्यपोहति। (मा. नि. 26/1)

चिकित्सा-सूत्र

1. शूल रोग में यदि कफ के कारण उत्क्लेश हो, तो पहले वमन करवाना चाहिये।
2. उष्ण, दीपन व लेखन एवं क्षार द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये।
3. आम की अधिकता होने पर लंघन उत्तम उपचार है।
4. सभी प्रकार के शूलों में पहले वात को जीतने का प्रयत्न करना चाहिये।
5. मलावरोधजन्य शूल होने पर निरूहवस्ति के रूप में साबुन के पानी की वस्ति देनी चाहिये।
6. पैत्तिक शूल में उष्ण आहार-विहार तथा उष्ण औषध त्याज्य है।

व्यवस्थापत्र (वातज शूल)—

1. 3-3 घण्टे पर 4 बार
समुद्रादि चूर्ण : 1-2 ग्राम
सर्जिक्षार : 1 ग्राम
4 मात्रा (सुखोष्ण जल से)

2. भोजन के प्रथम ग्रास में दोनों समय हिंग्वाष्टक चूर्ण : 6 ग्राम = 2 मात्रा (घी मिलाकर खाना)
3. भोजनोत्तर 2 बार कुमार्यासव : 2 मि. ली. समान जल मिलाकर 2 मात्रा
4. 4-5 बार : शूलवज्रिणी वटी 2-2 गोली या लवणभास्कर चूर्ण = 1-1 ग्राम
5. विबन्ध होने पर रात में सोते समय : पञ्चसकार चूर्ण : 6 ग्राम = 1 मात्रा (गरम जल से)

व्यवस्थापत्र (पैत्तिक शूल)—

1. 3-3 घण्टे पर 4 बार

शूलवज्रिणी वटी	: 1 ग्राम
धात्रीलौह	: 2 ग्राम
क्षार राज	: 4 ग्राम
	4 मात्रा

2. भोजन के पूर्व 2 बार : यवानी षडव चूर्ण : 4 ग्राम = 2 मात्रा (बिना अनुपान)
3 भोजनोत्तर 2 बार : धात्र्यरिष्ट चम्मच, समान जल से पीना
4. रात में सोते समय अविपत्तिकर चूर्ण : 4 ग्राम, दूध से 1 मात्रा

व्यवस्थापत्र (कफज शूल)—

1. 4-4 घण्टे पर 3 बार : शूलवज्रिणी वटी 1-1/2 ग्राम : 3 मात्रा (चित्रकादि क्वाथ से)
2. भोजन के पूर्व 2 बार : हिङ्ग्वादि वटी : 2-2 गोली, चूसकर खाना
3. भोजनोत्तर 2 बार समुद्रादि चूर्ण : 8 ग्राम, जल से 2 मात्रा
4. रात में सोते समय षट्सकार चूर्ण, 6 ग्राम गरम जल से।

29 उदर रोग

प्रकृति में उदर शब्द एक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, इससे उत्सेधयुक्त सम्पूर्ण उदर रोगों का ग्रहण किया जाता है। आजकल इसे औदरिक वृद्धि (Generalised abdominal enlargement) कह सकते हैं। औदरिक उत्सेध के निम्न मुख्य कारण हैं—

1. मेदोवृद्धि (Fat)
2. वायु (Gases of flatus)
3. मल (Faeces)
4. जल (Fluid)
5. उदरस्थ अंगों की वृद्धि—
   (क) बस्तिवृद्धि
   (ख) गर्भाशय वृद्धि
   (ग) बीजकोश
   (घ) यकृत् और प्लीहा

इन सबकी वृद्धि से सम्पूर्ण उदर फूला हुआ दिखाई देता है। शरीर में सम्पूर्ण रोग विशेषत: उदररोग अग्नि के मन्द होने पर अजीर्ण से, गन्दे अन्न से तथा मल के सञ्चय से उत्पन्न होते हैं। चरक के अनुसार उदर रोगों के तीन विशेष कारण मन्दाग्नि, दोषों का अधिक सञ्चय एवं पापकर्म है। मन्दाग्नि तथा दोषों का अधिक सञ्चय अन्योन्याश्रित है। इससे सञ्चित हुये दोष स्वेदवाही तथा जलवाही स्रोतों का अवरोध कर कई प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न करते हैं। इसके सामान्य लक्षण आध्मान, चलने-फिरने में असमर्थता, दुर्बलता, मन्दाग्नि, वायु और मल का अवरोध आदि हैं।

प्रमुख सन्दर्भ—

1. च. सू. 19
2. च. चि. 13
3. वा. नि. 12
4. मा. नि. 35
5. सु. नि. 7

निदान[1]—

1. अत्युष्ण-लवण-क्षार-विदाही-अम्ल-गुरु पदार्थ
2. रूक्ष-विरुद्ध-अपवित्र आहार
3. पञ्चकर्म विभ्रम तथा संसर्जन क्रम विभ्रम
4. विष

1. अत्युष्णलवणक्षारविदाह्यम्लगराशनात्।
मिथ्यासंसर्जनाद्रूक्षविरुद्धाशुचिभोजनात्।। (च. चि. 13/12)

5. वेगधारण, संक्षोभ, दोषसंचय
6. प्लीहा, अर्श, ग्रहणी दोष, आन्त्र का फटना
7. मलमूत्रवह स्रोतों का दुष्ट होना
8. पापकर्म

सामान्य सम्प्राप्ति[1]—निदान → दोषप्रकोप → महास्रोतस् व अन्य स्रोतस् अवरोध → दोष उदर में आश्रय → उदरोत्सेध → **उदर रोग।**

सामान्य पूर्वरूप[2]—

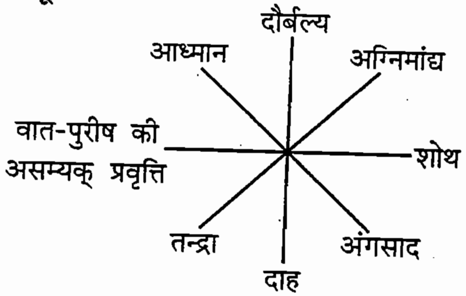

सामान्य लक्षण[3]—

1. आध्मान 3. शोथ 5. तन्द्रा
2. मन्दाग्नि 4. अंगमर्द

निदान-सम्प्राप्ति—

वातोदर—रूक्ष, अल्प भोजन → आयास लंघन इत्यादि → वातप्रकोप → वात, कुक्षि, हृदय, बस्ति, गुदमार्ग बाधा → मन्दाग्नि → कफ स्थानच्युत → अधिक वायु अवरोध → वायु उदर में संचित।

पित्तोदर—कटु-अम्ल-लवण अति उष्ण, तीक्ष्ण अग्नि अल्प सेवन → अजीर्णाशन, अध्यशन → पित्त प्रकोप → अन्य दोष प्रकोप → उदर में स्थान संचित।

कफोदर—स्वादु अति स्निग्ध, अति पिच्छिल आहार → अव्यायाम, दिवा-स्वप्न → दही, दूध, मांस सेवन → कफप्रकोप → कफ अन्य मार्गों का अवरोध कारक → अन्य दोष प्रकोप → वात-कफ को क्षुब्ध कर।

1. अग्निदोषान्मनुष्याणां रोगसंघा: पृथग्विधा:।
मलवृद्ध्या प्रवर्तन्ते विशेषेणोदराणि तु।। (च. चि. 13/9)
2. आतन्यते च जठरमपि लघ्वल्पभोजनात्।
राजीजन्म वलीनाश इति लिङ्गं भविष्यताम्।। (च. चि. 13/19)
3. कुक्षेराध्मानमाटोप: शोफ: पादकरस्य च।
मन्दोऽग्नि: श्लक्ष्णगण्डत्वं कार्श्यं चोदरलक्षणम्।। (च. चि. 13/21)

सन्निपातोदर—मन्दाग्नि → विरोधी भोजन → तीनों दोष प्रकुपित → उदर में स्थान संश्रय।

यकृदाल्युदर—भोजनोत्तर अति संक्षोभ → अधिक व्यायाम → अधिक चलना → रस, रक्त वृद्धि → वामपार्श्व स्थित प्लीहा और दक्षिण पार्श्व स्थित यकृत् स्थान से च्युत → आमाशय व आन्त्र में।

बद्ध गुदोदर—उदवर्त → अर्श → आन्त्र सम्मूर्च्छन → अवरोध → अपान वायु प्रकोप → मन्दाग्नि → गुदा अवरोध।

क्षतोदर—पत्थर → काष्ठ → अस्थि का अन्न में जाने से → आन्त्रों का भेदन → तीव्र शूल → त्वचा मांस आभ्यन्तर स्राव एकत्रित।

जलोदर—स्नेहपान → अनुवासन → विरेचन के बाद शीतल जल का सेवन → उदकवह स्रोतोदुष्टि निदान → अग्निमांद्य → आम → आम + कफ → पिच्छिल कफ → उदकवह स्रोतों में स्थान संश्रय → संग स्रोत दुष्टि → उदर के त्वचा और मांस के बीच विमार्ग गमन।

लक्षण

वातोदर[1]—

- उदावर्त
- अंगमर्द
- पर्वभेद
- अरोचक
- अविपाक
- वातपुरीष की अप्रवृति
- आध्मान
- उदरशूल

पित्तोदर[2]—

- दाह, ज्वर
- तृष्णा, मूर्च्छा, भ्रम
- कटुकास्यता
- उष्माधिक्य
- उदरशूल
- उदर स्पर्श में मृदु

कफोदर[3]—

- गौरव
- अरुचि
- अविपाक
- अंगमर्द
- उत्क्लेश
- निद्रा, कास
- उदर गुरु, स्थिर, कठिन

1. तत्र वातोदरे शोथ: पाणिपानाभिकुक्षिषु।
कुक्षिपार्श्वोदरकटी-पृष्ठरुक्पर्वभेदनम्।। (च. चि. 13/22)
2. पित्तोदरे ज्वरे मूर्च्छा दाहस्तृट् कटुकास्यता।
भ्रमोऽतिसार: पीतत्वं त्वगादावुदर ईरित:।। (अ. हृ. 12/16)
3. उदरं स्तिमितं स्निग्धं शुक्लराजीततं महत्।
चिराभिवृद्धं कठिनं शीतस्पर्शं गुरु स्थिरम्।। (अ. हृ. 12/19)

सन्निपातोदर[1]—

- वातज-पित्तज-कफज तीनों के लक्षण

यकृदाल्युदर[2] **प्लीहोदर**—

- दौर्बल्य
- अरोचक
- पर्वभेद
- मूत्र-पुरीष अप्रवृत्ति
- शूल
- उदर पर नील-हरित वर्ण सिरानाल

बद्ध गुदोदर[3]—

- मल-मूत्र अवरोध
- अरोचक
- छर्दि
- आध्मान
- तृष्णा, दाह
- दौर्बल्य
- उदर स्थिर नाभि के ऊपर गोपुच्छवत् आकृति का बनना

क्षतोदर[4]—

- तीव्र शूल
- उदर में स्पर्शासहत्व
- हिक्का, श्वास
- तृष्णा, कास, मोह
- अरोचक
- अविपाक, दौर्बल्य उदरोत्सेध

जलोदर[5]—

- उदरोत्सेध
- अरुचि
- तृषा
- श्वासकष्ट
- पाण्डु
- दौर्बल्य

---

1. स्त्रियोऽन्नपानं नखलोममूत्रविडार्तवैर्युक्तमसाधुवृत्ताः।
यस्मै प्रयच्छन्त्यरयो गरांश्च दुष्टाम्बुदूषीविषसेवनाद्वा।। (सु. नि. 7/11)
2. विदाह्यभिष्यन्दिरतस्य जन्तोः प्रदुष्टमत्यर्थमसृक् कफश्च।
प्लीहाभिवृद्धिं कुरुतः प्रवृद्धौ प्लीहोत्थमेतज्जठरं वदन्ति।। (सु. नि. 7/15)
सव्येतरस्मिन् यकृति प्रदुष्टे ज्ञेयं यकृद्दाल्युदरं तदेव। (सु. नि. 7/16)
3. यस्यान्त्रमन्नैरुपलेपिभिर्वा बालाश्मभिर्वा पिहितं यथावत्।
संचीयते तस्य मलः सदोषः क्रमेण नाड्यामिव संकरो हि।। (सु. नि. 7/17)
4. शल्यं यदन्नोपहितं तदन्त्रं भिनत्ति यस्यागतमन्यथा वा।
तस्मात्स्रुतोऽन्त्रात्सलिलप्रकाशः स्रावः स्रवेद्वै गुदतस्तु भूयः।। (सु. नि. 7/19)
5. स्नेहोपलिप्तेष्वथवाऽपि तेषु दकोदरं पूर्ववदभ्युपैति।
स्निग्धं महत्सम्परिवृत्तनाभि भृशोन्नतं पूर्णमिवाम्बुना च।। (सु. नि. 7/23)

चिकित्सा-सूत्र

वातोदर—

- विरेचन
- वातघ्न अम्लद्रव्यों से साधित एरण्ड तैल अनुवासन बस्ति
- दशमूल क्वाथ
- मांसरस घृत यूष का प्रयोग

पित्तोदर—

- विरेचन
- क्षीरबस्ति
- शूलशमनार्थ
- पित्तज शूल के समान चिकित्सा

कफोदर—

- स्नेहन
- स्वेदन
- वमन
- कटु तथा क्षारयुक्त अन्न से संसर्जन कर्म
- आरोग्यवर्धिनी
- वज्रक्षार का प्रयोग

सन्निपातोदर—

- सुवर्ण वसन्तमालती रस
- कुमार्यासव
- भल्लातकासव का प्रयोग लाभदायक

यकृदाल्युदर प्लीहोदर—

- स्नेहन
- स्वेदन
- अनुवासन
- निरूहबस्ति
- वामवाहु से सिरावेध से रक्तमोक्षण
- यकृत् व प्लीहा में अग्निकर्म

बद्धगुद उदर—

- अनुवासनपूर्वक
- निरूह बस्ति
- वातघ्न चिकित्सा
- विबन्धघ्न चिकित्सा

जलोदर—

- सर्वप्रथम शस्त्रकर्म से उदक का निर्हरण
- एकत्रित जल को निकालने का प्रयत्न
- विरेचन मूत्रल औषधी
- आहार में दूध प्रयोग

सामान्य औषधि—

1. ताम्रभस्म	3. कुमारी	5. गोमूत्र	7. पुनर्नवा
2. इन्द्रवारुणी	4. भल्लातक	6. शिलाजतु	8. हरीतकी

पथ्य—

1. कुलत्थ	5. पुनर्नवा
2. मुद्गयूष	6. शिगरु
3. शालिधान्य	7. दुग्ध
4. पटोल	8. जांगल पशु-पक्षियों का मांस

अपथ्य—

1. अत्यम्बुपान	3. दिवास्वप्न
2. गुरु-अभिष्यन्दि भोजन	4. व्यायाम

उदावर्त, आनाह, आध्मान, आटोप

उदावर्त—इसका अर्थ है—'उत्' ऊपर की ओर का विपरीत आवर्त अर्थात् घुमाव होना ही उदावर्त है। जिस ओर अपानवायु को जाना चाहिये, उस ओर को न जाने देना वायु के वेग को रोकना कहा जायेगा। इस वेग को रोकने से ही वायु का वेग ऊपर की ओर जाता है, इसी को उदावर्त कहते हैं।

उदावर्त की निरुक्ति—अधारणीय वेगों को धारण करने से जो उसका मार्ग-परिवर्तन हो गया है अर्थात् जो प्रतिकूल मार्ग की ओर प्रवृत्त हो गया है, उसी को उदावर्त कहते हैं। दूसरे विद्वान् अधोवायु की ऊर्ध्वगति हो जाने को ही उदावर्त कहते हैं; किन्तु यह परिभाषा उचित नहीं है, क्योंकि अश्रुस्राव आदि में इस परिभाषा की अव्याप्ति हो जायेगी। अश्रुस्राव में वायु की प्रतिलोम गति नहीं होती। इसका समर्थन 'छत्रिणो यान्ति' इस न्याय से कर लेना चाहिये। इसका अर्थ है—छाता वाले जा रहे हैं अर्थात् यदि उसमें एकाध बिना छाता वाला जा रहा हो तो उसे भी उसी के समान समझ लेना चाहिये।

निदान[1]—अपानवायु, मल-मूत्र, जृम्भा (जँभाई), आँसू, छींक, उद्गार, वमन,

1. वात-विण्मूत्र-जृम्भाऽश्रु-क्षवोद्गारवमीन्द्रियैः। (सु. उ. 55/4)
क्षुत्तृष्णोच्छ्वास-निद्राणां धृत्योदावर्तसम्भवः। (सु. उ. 55/5)

इन्द्रिय (शुक्र), भूख, प्यास, श्वास-उच्छ्वास क्रिया तथा निद्रा—इनके स्वाभाविक वेगों को रोकने के कारण उदावर्तरोग की उत्पत्ति होती है।

उदावर्त-भेद

चरक ने सूत्रस्थान में उदावर्तों की संख्या केवल छः कही है—

1. वातनिरोधज	4. शुक्रनिरोधज
2. मूत्रनिरोधज	5. छर्दिनिरोधज
3. पुरीषनिरोधज	6. क्षवथुनिरोधज

शेष सात उदावर्तों का समावेश वातज उदावर्त में ही कर लिया गया है।

सुश्रुत ने तेरह प्रकार के उदावर्त माने हैं[1]।

प्रमुख सन्दर्भ—

1. सुश्रुत संहिता उत्तर तन्त्र-55,57
2. चरक संहिता सूत्र स्थान-7
3. माधव निदान-उदावर्त आनाह निदान
4. सुश्रुत संहिता निदान स्थान-1

उदावर्त के सामान्य लक्षण—जिस रोग में वायु का घुमाव नीचे से ऊपर की ओर हो जाता है, उस रोग को चिकित्सक उदावर्त कहते हैं। इस रोग में वात दोष की प्रधानता होती है।

1. **वातज उदावर्त के लक्षण**—अपानवायु के वेग को रोकने से अपान वायु, मूत्र, पुरीष—ये सब रुक जाते हैं। अफारा (पेट का फूलना), सुस्ती, पेट में पीड़ा तथा अन्य वातविकारों की भी उत्पत्ति हो जाती है।

2. **मलावरोधज उदावर्त के लक्षण**—मल (पुरीष) के वेग को रोकने के कारण पेट में गुड़गुड़ाहट, शूल (वेदना), गुदप्रदेश में परिकर्तिका (कैंची से काटने के जैसी पीड़ा), मलप्रवृत्ति में रुकावट, डकारों का आना, अधिक प्रकोप होने पर मुख से मल भी निकलने लगता है।

3. **मूत्रनिरोधज उदावर्त के लक्षण**—मूत्र के वेग को रोकने से बस्तिप्रदेश (मूत्राशय) तथा मूत्रेन्द्रिय में पीड़ा होने लगती है। मूत्र कठिनता से निकल पाता है, सिर में पीड़ा होती है, पीड़ा के कारण रोगी आगे की ओर को झुकता है तथा वंक्षणों में जकड़न, ये लक्षण होते हैं।

4. **जृम्भोपघातज उदावर्त के लक्षण**—जम्भाई के वेग को रोकने से मन्या-

1. त्रयोदशविधश्चासौ भिन्न एतैस्तु कारणैः। (सु. उ. 55/6)

स्तम्भ, ग्रीवास्तम्भ, शिरोविकार तथा वातज विकार हो जाते हैं। आँख, नाक एवं मुख रोगों के साथ कर्णरोग भी हो जाते हैं।

5. **अश्रूदावर्त के लक्षण**—आँसुओं के वेग को रोकने से होने वाले उदावर्त में आनन्द अथवा शोक के कारण आँखों में आ रहे आँसुओं को रोकने से सिर में भारीपन, पीनस और इसके साथ-साथ महान् कष्टदायक नेत्ररोग भी हो जाते हैं।

6. **छिक्कोदावर्त के लक्षण**—छींक के वेग को रोकने से होने वाले उदावर्त रोग में मन्यास्तम्भ, शिर:शूल, अर्दित, अर्धावभेदक तथा ज्ञानेन्द्रियों में कमजोरी आ जाती है।

7. **उद्गारनिरोधज उदावर्त के लक्षण**—डकार के वेग रोकने से कण्ठ तथा मुख में भारीपन की अनुभूति होना, अधिक वेदना, आन्त्रकूजन, श्वास की गति में रुकावट तथा और भी कष्टदायक वातविकार हो जाते हैं।

8. **छर्दिनिरोधज उदावर्त के लक्षण**—छर्दि का वेग रोकने से खुजली, शरीर पर चकत्तों का होना, भोजन के प्रति अरुचि, व्यंग, सूजन, पाण्डुरोग, ज्वर, कुष्ठ, विसर्प तथा जी मिचलाना—ये लक्षण होते हैं।

9. **शुक्रनिरोधज उदावर्त के लक्षण**—शुक्र के वेग को रोकने से उत्पन्न होने वाले उदावर्त में मूत्राशय, गुदप्रदेश तथा अण्डकोष में शोथ और पीड़ा होती है। मूत्र-प्रवृत्ति में रुकावट आ जाती है तथा और भी शुक्रसम्बन्धी अनेक विकार हो जाते हैं।

10. **क्षुधानिरोधज उदावर्त के लक्षण**—भूख के वेग रोकने से होने वाले उदावर्त में तन्द्रा, अंगों में पीड़ा, अरुचि तथा दृष्टि मन्द पड़ जाती है।

11. **तृष्णानिरोधज उदावर्त के लक्षण**—तृष्णा के वेग को रोकने से उत्पन्न उदावर्त रोग में गला तथा मुख सूख जाता है, कानों में बहरापन तथा हृदय में पीड़ा होती है।

12. **श्वासनिरोधज उदावर्त के लक्षण**—व्यायाम आदि परिश्रम वाले कार्य को करने से बढ़े हुए श्वास के वेग को रोकने के कारण उत्पन्न उदावर्त में हृदयरोग, मूर्च्छा तथा गुल्म हो जाता है।

13. **निद्रानिरोधज उदावर्त के लक्षण**—निद्रा के वेग को रोकने के कारण उत्पन्न उदावर्त में जँभाई का आना, अंगों में पीड़ा, नेत्रों तथा सिर में भारीपन और तन्द्रा—ये लक्षण होते हैं।

उदावर्त की सम्प्राप्ति—उक्त कारणों से कुपित हुआ वातदोष वायु, मल-मूत्र, रक्त, कफ तथा मेदोधातु का वहन करने वाले स्रोतों की स्वाभाविक गति को विपरीत करके मल को सुखा देता है। उसके बाद रोगी हृदयशूल, जी मिचलाना तथा बेचैनी से पीड़ित होकर अपान वायु, मल एवं मूत्र का त्याग कष्ट के साथ करता है।

तत्पश्चात् श्वास, कास, प्रतिश्याय, जलन, मोह, प्यास लगना, ज्वर, वमन, हिचकी, शिरोरोग, मन की अस्थिरता, श्रवणशक्ति की कमी और इसी प्रकार के अनेक वात-दोषों को प्रकुपित हो जाने के कारण उत्पन्न होने वाले वातविकारों को उत्पन्न कर देता है।

अधारणीय वेग धारण—वातप्रकोप—मल, मूत्र, रक्त, कफ तथा मेदो धातु वहन करने वाले स्रोतस्।

स्वाभाविक गति विपरीत → मलों का सूखना → मार्गावरोध → वात की विपरीत गति → **उदावर्त**।

उदावर्त के असाध्य लक्षण—तृष्णा से पीड़ित, अतिशय शिथिल अर्थात् कार्य करने में सर्वथा असमर्थ, बल तथा मांस से क्षीण, शूल से पीड़ित एवं मल का वमन आदि।

चिकित्सा-सिद्धान्त

वातानुलोमन चिकित्सा—स्नेहन, स्वेदन, लेखन, विरेचन, गुदवर्ति (Suppositories) अभ्यंग, अंजन, नस्य आदि।

व्यवस्थापत्र—

1. नाराचरस या इच्छाभेदी रस : 1 गोली प्रात:-सायं उष्ण जल से
2. शिवाक्षार पाचन चूर्ण : 3 ग्राम तीन मात्रा भोजनोत्तर उष्ण जल से
3. द्राक्षारिष्ट : 30 मि. ली.
   अभयारिष्ट : 30 मि. ली. भोजनोत्तर समान जल से

आनाह

आङ् उपसर्गपूर्वक 'णह्' बन्धने धातु से आनाह शब्द की सिद्धि होती है।

आनाहस्तु विबन्धः स्यात्। (अमरकोश-2/6/55)

जिस रोग में ऊर्ध्व और अध: या उभय मार्ग से मल एवं वायु की प्रवृत्ति न हो, उदर में गुड़गुड़ शब्द भी न हो, उसे आनाह कहते हैं[1]। इस अवस्था में पूर्णतया अवरोध रहता है। मल का निस्सरण सर्वथा अवरुद्ध हो जाता है। वायु का निर्गमन, अपान वायु अथवा उद्गार (डकार) किसी भी रूप में नहीं होता।

आध्मान में भी यद्यपि यही अवस्था होती है तथापि वह बिना किसी मलसञ्चय के भी हो सकता है; जबकि इसमें मलसञ्चय होना अनिवार्य है।

सुश्रुतानुसार आनाह रोग भी विसूचिका के समान विकृत वातजन्य होने से, विसूचिका-तुल्य ही चिकित्सा होने से तथा विसूचिका का उपद्रवस्वरूप होने से विसूचिका प्रकरण में ही आनाह का वर्णन किया गया है।

1. आसमन्तान्नधते बध्यतेवरुध्यते वा मलस्य वायोश्च मार्गो यस्मिन् रोगे स आनाह:।

कुछ आचार्यों के मतानुसार यह सामान्य विबंध की स्थिति है।

प्रमुख संदर्भ—

1. सुश्रुतसंहिता उत्तर तन्त्र 57 (विसूचिका प्रतिषेध आनाह)
2. माधवनिदान 27 (उदावर्त आनाह निदानम्)
3. सुश्रुतसंहिता, निदान 1 (वातव्याधि निदान)

निदान—आमोत्पादक हेतु

भेद—आनाह दूष्य तथा अधिष्ठानभेद से दो प्रकार का होता है।

1. आमाशयोत्थ (आमज) 2. पक्वाशयोत्थ (पुरीषज)

लक्षण—

आमज[1]	पुरीषज[2]
1. तृष्णा	1. कटि पृष्ठ स्तम्भ
2. प्रतिश्याय	2. मल-मूत्रावरोध
3. शिरोविदाह	3. कटिपृष्ठशूल
4. आमाशयशूल	4. मूर्च्छा
5. शरीर में भारीपन	5. पुरीष का वमन
6. हृदयस्तम्भ	6. श्वास
7. हृल्लास	7. अलसक

सम्प्राप्ति[3]—

आमरस में पुरीष → आमाशय में आमरस व पक्वाशय में पुरीष → संचय → विगुणित वात द्वारा आम व पुरीष का अवरोध → आम व पुरीष का अपने प्राकृत मार्ग से निर्हरण न होना → **आनाह।**

चिकित्सा-सूत्र

आमज आनाह चिकित्सा-सूत्र—

1. आम दोषजन्य अथवा अविपक्व अन्न रसजन्य आनाह में रोगी को सर्वप्रथम वमन करावें।

---

1. तस्मिन् भवन्त्यामसमुद्भवे तु तृष्णाप्रतिश्यायशिरोविदाहा:।
आमाशये शूलमथो गुरुत्वं हृलास उद्गारविघातनञ्च।। (सु. उ. 56/21)
2. स्तम्भ: कटी पृष्ठपुरीषमूत्रे, शूलोऽथ मूर्च्छा स शकृद्वमेच्च।
श्वासश्च पक्वाशयजे भवन्ति तथाऽलसोक्तानि च लक्षणानि।। (सु. उ. 56/22)
3. आमं शकृद्वा निचितं क्रमेण भूयो विबद्धं विगुणानिलेन।
प्रवर्तमानं न यथास्वमेनं, विकारमानाहमुदाहरन्ति।। (सु. उ. 56/20)

2. वमनोपरान्त जब भूख लगने लगे तो पिप्पल्यादि गण की दीपनीय औषध में पकाये जल से सिद्ध पेया, विलेपी, यवागू खाने को देना चाहिए।

औषध-प्रयोग—औषध-प्रयोग से पूर्व स्नेहन, स्वेदन, नस्य, अभ्यंग आदि का प्रयोग कर वात तथा आमदोष को पचाने तथा गतिशील करने का प्रयत्न करें। आम पाचक वातानुलोमन औषध द्रव्यों का प्रयोग करें।

व्यवस्था-पत्र—

1. हिंग्वाष्टक चूर्ण: 2 ग्राम
शंखभस्म : 250 मि. ग्रा.
सर्जिकाक्षार : 500 मि.ग्रा.
4-6 बार (दिन में सुखोष्ण जल से)
2. रसोन वटी : चूसनार्थ दिन में कई बार।
3. द्राक्षासव : 25 मि. ली. = 2 मात्रा समान जल से, भोजनोपरान्त।
4. रात्रि में : आरोग्यवर्धिनी वटी = 500 मि. ग्रा. उष्ण जल से।

पुरीषज आनाह चिकित्सा-सूत्र

1. वातावरोध को दूर करें।
2. यदि मुखमार्ग से मल आवे तो चिकित्सा न करें।
3. पुरीषजानाह में स्वेदन, अभ्यंग, अञ्जन, नस्य, पाचनौषधियों का प्रयोग फलवर्ति विरेचन देना चाहिए।
4. उदर पर स्वेदनोपरान्त आस्थापन बस्ति दें।
5. उदरलेप, गुदवर्ति का प्रयोग कर मलावरोध हटावें।

औषधि—

1. आसवारिष्ट-प्रयोग।
2. अमलतास, निशोथ, जयपाल, एरण्ड, गोमूत्र का प्रयोग।
3. आस्थापन बस्ति।
4. फलवर्ति, हिंग्वादि वटी, आगारधूमादि वर्ति, रामठादि वर्ति।
5. चूर्ण—हिंग्वादि चूर्ण, वचा चूर्ण, पंच सकार चूर्ण, नाराच चूर्ण, नारायण चूर्ण आदि।
6. लेप—दारूषट्कलेप अथवा हिंगु और अजवायन सम भाग मिलाकर उदर पर लेप करना।

व्यवस्था पत्र—

1. हिंगूग्रगन्धादि चूर्ण : 3 ग्राम
   हरीतक्यादि चूर्ण : 2 ग्राम
   1×4 बार (सुखोष्ण जल से)
2. हिंग्वाष्टक चूर्ण : 3 ग्राम, भोजन के प्रथम ग्रास के साथ
3. अभयारिष्ट : 25 मि. ली., सम भाग जल से भोजनोत्तर
4. नाराच चूर्ण : 10 ग्राम अथवा इच्छाभेदी रस-2 गोली, रात्रि में जल के साथ
5. चित्रकादि वटी : 1 ग्राम-4 बार चूसनार्थ भोजन से पहले

पथ्य—यव की रोटी, मूंग, अदरक, सैंधव, जीरा, लहसुन आदि।

अपथ्य—उड़द, माष, चना, राजमा, मैदा इत्यादि।

आध्मान

आध्मान भी उदावर्त तथा आनाह से मिलती-जुलती स्थिति है। पित्त के क्षय के कारण आहार का ठीक से पाचन न होने के कारण तथा प्रकुपित वायु के निरोध से भयंकर रूप से वात का सञ्चय होना ही आध्मान है।

इसे Generalised tympanitis कहा जा सकता है तथा यह रोग पुरीषज आनाह से साम्य रखता है।

साटोपमत्युग्ररूजमाध्यमातमुदरं भृशम्।
आध्मानमिति तं विद्याद्धोरं वातनिरोधजम्।।
(सु. नि. 1/88)

कुपित हुई वायु के संग के कारण आटोप के साथ अत्यधिक पीड़ायुक्त पक्वाश्य में शोथमय वात का सञ्चय होना ही आध्मान कहलाता है।

चिकित्सा-सूत्र

1. सञ्चित हुए मल एवं वात का अनुलोमक औषध द्वारा निर्हरण करावें।
2. पक्वाशय की शिथिलता को दूर करने हेतु चेष्टा करावें।
3. सुखोष्ण पोटली से पेट पर स्वेदन करें।
4. उदर का स्वेदन, अभ्यंग, लेप, गुदवर्ति तथा आस्थापन बस्ति का प्रयोग करें।

औषध-प्रयोग—

1. हिंग्वाष्टक चूर्ण
2. लवणभास्कर चूर्ण
3. व्योषादि वटी
4. एरण्ड पाक
5. सुखविरेचनी वटी
6. शिवाक्षारपाचन चूर्ण
7. नारायण चूर्ण
8. चित्रकादि वटी
9. एरण्डसप्तक क्वाथ

व्यवस्था-पत्र—

1. हिंगूग्रगन्धादि चूर्ण : 3 ग्राम = 3 मात्रा, उष्ण जल से, भोजनोपरान्त
2. व्योषादि वटी/लहसुन वटी चूसनार्थ
3. कुमार्यासव/द्राक्षारिष्ट/अभयारिष्ट : 25 मि.ली. =2 मात्रा, समभाग, जल से, भोजनोपरान्त
3. रात्रि में पथ्यादि चूर्ण : 4 ग्राम
   पंचसकार चूर्ण : 4 ग्राम (उष्णोदक से)

प्रत्याध्मान

सुश्रुत ने इस रोग का वर्णन वातरोगनिदान अध्याय में आध्मान के बाद किया है। यह आमाशय में वायु के सञ्चय से उत्पन्न होने वाला रोग है, जो कि आमज आनाह से साम्य रखता है। इसे Cardia achalasia or Gastro tympanitis भी कह सकते हैं।

विमुक्तपार्श्वहृदयं तदेवामाशयोत्थितम्।
प्रत्याध्मानं विजानीयात् कफव्याकुलितानिलम्।।
(सु.नि. 1/89)

यदि कफ और वायु के विकार से उदर के ऊपरी भाग आमाशय में आटोप (गुड़गुड़ाहट) तथा पीड़ायुक्त वात का सञ्चय हो, परन्तु पार्श्व एवं हृदय पीड़ा से मुक्त हो तो इसे प्रत्याध्मान कहते हैं।

चिकित्सा-सूत्र

यह रोग आनाह रोग से साम्य रखता है। अत: प्रत्याध्मान का चिकित्सा सूत्र तथा शोधन-प्रक्रिया आनाह की तरह ही होती है।

व्यवस्था-पत्र—

1. अग्नितुण्डी वटी : 250 मि.ग्रा.
   रससिन्दूर : 250 मि.ग्रा.
   त्रयोदशाङ्ग गुग्गुल : 2 वटी
   चित्रकादि वटी : 2 वटी
   2 मात्रा उष्णोदक से
2. भोजन के प्रथम ग्रास के साथ : हिंग्वाष्टक चूर्ण 3 ग्राम = 2 मात्रा (घृत से)
3. लहसुनादि वटी : 2 गोली
   हिंगूग्रगन्धादि चूर्ण : 3 ग्राम
   2 मात्रा, उष्ण जल से, भोजनोपरान्त
4. रात्रि में : पंचसकार चूर्ण = 3 ग्राम (उष्णोदक से)
5. लेप : दारूषट्क लेप

सापेक्ष निदान—

आमजानाह	पुरीषजानाह
1. आमाशयोत्थ	1. पक्वाशयोत्थ
2. दोष-आम, वात	2. दोष-वात
3. साम, मलसंचय अनिवार्य	3. मलसंचय अनिवार्य
4.	4. कटि-पृष्ठस्तम्भ, शूल, मल, मूत्रावरोध, पुरीष वमन, श्वास, अलसक के लक्षण
5. वात निरोध अनिवार्य नहीं	5. ....
6. Pyloric obstructions	6. Intestinal obstruction

प्रत्याध्मान	आध्मान
1. आमाशयोत्थ	1. पक्वाशयोत्थ
2. कफावृत वायु-दोष	2. दोष-वात, दूष्य-मल, अपान वायु
3. मलसंचय अनिवार्य नहीं	3. मलसंचय अनिवार्य नहीं
4. उदर में आटोप, अत्यधिक पीड़ा	4. कटिपृष्ठस्तम्भ आवश्यक
5. वातनिरोध	5. वातनिरोध
6. Gastro tympanitis	6. General tympanitis

आटोप

आटोपो गुड़गुड़ाहटशब्दः प्रोक्तो जठरसम्भवः। (भावप्रकाश)

जठर में गुड़गुड़ाहट होना ही आटोप है। आटोप में मलप्रवृत्ति होते रहने पर भी उदर में गुड़गुड़ाहट होती रहती है। उदर का फूलना एक सामान्य लक्षण है। जब मल-मूत्र के अवरोध के साथ होता है तो उसे आनाह कहते हैं। परन्तु मलप्रवृत्ति होने पर भी वायवीय पदार्थों की उत्पत्ति के कारण उदर में फुलाव के साथ गुड़गुड़ाहट आना आध्मान है। अत: आटोप का वर्णन एक लक्षण के रूप में आया है।

आटोप के 2 अर्थ माने गए हैं—

1. **आटोपश्चलचनम्** इति गयदास:।
2. **आटोप: गुड़गुड़ाहटशब्द:** इति कार्तिक:।

आटोप के जनक कारणों में वातव्याधि के सभी निदान हैं, परन्तु विशेषत: कोहड़ा, कटहल, बड़हल, उड़द की दाल, मटर का सत्तू इत्यादि आटोप उत्पन्न करते हैं।

चिकित्सा—

1. आनाह के चिकित्सा सूत्र में वातानुलोमन उपचार प्रमुख है।

2. स्नेहन, स्वेदन, दीपन, पाचन, मद्य, आसव, अरिष्ट, हींग, लहसुन, अदरक का प्रयोग श्रेयस्कर है।

औषध प्रयोग—इसमें अजीर्णाधिकार की औषधि का प्रयोग करना चाहिए।

1. हिंग्वादि चूर्ण 3. रसोनवटी 5. हिंग्वादि वटी
2. लवणभास्कर चूर्ण 4. हिंग्वाष्टक चूर्ण 6. चित्रकादि वटी

गुल्म

अहितकर आहार-विहार से प्रकुपित वातादि दोष कोष्ठ के भीतर पाँच प्रकार के गुल्मों को उत्पन्न कर देते हैं। यह गुल्म दोनों पसलियों के भीतर, हृदय में, नाभि तथा बस्ति में रहने वाला पाँच प्रकार का होता है।

रक्तज रोगों के लिए, उसमें भी विशेषकर शल्य चिकित्सा-साध्य रोगों के लिए चिकित्सा क्षेत्र में सुश्रुत का विशेष स्थान है। अर्थात् शरीर में शिथिलता, अग्नि में मन्दता, आध्मान, आंतों में गुड़गुड़ाहट, मल-मूत्र तथा अपान वायु के निकलने में रुकावट, भरपूर भोजन करने पर शरीर में कष्ट होना, अन्न के प्रति द्वेष तथा वायु का ऊर्ध्वगामी होना—ये लक्षण होते हैं।

कुछ आचार्य गुल्म को आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार Abdominal tumour समझते हैं। यह सामान्यत: दो प्रकार का होता है—

1. सामान्य (Benign)
2. मारक (Malignant)

सामान्य के अनेक भेद होते हैं।

जैसे—लाईपोमा, जन्थोमा, काण्ड्रोमा, ओस्टियोमा, मायोमा, माइलोमा आदि।

यह मायोमा अनेक अनैच्छिक मांसतन्तुओं से बना होता है। यह उन अंगों में अधिक रूप में पाया जाता है, जहाँ मांससूत्र पाये जाते हैं। आमाशय, आन्त्र-प्रदेश तथा गर्भाशय आदि स्थानों में यह Tumour पाया जाता हैं। इनके सामान्य प्रकार हैं—1. Sarcoma 2. Cancer

अब तक गुल्म के मायोमा तथा कैंसर के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, वह गुल्म के लक्षणों से मिलता-जुलता है। यह स्पर्श करने पर गोलाकार प्रतीत होता है। इसके कारण पेट में आध्मान होता है, मल-प्रवृत्ति में इससे रुकावट भी आती है।

प्रमुख संदर्भ—

चरक चिकित्सा—5 अष्टांगहृदय निदान—11
सुश्रुत उत्तर तन्त्र—42 माधवनिदान—20

गुल्म की निरुक्ति—गुडद्यते 'गुड़ वेष्टने' रक्षणे बाहुलकान्मक्। अर्थात् 'गुड वेष्टने' धातु में मक् प्रत्यय करके और ड के स्थान पर म रखकर गुल्म शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसका अर्थ बांधना होता है। गुल्मरोग पिण्डाकार होने के कारण गुल्म कहा जाता है।

गुल्म के कारण—1. मल, कफ, पित्त—इनके अधिक मात्रा में निकल जाने से अथवा उनके अधिक बढ़ने के कारण शरीर में अधिक पीड़ा होने से, 2. किसी भी प्रकार के बाहरी आघात लगने से, 3. अत्यधिक दबाव पड़ने से, 4. रूखे अन्न-पान का अधिक मात्रा में सेवन करने से, 5. शोक से, 6. वमन-विरेचन आदि चिकित्सा क्रम का विपरीत क्रम से सेवन करने से अथवा 7. शारीरिक अन्य चेष्टाओं का विषम रूप से या अधिक मात्रा में सेवन करने से चेष्टा कोष्ठ में वायु कुपित हो जाती है।

गुल्म के पूर्वरूप[1]—

1. उद्गार की अधिकता
2. पुरीषबन्ध
3. आँतों में गुड़गुड़ाहट
4. आटोप
5. आध्मान
6. बिना खाए हुए भी पेट का भरा हुआ-सा प्रतीत होना
7. कार्यक्षमता में कमी
8. पाचन शक्ति की कमी

गुल्म रोग के सामान्य लक्षण[2]—

1. अरुचि
2. मल-मूत्र तथा अपानवायु का कष्ट से निकलना
3. वात की गति का ऊपर की ओर होना
4. आँतों में गुड़गुड़ाहट
5. आनाह

वातज गुल्म के लक्षण—

1. गुल्म के स्थान, स्वरूप तथा पीड़ा में परिवर्तन होता रहता है।
2. मल तथा अपान वायु के निकलने में रुकावट।

1. उद्गारबाहुल्य-पुरीषबन्धतृप्त्यक्षमत्वान्त्रविकूजनानि।
आटोप आध्मानमपक्तिशक्तिरासन्नगुल्मस्य वदन्ति चिह्नम्।। (अ. हृ. नि. 11/63)

2. अरुचिः कृच्छ्रविण्मूत्रवातताऽन्त्रविकूजनम्।
आनाहश्चोर्ध्ववातत्वं सर्वगुल्मेषु लक्षयेत्।। (मा.नि. 28/5)

3. गले और मुख का सूखना।
4. त्वचा का वर्ण लाल या काला हो जाना।
5. शीतपूर्वक ज्वर का बना रहना।
6. हृदय, पेट, पसलियों, कन्धों और सिर में पीड़ा होना।
7. भोजन के पचने पर रोग का अधिक प्रकोप होना।
8. कुछ खा लेने पर इसके कारण उत्पन्न पीड़ा का शान्त हो जाना।

पित्तज गुल्म के लक्षण—

1. ज्वर।
2. प्यास लगना।
3. चेहरे तथा मुख पर लालिमा।
4. भोजन के पचते समय शूल बढ़ जाना।
5. पसीना।
6. दाह।
7. गुल्म स्थान को छूने से व्रण के समान कष्ट का अनुभव होना।

कफज गुल्म का लक्षण—

1. शरीर में गीलापन।
2. शीत ज्वर।
3. अंगों में शिथिलता।
4. जी मिचलाना।
5. कास।
6. अरुचि।
7. भारीपन।
8. सर्दी का अनुभव।

द्वन्द्वज गुल्म के लक्षण—गुल्म रोग में दो-दो परस्पर विपरीत दोषों के निदान और लक्षणों को तथा वातादि दोषों के बलाबल को देखकर मिश्रित लक्षणों वाले तीनों प्रकार के द्वन्द्वज गुल्मों की चिकित्सा करने से पहले निर्णय कर लेना चाहिए।

सान्निपातिक गुल्म के लक्षण—

1. अत्यन्त पीड़ा का होना।
2. सम्पूर्ण शरीर में जलन।
3. पत्थर के समान कठोर तथा ऊँचा।
4. अधिक दाहयुक्त।
5. अत्यन्त भयावह।
6. मानसिक, शारीरिक एवं पाचक अग्नि के बल को घटाने वाला त्रिदोषज गुल्म असाध्य होता है।

रक्तज गुल्म के कारण[1]—

1. जो नवप्रसूता स्त्री अहितकर आहार करती है अथवा जिस स्त्री का गर्भस्राव हुआ हो, उसके अपथ्य सेवन करने से अथवा ऋतुकाल में अपथ्य आहार करने से।

2. दाह

3. पीड़ा का अनुभव

इस प्रकार रक्तज गुल्म पित्तज गुल्म के समान लक्षणों वाला होता है।

गुल्म की सम्प्राप्ति—

प्रधानत: वातप्रकोपक आहार-विहार

वात का स्वतन्त्र या परतन्त्र प्रकोप

पक्वाशय में आमाशय या पच्यमानाशय में

उदर के ऊर्ध्व, मध्य, अध: या दोनों पार्श्व में पिण्डित होकर व्याप्त प्रदेश को पीड़ित करना → **गुल्म की उत्पत्ति।**

गुल्म के प्रकार—

1. वातज गुल्म
2. पित्तज गुल्म
3. कफज गुल्म
4. त्रिदोषज गुल्म
5. रक्तज गुल्म

इनमें से भी रक्तज गुल्म के दो प्रकार हैं—

1. रक्तज गुल्म कहने से स्त्रियों में होने वाला गुल्म ही समझा जाता है।

2. आघातादि कारणों से शरीर के बाह्य अथवा आभ्यन्तर भागों में रक्तस्राव होकर जो त्वचा आदि के आवरण में रक्त-संचय होता है, सम्भवत: प्राचीनों ने इसे धातुज रक्तज गुल्म माना है।

गुल्म की चिकित्सा (गुल्म की चिकित्सा के एकादश सूत्र[2])—

1. स्नेहन 2. स्वेदन 3. निरूह 4. अनुवासन 5. विरेचन 6. वमन 7. लंघन 8. बृंहण 9. शमन 10. रक्तमोक्षण 11. अग्निकर्म

1. नवप्रसूताऽहितभोजना या या चामगर्भं विसृजेदृतौ वा।
वायुर्हि तस्या: परिगृह्य रक्तं करोति गुल्मं सरुजं सदाहम्।।
पैत्तस्य लिङ्गेन समानलिङ्गं विशेषणं चाप्यपरं निबोध।। (सु. उ. 42/13-14)

2. स्नेहनं स्वेदनं चैव निरूहमनुवासनम्।
विरेकवमने चोभे लङ्घनं बृहणं तथा।
शमनं चावसेकं च शोणितस्याग्निकर्म च।
कारयेदिति गुल्मानां यथारम्भं चिकित्सितम्।। (भैषज्यरत्नावली)
तथैव सेकावगाहप्रदेहाभ्यङ्गभोजनम्।
शिशिरोदकपूर्णानां भाजनानाञ्च धारणम्।
वमनोन्मर्दनस्वेदलंघनक्षपणक्रिया:।। (सु. उ. 42/73-74)

व्यवस्था-पत्र—

1. प्रात:काल सात बजे हिंगुसौवर्चलादि घृत 20 ग्राम (50 ग्राम गर्म दूध में मिलाकर पीयें)।

2. प्रात:काल आठ बजे व सायं पाँच बजे

शूलवज्रिणी वटी	: 4 गोली
गुल्मकालानल रस	: 1/2 ग्राम
सर्जिकाक्षार	: 1 ग्रामा
	1 × 2 (जल से)

3. भोजन के प्रथम ग्रास में दोनों समय हिंग्वाष्टक चूर्ण 6 ग्राम = 1 × 2 मात्रा (घी मिलाकर)।

4. भोजनोत्तर कुमार्यासव 50 ग्राम = 1 × 2 मात्रा (समान जल से)।

5. रात्रि में पंचसकार चूर्ण 5 ग्राम = 1 मात्रा (गर्म जल से)।

पथ्य—एक वर्ष पुराने अगहनी चावल, जौं, गेहूँ का दलिया, अरहर या मूँग की दाल का यूष, कुलत्थ का यूष, पपीता, बथुआ, पतली मूली, बैंगन, सहिजन की फली, सूरण, जांगल पशु-पक्षियों का मांस, लहसुन, अदरक, कागजी निम्बू, हींग, सोंठ, मरिच, अजवायन, जीरा, मंगरैल, आँवला, पुदीना, गाय या बकरी का दूध या मट्ठा, उष्ण, लघु, अग्निप्रदीपक और वातानुलोमन आहार गुल्मों में पथ्य है।

अपथ्य—वातप्रकोप आहार, विरुद्ध भोजन, शुष्क मांस, मटर, सेम, रूक्षान्न, अरबी आदि कन्द, शाक, शुष्क शाक, अधिक शीतल जल पीना तथा अधोवायु के वेग को रोकना, रात्रि-जागरण, अधिक परिश्रम, अधिक मैथुन, वमन कराना और अधारणीय वेगों को धारण करना अपथ्य है।

अर्श

अर्श शब्द की निरुक्ति—अरिवत् प्राणान् शृणाति हिनस्ति इति अर्श: अर्थात् जो मांसकील गुदमार्ग में रुकावट पैदा करके मनुष्यों को शत्रु की भाँति पीड़ा पहुंचा कर मृत्यु के समान कष्ट देते हैं, उन्हें अर्श कहते हैं।

अर्श अधिमांसज विकार हैं। ये मांस में अधिष्ठित होकर मांसवृद्धि के रूप में उत्पन्न होते हैं। गुदा की सिरायें फूल जाती हैं और उसी सूजन को अर्श कहते हैं। सिराओं की मध्य दीवार मांसतन्तुओं से बनी होती है। मल को जब बाहर निकालने के लिए प्रवाहण की क्रिया में जोर लगाना पड़ता है या मलशुष्क होता है तो दबाव

पड़ने पर मांसतन्तुओं से बनी दीवार के कमजोर होने के कारण सिराओं के अग्रभाग में रक्त का संचय होने से वह फूल जाती है, वही अर्श है।

आचार्य चरक ने गुदवलियों में होने वाले मस्से या अंकुर को अर्श माना है। कुछ विद्वानों ने गुदवलि के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी अर्श माना है, जैसे शिश्न (मूत्रेन्द्रिय), योनि, गला, मुख, नासिका, कान, नेत्रों के वर्त्म (पतले) और त्वचा आदि में उत्पन्न होने वाले मांसांकुर भी अर्श कहलाते हैं। अर्श एक महागद है एवं सर्व-शरीर कष्टकर त्रिदोषज रोग है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार अर्श का अंकुर शिराओं के फूलने से बनता है। इन शिराओं को ऊर्ध्व अर्शोरक्तवाहिनियाँ (Superior haemorrhoidal vessels) तथा निम्न अर्शोरक्तवाहिनियाँ (Inferior heamorrhoidal vassels) कहा जाता है।

Superior hamemorrhoidal vessels—अन्त: अर्शों (Internal piles) को उत्पन्न करती है।

Inferior heamorrhoidal vessels—बाहरी अर्शों (External piles) को उत्पन्न करती है।

अन्दर के अर्श का प्रत्येक अंकुर एक शुद्धरक्तवाहिनी का प्रान्तभाग अशुद्ध रक्तवाहिनियों के गुच्छे से घिरा हुआ तथा संयोजक तन्तुओं (Connective tissues) से बंधा रहता है, जिस पर अन्त:कला का आवरण चढ़ा रहता है।

बाहरी अर्शों के मध्य में एक फूली हुई शिरा होती है, जिसके चारो ओर त्वचा के नीचे स्थित तन्तु (Subcutaneous tissue) रहते हैं। ये अर्शों से ढके रहते हैं।

अर्शोंकुर या गुदांकुर (Piles or Haemorrhoids)—गुदग्रीवा में श्लेष्मक कला तथा कुछ मांस के मुड़ जाने से ऊपर-नीचे की ओर 6-7 स्तम्भ (Rectal columns of morgagni) बन जाते हैं, जिनमें से प्रत्येक में एक धमनी और एक शिरा होती है। गुदग्रीवा की इन शिराओं में कोई एक गुच्छा रक्त के भर जाने से फूल जाए तो उस उभार या अंकुर को अर्श (Piles) कहते हैं। यह अंकुर आभ्यन्तर (Internal) और बाह्य (Extrenal) भेद से दो प्रकार का होता है। गुदग्रीवा के ऊपरी भाग की शिराओं के फूलने से जो अंकुर बनते हैं और जो मृदु श्लेष्मकला से ढके रहते हैं, वे आभ्यन्तर अंकुर (अर्श) कहे जाते हैं। गुदग्रीवा के निचले भाग में स्थित शिराओं से बने हुए अंकुर जो श्लेष्मकला से कम और त्वचा से अधिक ढके होते हैं, उन्हें बाह्यांकुर कहते हैं। आभ्यन्तर अंकुर प्रधानत: तीन स्थानों पर पाये जाते हैं—

1. गुदचक्र के वामभाग पर। (7'o Clock)

2. गुदचक्र के आगे दाहिनी ओर तथा। (3 'o' Clock)
3. गुदचक्र के पीछे की ओर। (11'o' Clock)

प्रमुख सन्दर्भ—

1. चरक चिकित्सा—14
2. अष्टांगहृदय निदान—7
3. अष्टांगहृदय चिकित्सा—8
4. सुश्रुत सूत्र—33
5. सुश्रुत निदान—2
6. सुश्रुत चिकित्सा—6
7. माधवनिदान—5 (अर्शोनिदानम्)

अर्श के निदान—

सामान्य निदान

- निज
  - अतिसार
  - ग्रहणी
  - अग्निमांद्य
  - शुक्रशोणित की प्रारम्भिक विकृति
  - पूर्वजन्मकृत कर्म
  - मलसंचय
  - ज्वर, गुल्म, अतिसार, आमातिसार, ग्रहणीशोथ या पाण्डु रोग के प्रभाव से प्रकुपित अपान वायु
- आगन्तुज
  - आहारजन्य — कृशताकारक
  - विहारजन्य
    1. अत्यधिक मैथुन
    2. घोड़ा ऊंट की क्षोभजनक सवारी
    3. कठिन आसन पर बैठना
    4. ऊबड़-खाबड़ जमीन पर बैठना
    5. उत्कट आसन में बैठना
    6. आघातजन्य गुदवलि पर बस्ति यन्त्र के नेत्र, पत्थर, ढेला, जमीन, वस्त्र की रगड़ होने से
    7. गुदवलि पर अतिशय शीतल जल स्पर्श
    8. अधिक काँखना
    9. अपान वायु, मूत्र, पुरीष वेगधारण अथवा जबर-दस्ती वेग प्रवृत्त करना
    10. विषम चेष्टाएँ
    11. गर्भ का गुदवलियों पर प्रभाव पड़ने से
  - मानस — आमगर्भ गिरने से

विशिष्ट निदान—

1. वातज—

1. कषाय, कटु, तिक्त, रूक्ष, शीत, लघु गुणयुक्त पदार्थों का सेवन।
2. अत्यल्प तथा समय बीतने पर भोजन।
3. तीक्ष्ण मद्यसेवन।
4. अति मैथुन।
5. उपवास।
6. शीतल प्रदेश में वास।
7. अधिक व्यायाम।
8. शोक।
9. धूप + वायु का सीधा स्पर्श।

2. पित्तज—

1. कटु, अम्ल, लवण, उष्ण पदार्थों का सेवन।
2. व्यायाम, अग्नि, धूपसेवन।
3. उष्ण देश, ऋतु।
4. क्रोध, मद्यपान, ईर्ष्या।
5. विदाही, तीक्ष्ण उष्ण गुणयुक्त अन्नपान + औषध सेवन।

3. कफज—

1. मधुर, स्निग्ध, शीतल, नमकीन अम्ल और गुरु गुणयुक्त पदार्थों का सेवन।
2. व्यायाम त्याग।
3. दिवाशयन।
4. मुलायम आसन या बिस्तर पर बैठना/सोना।
5. पूर्वी वायु सेवन।
6. शीतल देश काल।
7. चिन्ता से रहित होना।

4. त्रिदोषज अर्श के निदान—

5. सहज अर्श के निदान—गुदवलि का निर्माण करने वाले गर्भोत्पादक बीज से एक देश की विकृति उत्तर गुद और अधर गुद की उत्पत्ति मातृ बीज से होती है। अत: मातृ बीज के गुदनिर्मापक अंश की विकृति ही सहज अर्श का निदान है।

6. रक्तार्श के निदान—पित्तार्श का निदान ही रक्तार्श का निदान है।

तत्र हेतुः सहोत्थानां ब्द्रालिबीजोपतप्तता।
(अ. हृ. नि. 7/6) (अन्य सन्दर्भ—च. चि. 14/5, च. शा. 2/16)

अर्श के भेद—

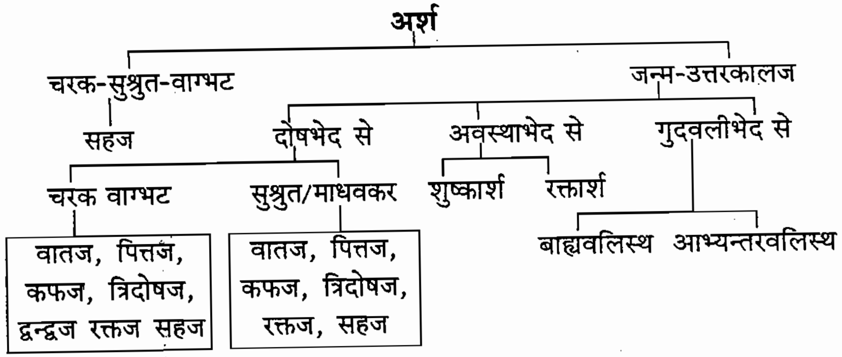

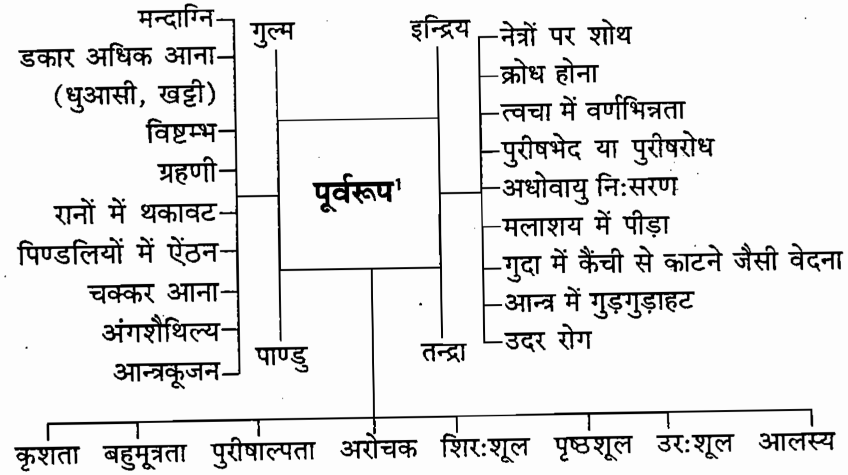

अर्श के सामान्य लक्षण—

1. रोगी उत्साहहीन—दीन, क्षीण, कान्तिहीन, अष्टसारहीन।
2. ज्वर
3. स्वरक्षीणता
4. स्वरभंग
5. बार-बार थूकना

---

1. विष्टम्भोऽन्नस्य दौर्बल्यं कुक्षेराटोप एव च।
काश्यर्मुद्गारबाहुल्यं सक्थिसादोऽल्पविट्कता।।
ग्रहणीदोषपाण्ड्वर्तेराशङ्का चोदरस्य च।
पूर्वरूपाणि निर्दिष्टान्यर्शसामभिवृद्धये।। (च. चि. 14/21-22)

- मर्म पीड़ायुक्त
- कास
- प्यास
- मुखवैरस्य
- श्वास
- इन्द्रियशक्तिहीन
- अंगमर्द
- वमन
- छींक आना
- भोजन के प्रति अरुचि
- अस्थि, हृदय, नाभि, गुद तथा वंक्षण में वेदना
- गुदा से चावल के धोवन जैसी पिच्छा
- पुरीष कभी बंधा कभी ढीला
- कभी सूखा कभी गीला
- कभी कच्चा कभी पक्का
- कभी श्वेत कभी लाल
- कभी हरा कभी पीला
- पिच्छिल

आधुनिक चिकित्सा वैज्ञानिकों के अनुसार निम्नांकित लक्षण होते हैं—

1. मल के अन्दर रक्त की उपस्थिति।
2. मलत्याग के समय पीड़ा, जो मलत्याग के बाद भी कुछ देर तक बनी रहती है।
3. कोष्ठबद्धता या कब्जियत।
4. गुद के चारो ओर लालिमा।

स्थानिक लक्षण—इसमें मलावरोध, विष्टम्भ, आटोप, मन्दाग्नि, उद्गार बाहुल्य, गुदपरिकर्तन, रक्तस्राव, वेदना आदि।

सार्वदेहिक लक्षण—रक्तस्रावजन्यद्र रक्ताल्पता, पाण्डु रोग का प्रादुर्भाव, आंतों में मल का सड़ना, मलप्रभावज तन्द्रा, कास, श्वास, हृदयद्रव, दुर्बलता, शिरोवेदना, क्षीणता।

अर्श के विशिष्ट लक्षण—

वातज

सार्वदेहिक लक्षण—

1. शिर, पार्श्व, अंस, कटि, ऊरु, वंक्षण में पीड़ा
2. छींक
3. डकार
4. विष्टम्भ
5. हृदयरोग
6. अरुचि
7. कास
8. श्वास
9. विषमाग्नि
10. कर्णनाद
11. भ्रम
12. गुल्म
13. प्लीहोदर
14. अष्ठीला, त्वचा, नख, मुख, नेत्र मूत्र एवं मल में कालापन

मल के लक्षण—

1. गाँठदार
2. अल्प

3. फेनिल
4. पिच्छिल
5. बँधा हुआ
6. काँखने पर पीड़ा से स्रवित होने वाला

पित्तज

सार्वदेहिक लक्षण—

1. दाह
2. पाक
3. ज्वर
4. स्वेद
5. तृष्णा
6. मूर्च्छा
7. अरुचि
8. मोह
9. त्वचा, नख, मुख, मूत्र, पुरीष हरे, पीले, हारिद्रवर्ण के

मल के लक्षण—

1. द्रव
2. उष्ण
3. नील, पीत, रक्त वर्ण
4. आमयुक्त

कफज

सार्वदेहिक लक्षण—

1. वंक्षण प्रदेश में जकड़न
2. गुदा, मूत्राशय, नाभि में पीड़ा
3. श्वास, कास
4. मिचली
5. लालाप्रसेक
6. अरुचि
7. पीनस
8. मूत्रकृच्छ्र
9. शिर में भारीपन
10. नपुंसकता
11. अग्निमांद्य
12. वमन
13. त्वचा, नख, मुख, मूत्र, मल पाण्डु वर्ण तथा स्निग्ध (चिकने)

मल के लक्षण—वसा और कफ जैसा मल प्रवाहण करने पर।

रक्तार्श के लक्षण—

सार्वदेहिक—रोगी का वर्ण मेढ़क जैसा पीला, रक्तदाहजनित कष्ट, आँखें पीली पड़ना, सर्वाङ्गशोथ, श्वासकष्ट, हृदयगति तीव्र, मूर्च्छा, भय, तन्द्रा, भ्रम, बेचैनी, चिड़चिड़ापन, निद्रानाश, मानसिक अवसाद, निर्बलता, उत्साहहीनता आदि।

मल—गाढ़ा पुरीष (पित्तार्श में पतला-भेदक लक्षण)

सहज अर्श—

1. कृशकाय, अल्पाहारी, उभरी हुई सिराओं वाला, क्षीणवीर्य, क्षीणस्वर, क्रोधी, मन्दाग्नि वाला, अल्प प्राण, परम आलसी, नासिका, शिर, नेत्र और कान के रोगों से पीड़ित, गुड़गुड़ाहट, हृदयरोग, अरुचि। (सु. नि. 2/16)

दोषज अर्शों का स्वरूप—

वातज अर्श—इसके मस्से सूखे, मलिन, सांवले या लाल वर्ण के, कड़े, खुरदरे, कर्कोटक (खेखसा) के फल के समान सूक्ष्म कंटकों से ढके हुए, वक्र, तीखे, विभिन्न आकृति वाले बिम्बीफल (शिवलिङ्गी के फल), खजूर, बेर, या कपास के फल जैसे तथा कोई-कोई कदम्ब के फूल के समान कण्टक वाले या सरसों के बीज जैसे होते हैं।

पित्तज अर्श—इसके मस्से नीले मुखाग्र वाले, लाल, पीले या काले रंग के होते हैं। ये मस्से दुर्गन्धयुक्त, पतले, मुलायम और लटके हुए होते हैं। ये बनावट में सुग्गे की जीभ के समान और वर्ण के यकृत खण्ड या जोंक के मुख के समान होते हैं।

कफज अर्श—ये मस्से मोटे मूल वाले, घने, मन्द पीड़ा वाले, श्वेत वर्ण के, उठे हुए, स्थूल, चिकने, कठोर, गोल, वजन, स्थिर, पिच्छिल (चिप-चिपे), निश्चल, श्लक्ष्ण और प्रियस्पर्शी होते हैं। ये गाय के स्तन के समान होते हैं।

गुदवलित्रय का वर्णन—स्थूलान्त्र से सम्बन्धित 4.5 अङ्गुल परिमित भाग को गुद कहते हैं। इसमें तीन वलियाँ आधे-आधे अङ्गुल के अन्तराल में स्थित हैं।

- प्रवाहिणी
- विसर्जनी
- संवरणी

संकुचित अवस्था में यह 4-4 अङ्गुल मोटी होती है। ये तीनों वलियाँ वास्तव में उस स्थान में रहने वाली मांसपेशियाँ हैं, जो गुदभाग का इच्छानुसार संकोच एवं विकास करती हैं।

इनका कार्यकलाप—

प्रवाहणी—मल को बाहर ढकेलने का प्रयत्न करती हैं।

विर्सजनी—उसी वली द्वारा प्रवाहित मल का विर्सजन क्रिया में सहायता करती हैं।

संवरणी—यह वलि उस मल को रोके रखने का प्रयत्न करती है तथा गुदौष्ठ उस मल को तब तब रोके रहता है जब तक मानव मलत्याग करने के लिए नहीं बैठ जाता।

सुश्रुतानुसार उक्त तीन वलियाँ मिलकर चार अङ्गुल लम्बी एक अङ्गुल टेढी उभरी हुई एवं शंख के घुमावदार आवर्त की तरह एक के ऊपर एक रहती हैं। इनका रंग हाथी के तालु के समान कुछ काला-लाल होता है। इस चार अङ्गुल के स्थान में जो सिरायें होती हैं, उन्हीं में अर्श होता है।

सम्प्राप्ति—स्वप्रकोपक कारणों से अपान वायु वृद्ध → प्रतिलोम गति → वात-पित्त-कफ प्रकोप + क्षोभ → मूत्रपुरीष, रसरक्तादि धातु + आमाशय क्षोभ → पाचन संस्थान क्षोभ + दोषों का गुदा में स्थानसंश्रय → अग्निमांद्य + गुदवलि में मांसाकुर की उत्पत्ति → अतिकृशता → **अर्श।**

दोष दूष्य अधिष्ठान[1]—

दोष	: वातप्रधान त्रिदोष	स्रोतोदुष्टि लक्षण	: संग, विबन्ध
दूष्य	: त्वचा	आशय	: आमपक्वाशयोत्थ रोग
अधिष्ठान	: गुदवलि त्रय	रोग प्रकार	: चिरकारी रोग
स्रोतस्	: रक्तवह, मांसवह		

सापेक्ष निदान

रक्तार्श	रक्तातिसार
1. अर्श का इतिहास मिलेगा।	1. अर्श का इतिहास नहीं मिलेगा।
2. अंगुली एवं गुदपरीक्षा से मस्से उपस्थित मिलेंगे।	2. मस्से उपस्थित नहीं रहेंगे।
3. मलत्याग के पूर्व या पश्चात् रक्तप्रवृत्ति होती है।	3. मल में मिला हुआ रक्त आता है।
4. मलत्याग के समय गुदा में पीड़ा होती है।	4. मलत्याग के समय गुदा में प्राय: पीड़ा नहीं होती।
5. मल बँधा हुआ एवं प्राय: कड़ा होता है।	5. मल पतला निकलता है।

रक्तार्श	रक्तपित्त
1. रोग का पुराना इतिहास मिलेगा।	1. पुराना इतिहास नहीं मिलेगा।
2. रक्तप्रवृत्ति गुदमार्ग से ही होती है।	2. गुदा, मुख नासिका आदि से भी रक्त निकल सकता है।
3. अंगुली व गुदपरीक्षा से मस्से मिलेंगे।	3. मस्से नहीं मिलेंगे।
4. रक्तप्रवृत्ति मलत्याग के पूर्व या पश्चात् होगी हो सकती है।	4. मलत्याग के विना भी रक्तप्रवृत्ति।

1. दोषास्त्वङ्मांसमेदांसि सन्दूष्य विविधाकृतीन्।
मांसाङ्कुरान्नपानादौ कुर्वन्त्यर्शांसि ताञ्जगु:।। (अ. हृ. नि. 7/2)

5. मलत्याग में अत्यधिक पीड़ा होती है।	5. इसमें पीड़ा नहीं होती है।
6. रोगी को प्राय: विबन्ध रहता है।	6. इसमें विबन्ध का सम्बन्ध नहीं है।
7. रक्तमिश्रित अन्न को कुत्ता या कौआ खा सकता है, रक्त शुद्ध होता है।	7. रक्तमिश्रित अन्न को कौआ या कुत्ता नहीं खा सकता, रक्त दूषित होता है।
8. इसके रक्त से रंगा हुआ वस्त्र धोने पर स्वच्छ हो जाएगा।	8. इसके रक्त का दाग नहीं धुलेगा।
9. रक्त की मात्रा कम निकलती है।	9. रक्त की मात्रा अधिक निकलती है।

अर्श-चिकित्सा (च. चि. 14/33-37)—

औषध से—कालजात, अल्पदोष व लिङ्ग उपद्रवों से युक्त तथा अदृश्यार्थ अर्श।
क्षारकर्म—मृदु, प्रसृत, वातकफज या रक्तपित्तज अर्श।
अग्निकर्म—कर्कश, स्थिर, पृथु, कठिन अर्श।
शस्त्रकर्म—तनुमूल, उच्छ्रित, क्लेद श्रम व सब प्रकार के दोषज।

चिकित्सा-सूत्र

1. सामान्य एवं 2. विशेष।

1. सामान्य—

- निदान परिवर्जन
- वातानुलोमन
- स्वमार्गगमन का प्रयत्न
- विबन्धनाश
- जठराग्नि की प्रदीप्ति
- दोषानुसार औषध सिद्ध दूध का प्रयोग

2. विशेष—

वातज—स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन।
पित्तज—विरेचन।
कफज—वमन, आर्द्रक, और कुलथी का प्रयोग।
रक्तज—संशमन चिकित्सा।
त्रिदोषज—त्रिदोषहर, औषध सिद्ध अजाक्षीर का प्रयोग।
द्वन्दज—मिश्रित चिकित्सा।
उदावर्त्त होने पर—अनुवासन निरूह वस्ति वात-कफ प्रधानता-तक्र प्रयोग तक्रकल्प।

शुष्कार्श-चिकित्सा—

बाह्य उपचार—

- अभ्यंग
- स्वेदन-पिण्डस्वेद
- अवसेचन, अवगाहन
- धूपन
- लेप, उपनाह
- वर्तिधारण, पिचुधारण
- रक्तमोक्षण

आवश्यकतर उपचार—

- कोष्ठशुद्धि
- पाचन
- विजयचूर्ण, पंचकोल तथा लवणभास्कर चूर्ण
- तक्रप्रयोग, त्रिविधतक्र, तक्रारिष्ट[1]
- भिलावा श्रेष्ठतम
- पेया, यूष यवागु और पेय जल
- अनुलोमन योग
- प्रकृति अनुसार अनुपान
- प्रक्षालन
- मांसरस

सिद्ध योग—

1. व्योषादि चूर्ण 3-6 ग्राम या लवणोत्तमादि चूर्ण 3-6 ग्राम या विजय चूर्ण 3-6 ग्राम—सुखोष्ण जल से तीन बार।
2. कोकापन मोदक 6-12 ग्राम
3. प्राणदा गुटिका 4 ग्राम प्रात: सायं जल से।
4. अर्शोघ्नी वटी 500 मिली ग्राम प्रात: सायं जल से।
5. चव्यादि घृत 16-20 ग्राम प्रात: सायं दूध से।
6. पिप्पल्यादि घृत 16-20 ग्राम प्रात: सायं दूध से।
7. अर्श कुठार रस/भल्लातकादि मोदक 2-3 ग्राम दूध से।

व्यवस्था-पत्र—

1. पुराना गुड़ 10 ग्राम, 1×3 मात्रा, सुखोष्ण जल से।

1. त्वचं चित्रकमूलस्य पिष्ट्वा कुम्भं प्रलेपयेत्।
तक्रं वा दधि कं वातजातमर्शोहरं पिबेत्।।

2. भोजन से पूर्व कोकापन वटी 1-2 गोली जल से।
3. भोजन के प्रथम ग्रास में हिंग्वाष्टक चूर्ण तीन ग्राम घृत से।
4. भोजनोत्तर अभयारिष्ट 25 मि.ली. × 2 बार
5. रात्रि में आरोग्यवर्धिनी वटी एक ग्राम सुखोष्ण दूध से।
6. मस्से पर कासीसादि तैल।
7. प्रात:काल नारायण चूर्ण या गुलकन्द 8-10 ग्राम सुखोष्ण जल से।
8. भोजन से पूर्व छोटी हरड़ चूर्ण 6-10 ग्राम। गुड़ 10 ग्राम = एक मात्रा।

रक्तार्श-चिकित्सा—

बाह्य उपचार—

- दाहशमन-शतधौत घृत
- धूपन-राल चूर्ण + सरसों का तेल
- लेप-नेनुआ लेप
- परिषेचन, अवगाहन
- धारावसेचन
- प्रतिसारण-राल और घृत
- लाल/फेद चन्दन
- रसौंत+घृत
- कल्कधारण

आभ्यन्तर उपचार—

- तर्पण-स्निग्ध उष्ण, पेया, मांसरस
- मिश्री + घृत सेवन
- पिच्छाबस्ति ह्रबेरादि घृत व सुनिषण्णक घृत
- चन्दनादि क्वाथ
- मञ्जिष्ठादि चूर्ण
- कुटिजादि रसक्रिया
- कुटजावलेह
- मोचरस क्षीरपाक
- बकरी का दूध या पञ्चगुण जल सिद्ध गोदुग्ध सेवन।
- पलाण्डु प्रयोग-पेया, यूष शाकादि में।
- अर्शोघ्नी वटी।

सिद्धयोग—

1. नित्योदित रस 1-2 गोली घृत से, प्रात:-सायं।
   या अर्श कुठार रस 2 गोली गुलकन्द से, प्रात:-सायं।
   या जातीफलादि वटी 250 ग्राम प्रात:-सायं 10 ग्राम मक्खन से।
   तिल 5 ग्राम प्रात:-सायं 10 ग्राम मक्खन से।

2. बोलबद्ध रस 500 मि.ग्रा. प्रात:-सायं।
   या बोल पर्पटी 500 मि.ग्रा. प्रात:-सायं गुलकन्द के साथ।
   या शंखोदर रस 200 मि.ग्रा., 3 मात्रा, मक्खन/मिश्री के साथ।
3. चन्द्रप्रभा वटी 1 ग्राम, दिन में तीन बार, दूध से।
   या वृ योगराज गुग्गुल 1 ग्राम, दिन में तीन बार, दूध से।
   या योगराज रस 1 ग्राम, दिन में तीन बार, दूध से।
4. चन्द्रकला रस/कामदुघा रस/नवायस लौह 200-500 मि.ग्रा. गुलकन्द से दिन में तीन बार।

व्यवस्था-पत्र—

1. शंखोदर रस : 600 मि.ग्रा.
   तृणकान्त पिष्टी : 500 मि.ग्रा.
   अर्शोघ्नी वटी : 1 ग्राम
   1×3, नागकेशर चूर्ण 1 ग्राम + मधु से।
2. भोजन से पूर्व : समशर्कर चूर्ण, 4 ग्राम, 1×2, जल से।
3. भोजनोत्तर : उशीरासव 40 मि.ली., दो मात्रा समान जल से।
4. रात्रि में : तालीशादि चूर्ण 4 ग्राम जल से या विजया चूर्ण 2 ग्राम जल से।

अर्श के उपशय एवं अनुपशय—

उपशय/पथ्य—

- बासमती चावल।
- गेहूँ का दलिया।
- मूँग।
- अरहर, मसूर की दालों का यूष।
- बकरी या गाय का दूध।
- मक्खन, मलाई, गोघृत।
- बथुआ, चांगेरी, दुग्धिका।
- चौलाई।
- कांचनार का फूल।
- पतली मूली।
- प्याज।
- कच्चा गूलर, कच्चा केला।
- मधुर-अम्ल का बारी-बारी सेवन।
- अनार, सन्तरा, मुसम्मी, सिंघाड़ा, मुनक्का।
- किशमिश, आँवला, शीतवीर्य आहार-विहार।

अनुपशय/अपथ्य—

- वेगधारण (मलमूत्र)
- घोड़े आदि की सवारी
- स्त्री-समागम
- गरम मसाले, अचार, विबन्धकारक पदार्थ
- पका आम, बेल, केला
- उकड़ू बैठना
- सरसों का शाक
- विरुद्ध भोजन
- कटु-अम्ल-लवण रस वाले पदार्थ का अति सेवन
- मद्यपान

अर्श की साध्यता/असाध्यता—

सुखसाध्य अर्श—

1. संवरणी वलि में आश्रित
2. एकदोष प्रधान
3. एक वर्ष से अधिक पुराना नहीं

कृच्छ्रसाध्य—

1. विसर्जन वलि में आश्रित
2. दो दोषों की प्रधानतायुक्त
3. एक वर्ष से अधिक पुराना

असाध्य—

1. प्रवाहणी वलि में उत्पन्न
2. त्रिदोष प्रकापक
3. सहज

अर्श के उपद्रव[1]—

- उदावर्त
- हाथ पैर नख नाभि गुदा अण्डकोषों में शोथ।
- हृदय पार्श्व शूल।
- वमन, ज्वर, तृष्णा, गुदपाक।
- शोथ, अतिसार, रक्तस्राव।

1. हस्ते पादे मुखे नाभ्यां गुदे वृषणयोस्तथा।
शोथो हृत्पार्श्वशूलं च यस्यासाध्योऽर्शसो हि सः।।
हृत्पार्श्वशूलं सम्मोहश्छर्दिरङ्गस्य रुग्ज्वरः।
तृष्णा गुदस्य पाकश्च निहन्युर्गुदजातुरम्।। (च. चि. 14/26-27)

30 मेदोरोग

जब किसी व्यक्ति का भार आम भार से 10 फीसदी बढ़ जाता है, तो उसे मेदोरोग से ग्रस्त समझना चाहिए। मोटापा आज के युग की एक बड़ी समस्या है। स्थौल्य या मेदोरोग मेद धातु के दूषित होने से होता है।[1] दूषित मेद के द्वारा मार्ग अवरोध हो जाने से अन्य धातुओं का पोषण रुक जाता है तथा यह वसा के रूप में जहाँ-तहाँ एकत्रित होने लगता है। चरक ने अतिस्थूल पुरुष की गणना अष्ट निन्दित पुरुषों में की है। अतिस्थूल पुरुष की आयु का शीघ्र ही नाश हो जाता है तथा उसमें सदैव शीघ्रकारिता (Activeness) का अभाव रहता है।

प्रमुख सन्दर्भ—

1. चरक सूत्रस्थान—21
2. सुश्रुत सूत्र स्थान—15
3. अष्टांगसंग्रह सूत्रस्थान—24
4. माधवनिदान—मेदोरोग निदान।

निदान—

आहारसम्बन्धी हेतु—

1. अतिसम्पूरणाद (Excessive eating)
2. गुरु आहार सेवन
3. मधुर आहार सेवन
4. शीत आहार सेवन
5. स्निग्ध आहार सेवन
6. ग्राम्य रस सेवन
7. नूतन मद्य सेवन
8. दधि सेवन
9. रसायन सेवन
10. अम्लरस सेवन (वंगसेन)

विहारसम्बन्धी हेतु—

1. अव्यायाम
2. अव्यवाय
3. दिवास्वप्न
4. सुख शैय्या
5. गन्धमाल्यानुसेवन
6. स्वप्नप्रसंग

मानस हेतु—

1. हर्षनित्यता
2. अचिन्तन

1. मेदोदुष्टिः च स्थौल्यं। (मा. नि)

3. मनोनिवृत्ति 4. प्रियदर्शन 5. सौख्य।

अन्य हेतु—

1. बीज दोषस्वभावतः (Hereditory)
2. तैल अभ्यंग
3. स्निग्ध उद्वर्तन
4. स्निग्ध, मधुर बस्ति सेवन

पूर्वरूप—आलस्य, अंगशैथिल्य, अति निद्रा, पिपासातियोग, अतिक्षुधा।

लक्षण—

(क) प्रत्यात्म लक्षण[1]—

1. चल स्फिग (Big hips)
2. चल स्तन (Pendulous breast)
3. चल उदर (Pendulous belly)
4. अयथा उपचय
5. निरुत्साह

(ख) अष्ट दोष—

1. आयुषोह्रास (Short life span)
2. नवोपरोध
3. कृच्छ्रव्यवाय
4. दौर्बल्य
5. दौर्गन्ध्य
6. स्वेदनाद्या
7. क्षुधातिमात्रम्
8. पिपासातियोग

(ग) अन्य लक्षण—

1. अशक्तसर्वकर्मसु
2. क्षुद्रश्वास
3. मोह
4. क्रथन
5. गात्रसाद
6. गदगदत्वम्
7. अल्पबल

सम्प्राप्ति[2]—मेद धातु द्वारा स्रोतोमार्गावरोध → वायु की कोष्ठगत वृद्धि → तीव्र जठराग्नि → आहार का शीघ्र ही सूख जाना एवं पच जाना → पुनः भूख की उत्पत्ति → मेद वृद्धि (स्थौल्य) → **मेदोरोग।**

---

1. मेदोमांसातिवृद्धत्वाच्चलस्फिगुदरस्तनः।
अयथोपचयोत्साहो नरोऽतिस्थूल उच्यते।। (च.सू. 21/9)
2. मेदसाऽऽवृतमार्गत्वाद्वायुः कोष्ठे विशेषतः।
चरन् सन्धुक्षयत्यग्निमाहारं शोषयत्यपि।।
तस्मात् स शीघ्रं जरयत्याहारमभिकांक्षति। (च.सू. 21/5-6)

चिकित्सा-सिद्धांत—

1. अनशन (उपवास)।
2. अशन।
3. विहार—व्यवाय, भ्रमण, जागरण, रूक्ष उबटन।
4. पञ्चकर्म—अल्प विरेचन, शिरोविरेचन, बस्ति, (रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण)।
5. धूम्रपान।
6. औषध प्रयोग।

चिकित्सा-सूत्र

चक्रदत्तानुसार[1]—

कर्षण—स्थूल पुरुष को कृश करने के लिए गुरु एवं अपतर्पण द्रव्य प्रयोग कराने चाहिए। मधु को पानी में मिलाकर पीने से तथा अन्न का मण्ड गर्म-गर्म पीने से स्थूल आदमी दुर्बल हो जाता है।

चव्य, जीरा, सोंठ, मिर्च, पीपर, भुनी हींग, काला नमक, चित्रक की जड़—इनके चूर्ण को मिलाकर दही का पानी तथा सत्तू आदि का सेवन करने से बढ़ी हुई मेद दूर हो जाती है और अग्नि प्रदीप्त होती है।

चरकानुसार[2]—

- वातनाशक, श्लेष्मानाशक तथा मेदनाशक अन्नपान का सेवन कराना चाहिए।
- ऐसी बस्ति का सेवन कराएँ जो रूक्ष हो, उष्ण हो तथा तीक्ष्ण रूक्ष उबटन करें।

सुश्रुतानुसार[3]—

- विरूक्षण उत्पन्न करने वाले छेदित द्रव्यों का प्रयोग और लेखन कराना चाहिए।

वाग्भटानुसार[4]—

- स्वेदन और रक्तविस्रावण करवाना चाहिए।

---

1. प्रातर्मधुयुतं वारि सेवनं स्थौल्यनाशनम्।
उष्णमन्नं समण्डञ्च पिबन् कृशतनुर्भवेत्।। (चक्रदत्त 36/3)
सचव्यजीरकव्योषहिङ्गुसौवर्चलानलाः।
मस्तुना शक्तवः पीता मेदोघ्ना वह्निदीपनाः।। (चक्रदत्त 36/4)
2. वातघ्नान्यन्नपानानि श्लेष्ममेदोहराणि च।
रुक्षोष्णा बस्तयस्तीक्ष्णा रूक्षाण्युद्वर्तनानि च।। (चरक सूत्र 21/21)
3. अत्यन्तगर्हितावेतौ सदा स्थूलकृशौ नरौ।
श्रेष्ठो मध्यशरीरस्तु कृशः स्थूलात्तु पूजितः।। (सुश्रुत सूत्र 15-35)
4. अयथोपचयोत्साहश्चलस्फिगुदरस्तनः.........।
.........स्वेदासृक्स्रावणान्यपि।। (अष्टांग सूत्र 24/31-46)

मेदोरोग-चिकित्सार्थ विशिष्ट द्रव्य—शिलाजीत, गुग्गुल, गिलोय, त्रिफला, तक्र, अयस कृति (लौह चूर्ण), रसाञ्जन, मधु, विडंग, मुष्कदि क्वाथ, शुण्ठी, क्षार एवं आंवला।

व्यवस्था-पत्र (औषध)—

(क) 1. मेदोहर विडंगादि लौह : 500 मि.ग्रा.
गिलोय सत्त्व : 500 मि. ग्रा.
1×2 उष्ण जल से।

2. हिंग्वाष्टक चूर्ण घी में भूनकर 3 ग्राम = 2 मात्रा, भोजन के प्रथम ग्रास से।

3. आरोग्यवर्धनी वटी 4-4 वटियां = 1×2 मात्रा, भोजनोपरांत।

(ख) 1. शिलाजत्वादि लौह : 250 मि.ग्रा.
वंग भस्म : 125 मि.ग्रा.
शुक्ति पिष्टी : 250 मि.ग्रा.
1×2, मधु के साथ।

2. भोजन से पहले अविपत्तिकर चूर्ण 4 ग्राम, 2 मात्रा।

3. अश्वगंधा चूर्ण : 2 ग्राम
शुण्ठी : 1 ग्राम
1×2 मात्रा, उष्ण जल से।

(ग) 1. त्र्यूषणादि लौह 250 मि.ग्रा. = 1×2 मात्रा, दशमूल क्वाथ के साथ।

2. भोजनोत्तर नवक गुग्गुल 2 ग्राम = 1×2 मात्रा, मुस्तकारिष्ट के साथ।

(घ) 1. विडंग चूर्ण : 1 ग्राम
अजवायन : 1 ग्राम
सोंठ : 1 ग्राम
1×2 गर्म जल से।

2. अमृता गुग्गुल 4-4 वटियां = 1×2।

3. भोजनोत्तर तक्रारिष्ट 25 मि.ली., 2 मात्रा, समान जल से।

नवक गुग्गुल—त्रिकटु, चित्रक की छाल, त्रिफला, नागरमोथा, वायविडंग (समान भाग) सबको चूर्ण कर समान भाग गुग्गुल मिश्रित कर गोलियां बना ले।

लेखनीय महाकषाय—नागरमोथा, कूठ, हल्दी, दारूहल्दी, वच, अतीस, कुटकी, चित्रक, चिरबिल्व, हैमवती।

31 तृष्णा रोग

बार-बार जल पीने की इच्छा होना और पानी पीने पर भी प्यास का न मिटना तृष्णा रोग कहलाता है।

कई आचार्यों ने तृष्णा रोग को पिपासा कहा है। तृष्णा स्वभावतः प्राणिमात्र को होती है। स्वभाव से होने वाली तृष्णा को रोग नहीं कहा जाता, परन्तु जब तृष्णा अस्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है, तो उसे ही रोग माना जाता है। तृष्णा को कई रोगों का लक्षण एवं कई रोगों का उपद्रव माना गया है। आचार्य चरक ने इसे विसर्प का उपद्रव बताकर विसर्प के पश्चात् अगले अध्याय में तृष्णा का वर्णन किया है; जबकि माधवकर ने छर्दि का उपद्रव कहकर छर्दि के अनन्तर तृष्णा रोग का वर्णन किया है। आचार्य सुश्रुत ने तृष्णा की उत्पत्ति में मद्य को एक कारण माना है तथा मद्यज रोग और तृष्णा दोनों में प्रकुपित पित्त को शमन करना मुख्य चिकित्सा माना है। अतएव आचार्य सुश्रुत ने मदात्यय प्रतिषेध के अनन्तर तृष्णाप्रतिषेध नामक अध्याय में तृष्णा रोग का वर्णन किया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ—

1. माधवनिदान, अध्याय-16 (तृष्णानिदानम्)
2. चरकसंहिता, चिकित्सा स्थान, अध्याय-22 (तृष्णारोग चिकित्सा.)
3. सुश्रुतसंहिता, उत्तरतन्त्र, अध्याय-48 (तृष्णा प्रतिषेध)
4. अष्टाङ्गहृदय, निदान, अध्याय-5 (राजयक्ष्मादि निदानाध्याय)
5. अष्टांगहृदय, चिकित्सास्थान, अध्याय-6 (छर्दिहृद्रोगतृष्णा चिकित्साध्याय)

तृष्णा के निदान—

1. अत्यधिक शारीरिक तथा मानसिक संक्षोभ।
2. शोक।
3. थकावट।
4. मद्यपान।
5. रूक्ष, अम्ल, शुष्क, उष्ण तथा कटु रस वाले द्रव्यों का अधिक सेवन।
6. धातु-क्षय।
7. लंघन।
8. सूर्य के धूप में अधिक बैठना।

9. क्रोध।

10. वमन, विरेचन आदि संशोधन के अतियोग।

तृष्णा के भेद—

सुश्रुत व माधव के अनुसार—

1. वातज
2. पित्तज
3. कफज
4. क्षतज
5. क्षयज
6. आमज
7. अन्नज

वाग्भटानुसार—

1. वातज
2. पित्तज
3. कफज
4. सन्निपातज
5. क्षयज
6. आमज
7. उपसर्गज

चरकानुसार—

1. वातज
2. पित्तज
3. आमज
4. क्षयज
5. रसक्षय

पूर्वरूप—

1. **स्थानिक पूर्वरूप**—ओष्ठ, कण्ठ, मुख का सूखना।

2. **सार्वदैहिक पूर्वरूप—**

(क) दाह (ख) सन्ताप (ग) मोह (घ) भ्रम।

रूप—

1. **वातज तृष्णा के लक्षण—**

(क) मुख का सूखना
(ख) शंख प्रदेश व सिर में पीड़ा
(ग) स्रोतों का अवरोध
(घ) मुखवैरस्य
(ङ) शीतल जल पीने से तृष्णा बढ़ना

2. **पित्तज तृष्णा के लक्षण—**

(क) मूर्च्छा
(ख) अरुचि
(ग) असम्बद्ध भाषण
(घ) मुख का सूखना
(ङ) नेत्रों का पीला होना
(च) शरीर में दाह
(छ) मुख में तिक्तता

3. **कफज तृष्णा के लक्षण—**

(क) निद्रा
(ख) शरीर वे उदर में भारीपन
(ग) मुख में मीठापन
(घ) कण्ठ में मलवृद्धि
(च) शरीर सूखना
(छ) वमन
(ज) अरुचि
(झ) शाखाओं में शोथ

क्षतज तृष्णा के लक्षण—क्षत के कारण अत्यधिक रक्तस्राव व पीड़ा।

क्षयज तृष्णा के लक्षण—

(क) मुख, तालु, गले में दाह
(ख) शरीर सूखना
(ग) कम्पन
(घ) हृदय में पीड़ा

आमज तृष्णा के लक्षण—

(क) हृदय में शूल
(ख) अधिक थूक आना
(ग) शिथिलता
(घ) हल्लास
(ङ) अरुचि

अन्नज तृष्णा के लक्षण—स्निग्ध, अम्ल, लवण, कटु तथा मात्रागुरु एवं द्रव्यगुरु अन्न के सेवन से उत्पन्न तृष्णा।

उपसर्गज तृष्णा के लक्षण—ज्वर, प्रमेह, क्षय, शोष, श्वास रोग से ग्रस्त रोगियों में यह कष्टदायक होती है।

संप्राप्ति—वातप्रकोपक, पित्तप्रकोपक, रोगापकर्षण, उपसर्ग → निदान → वात + पित्त का प्रकोप → उदकवह स्रोतोगमन → उदकक्षय → जिह्वामूल, तालु, क्लोम शुष्कता → **तृष्णा रोग।**

दोष-दूष्य व अधिष्ठान—

दोष : पित्त, वात
दूष्य : उदक-जलीय धातु
स्रोतस् : उदकवह (रस-रक्तवह)
अधिष्ठान : तालु, क्लोम

असाध्यता के लक्षण—तृष्णा की अधिकता व निरन्तरता, रोगी की कृशता, वमन एवं जिह्वा का शीघ्र ही बाहर निकलना।

उपद्रव—ज्वर, मूर्च्छा, क्षय एवं कास-श्वास।

चिकित्सा-सूत्र

- निदान परिवर्जन
- वमन-विरेचन (बलवान रोगी में)
- शमन (दुर्बल में)
- लेप (शीतल द्रव्यों का)
- स्नान-अवगाहन
- शीतल स्थान पर आवास
- गण्डूष

- कवल
- मधुर इत्र व रत्न-धारण

सामान्य चिकित्सा—

1. **शीतल जल**—तृणपञ्चमल या चन्दन और खस का षडंगपानीय मिश्री के साथ थोड़ी-थोड़ी मात्रा में दें।

2. मधुर, जीवनीय, शीतवीर्य और तिक्तरस द्रव्यों से क्षीरपाक विधि से बनाए दूध में चीनी मिलाकर पिलाएं तथा उसी दूध से मालिश करें।

3. **नस्य**— (क) स्त्री-दूध + मिश्री का नस्य
(ख) ईख के रस का नस्य

4. **लेप**—जामुन, आँवला, बेर, पीपर, गूलर की गीली छाल, खट्टी बेर, अनार, खस, श्वेत चन्दन महीन पीसकर घी मिलाकर ललाट पर लेप करें।

5. **गण्डूष**—गोदुग्ध, इक्षुरस, शर्बत, मधु, सिरका, बिजौरे नींबू के रस का गण्डूष धारण करें।

6. **अर्क**—सौंफ, अजवायन, पुदीना, श्वेत चन्दन, बरफ का जल या एलेक्ट्राल पिलाएं।

विशिष्ट चिकित्सा—

1. **वातज में—**

(क) गुड़ + दूध।
(ख) गुडूचि स्वरस + मधु।
(ग) वातनाशक शीतल अन्नपान।
(घ) जीवनीय गण के द्रव्यों से सिद्ध दुग्ध व घृत।

2. **पित्तज में—**

(क) पके गूलर का रस या क्वाथ।
(ख) मुनक्का, श्वेत चन्दन, पिण्ड खर्जूर और खस से पकाया जल मधु के साथ।
(ग) काकोल्यादि गण, उत्पलादि गण, सारिवादि गण के औषधों से क्षीरपाक।
(घ) धान के लावे का सत्तू चीनी व घी मिलाकर।

3. **कफज में—**

(क) नीम की पत्ती का क्वाथ + सेंधा नमक मिलाकर वमन कराएं।
(ख) बेर की छाल, अरहर की जड़, पीपर, पिपरामूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, कुश का फाण्ट या क्वाथ।

4. **क्षतज में—**

(क) वेदना का शमन।
(ख) अधिक रक्तस्राव होने पर मांसरस।
(ग) कसेरु, सिंघाड़ा, कमल, केला और इक्षु की मूल से सिद्ध जल या क्वाथ।

5. **क्षयज में**—दूध की लस्सी, मांसरस और मधु के शर्बत का सेवन कराएं।

6. **आमज में—**

(क) गर्म जल + सैंधव से वमन कराये।
(ख) पिप्पल्यादि गण की औषधियों के साथ बेल की छाल + वचा का क्वाथ पिलायें।

7. **अन्नज में—**

(क) पतली पेया + मदनफल चूर्ण + चीनी मिलाकर वमन।
(ख) लाजसत्तु + घी + चीनी + ठण्ढ़ा जल।

8. **उपसर्गज में**—तृष्णा रोग के शान्त हो जाने पर तृष्णा रोगजन्य उपद्रव सुख-पूर्वक जीते जा सकते हैं।

व्यवस्था-पत्र—

1. कुमुदेश्वर रस 500 मि. ग्रा. (1×5 मात्रा, मधु से)।
   जहरमोरा पिष्टी 1 मि. ग्रा. (1×5 मात्रा, मधु से)।
2. एलादि वटी एक गोली में 5 बार।
3. भोजनोत्तर अविपत्तिकर चूर्ण 4 ग्राम × 2 मात्रा (दूध से)।

पथ्य—धान का लावा सत्तू बनाकर, पेया, विलेपी, मण्ड, मूंग, मसूर, चने का यूष, बेर, नारिकेलखण्ड, गुलकन्द, एला, पुदीना, जौ, परवल, लौकी, मधुर व तिक्त पदार्थ।

32 प्रमेह

प्रभूताविलमूत्रता—अर्थात् जिस व्याधि में अधिक तथा गंदला मूत्र बार-बार आये, उसे प्रमेह कहते हैं।

चरक के अनुसार जब दक्ष प्रजापति ने यज्ञ किया तो उनके यज्ञ में बाधा पड़ने से 7 महारोग उत्पन्न हुए, जिनमें से एक को प्रमेह माना गया है। प्रमेह की उत्पत्ति में एक कथा प्रसिद्ध है कि जब दक्ष प्रजापति के यज्ञ में पार्वती ने छलांग लगा दी थी, उस समय उनके पति शंकर के कोप से ज्वर उत्पन्न हुआ। ज्वर के सन्ताप से रक्तपित्त की उत्पत्ति हुई। यज्ञ में उत्पन्न विघ्न से वहाँ पर उपस्थित लोग इधर-उधर भागने लगे; अत: गुल्म उत्पन्न हुआ। भोजन के न मिलने पर लोगों ने अधिक घी का पान किया, जिससे प्रमेह और कुष्ठ की उत्पत्ति हुई।

जिस रोग में पूरा शरीर आक्रान्त हो और शरीर की सभी धातुओं पर उसका असर पड़े और शरीर की सभी धातुओं का क्षय हो, उसे महारोग कहते हैं। यह एक सामान्य सिद्धान्त है और ये सब लक्षण प्रमेह में मिलने के कारण इसे भी महारोग कहा जाता है।

प्रमेह एक सन्तर्पणोत्थ व्याधि है। आयुर्वेद के अनुसार सुखी तथा आराम से रहने वाले और अत्यधिक मधुरान्न सेवन करने वाले प्रमेह के शिकार होते हैं।

प्रमेह के दोष दो हैं। मुख्यत: कफ दोष प्रधान है और दूष्य दस हैं, उनमें से मेद प्रधान है। प्रमेह के दोष-दूष्य भेद से 20 प्रकार बताए गए हैं। यह वर्गीकरण मूत्र के वर्ण, गन्ध, स्पर्श आदि से किया गया है। परन्तु प्रमेह का केवल मूत्र के वर्ण, गन्ध एवं स्पर्श वैभिन्न्य के आधार पर 20 प्रकार के भेदों का वर्गीकरण भ्रमोत्पादक है। इसलिए प्रमेह एक रोगविशेष न होकर रोगों के एक ऐसे वर्ग का नाम है, जिनमें मूत्र में अनेक कारणों में विभिन्न प्रकार के भौतिक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। पुन: ऐसा भी कहा गया है कि सभी प्रकार के प्रमेह कालान्तर में मधुमेह में परिवर्तित हो जाते हैं। यह मधुमेह आधुनिक समय का Diabetes Mellitus रोग है। प्रमेह की साध्यासाध्यता के बारे में बताया है कि कफज प्रमेह सुखसाध्य है (समक्रियत्वात्)। पित्तज प्रमेह कृच्छ्रसाध्य है (विषमक्रियत्वात्)। वातप्रमेह असाध्य है (महात्ययत्वात्)। स्थूली प्रमेही साध्य और कृश प्रमेही असाध्य होते हैं। स्थूल में अपतर्पण तथा कृश प्रमेह में तर्पण चिकित्सा देनी चाहिये। कृश तथा दुर्बल प्रमेही में संशोधन कर्म का

निषेध है। स्थूल तथा बलवान प्रमेही को सर्वप्रथम स्नेहपूर्वक संशोधन (कफज में वमन, पित्तज में विरेचन) कराना चाहिए, तदुपरान्त यथावश्यकतानुसार संतर्पण कराकर संशमन चिकित्सा देनी चाहिए।

प्रमुख सन्दर्भ

चरकसंहिता, निदान स्थान—4
चरकसंहिता, चिकित्सा स्थान—6
सुश्रुतसंहिता, निदान स्थान—6
सुश्रुतसंहिता, चिकित्सा स्थान—11,12,13
वागभट, निदान स्थान—10
वागभट, चिकित्सा स्थान—12
माधवनिदान—33

निरुक्ति—

- अत्यधिक मात्रा में बार-बार मूत्र-त्याग करना प्रमेह है।[1]
- जिस व्याधि में अधिक तथा गंदला मूत्र देखा जाय, वह प्रमेह है।[2]

सामान्य निदान[3]

- आस्यसुख
- स्वप्नसुख
- नवान्नपान
- कषाय, कटु, लघु, शीत का अधिक सेवन
- व्यायाम
- अधारणीय वेग
- उपवास
- अधिक आतप सेवन
- अधिक जागरण
- उद्वेग
- शोक
- चिन्ता
- दधि
- दुग्ध
- दुग्धविकार

सामान्य सम्प्राप्ति[4]

वात का प्रकोप—वात द्वारा ओज बस्ति में लाया जाना → बस्ति से मूत्रमार्ग द्वारा ओज का बहिर्गमन → ओजक्षय → **प्रमेह।**

1. प्रकर्षेण मेहति अनेन इति प्रमेह:।
2. प्रभूताविलमूत्रता। (अ. हृ. नि. 10/7)
3. आस्यासुखं स्वप्नसुखं दधीनि ग्राम्यौदकानूपरसा: पयांसि।
नवान्नपानं गुडवैकृतं च प्रमेहहेतु: कफकृच्च सर्वम्।। (च. चि. 6.4)
दिवास्वप्नाव्यायामालस्यप्रसक्तं शीतस्निग्धमधुरमेद्यद्रवान्नपानसेविनं पुरुषं जानीयात् प्रमेही भविष्यतीति। (सु. नि. 6.3)
4. मेदश्च मांसं च शरीरजं च क्लेदं कफो बस्तिगत: प्रदूष्य।
करोति मेहान् समुदीर्णमुष्णैस्तानेव पित्तं परिदूष्य चापि।।
क्षीणेषु दोषेष्ववकृष्य धातून् सन्दूष्य मेहान् कुरुतेऽनिलश्च। (च.चि. 6/5-6)

पित्त और कफ का प्रकोप—पित्त, कफ तथा मांस व मेद द्वारा वात का आवरण → वात प्रकोप जैसे लक्षण → वात द्वारा ओज बस्ति में लाया जाना → बस्ति से मूत्रमार्ग द्वारा ओज का बहिर्गमन → ओज-क्षय → प्रमेह।

दोष-दूष्य-अधिष्ठान[1]—

दोष—

1. सामान्यत: त्रिदोष
2. वात
3. पित्त
4. कफ
5. विशेषत: कफ

दूष्य—

सामान्यत:—

1. मेद
2. रक्त
3. शुक्र
4. जल
5. वसा
6. लसीका
7. मज्जा
8. रस
9. ओज
10. मांस

विशेषत:—मेद

अधिष्ठान—वस्ति (मूत्रवह संस्थान)।

पूर्वरूप—

1. दन्त, तालु, मल एवं, जिह्वा की मलाढ्यता।
2. हाथ-पैर में दाह।
3. शरीर में चिकनापन।
4. तृष्णा, हर समय नींद का आना।
5. मुख का मीठा प्रतीत होना।[2]
6. मूत्र पर चीटियों का आना।
7. मूत्र की मधुरता को भी पूर्वरूपों में बताया गया है।[3]
8. शरीर का दुर्गन्धित होना।[4]

---

1. कफ: सपित्त: पवनश्च दोषा मेदोऽस्रशुक्राम्बुवसालसीका:।
मज्जा रसौज: पिशितं च दूष्या: प्रमेहिणां विंशतिरेव मेहा:।। (च. चि. 6/8)
2. दन्तादीनां मलाढ्यत्वं प्राग्रूपं पाणिपादयो:।
दाहश्चिक्कणता देहे तृट् स्वाद्वास्यं च जायते।। (मा. नि. 33/5)
3. भविष्यतो मेहगदस्य रूपं मूत्रेऽभिधावन्ति पिपीलिकाश्च। (च. चि. 6/14)
4. स्वेदोऽङ्गगन्धं शिथिलाङ्गता च शय्यासवस्वप्नसुखे रतिश्च।
हृन्नेत्रजिह्वाश्रवणोपदेहो घनाङ्गता केशनखातिवृद्धि:।।

भेद—

कफज प्रमेह[1] **के भेद**—10

चरक	सुश्रुत	वाग्भट
1. उदकमेह	उदकमेह	उदकमेह
2. इक्षुवालिका रसमेह	इक्षुवालिकारसमेह	इक्षुमेह
3. सान्द्रमेह	सान्द्रमेह	सान्द्रमेह
4. सान्द्रप्रसादमेह	सुरामेह	सुरामेह
5. शुक्लमेह	पिष्ठमेह	पिष्ठमेह
6. शुक्रमेह	शुक्रमेह	शुक्रमेह
7. शीतमेह	लवणमेह	शीतमेह
8. सिकतामेह	सिकतामेह	सिकतामेह
9. शनैर्मेह	शनैर्मेह	शनैर्मेह
10. लालामेह	फेनमेह	लालामेह

पित्तज प्रमेह[2] **के भेद**—6

चरक	सुश्रुत	वाग्भट
1. क्षारमेह	क्षारमेह	क्षारमेह
2. कालमेह	अम्लमेह	कालमेह
3. नीलमेह	नीलमेह	नीलमेह
4. लोहितमेह	शोणितमेह	रक्तमेह
5. मंजिष्ठामेह	मंजिष्ठामेह	मंजिष्ठामेह
6. हारिद्रमेह	हारिद्रमेह	हारिद्रमेह

वातज प्रमेह की सम्प्राप्ति[3]—

वातदोष—मेदोधातु युक्त पुरुष → मेदयुक्त वायु → चारो ओर प्रसरता हुआ → बस्ति में → **वसामेह।**

वातदोष—मज्जा धातु में → मज्जा युक्त वात → बस्ति में → **मज्जामेह।**

---

1. जलोपमं चेक्षुरसोपमं वा घनं घनं चोपरि विप्रसन्नम्।
शुक्लं सशुक्रं शिशिरं शनैर्बा लालेव वा वालुकया युतं वा।। (च.चि. 6/9)
2. क्षारोपमं कालमथापि नीलम्।
हारिद्रमाञ्जिष्ठमथापि रक्तमेतान् प्रमेहान् षड्शन्ति पित्तात्।। (च.चि. 6/10)
3. मज्जौजसा वा वसयाऽन्वितं वा लसीकया वा सततं विबद्धम्।
चतुर्विधं मूत्रयतीह वाताच्छेषेषु धातुष्वपकर्षितेषु।। (च. चि. 6 : 11)

वातदोष—लसीका (मांस और त्वचा) मध्यद्रव्य → मज्जायुक्त वात → बस्ति में → **लसीकामेह।**

वातदोष—रूक्ष वायु + कषाय रस → ओजस व वात → बस्ति में → **मधुमेह।**

कफज प्रमेह के लक्षण—

नाम	आधुनिक पर्याय	गुण
1. उदकमेह	Diabetes insipidus	अच्छ, सित, जलीय, किञ्चित् अवित, पिच्छिल
2. इच्छुमेह	Glucosuria	मधुर, शीतल, कुछ चिपचिपा, गन्दा, काण्डेक्षु के रस के समान
3. सान्द्रमेह	Phosphaturia	सान्द्रीभवेत् पर्युषित (पात्र में रखा मूत्र कुछ देर बाद गाढ़ा हो जाता है।)
4. सुरामेह	Acetonuria	सुरा तुल्य उपषिच्छम्, अयोघनम्
5. पिष्टमेह	Heavy phosphaturia	सितम् पिष्टवद् (चावल के आटे के समान मूत्र), संहृष्ट रोमा
6. शुक्रमेह	Spematuria	शुक्राभं, शुक्रमिश्रं
7. सिकतामेह	Crystalluria of lithuria	सिकतायुक्त मूत्र urates in urine
8. शीतमेह	Polyuria with glucosuria	अत्यधिक शीत, सुबहुशो
9. शनैर्मेह	Frequency	थोड़ा-थोड़ा, बार-बार
10. लालामेह	Albuminuria	पिच्छिल लालतन्तुयुत

पित्तज प्रमेह के लक्षण—

नाम	आधुनिक पर्याय	गुण
1. क्षारमेह	Alkaline urine	क्षारीय वर्ण, क्षारीय स्पर्श, क्षारतोयवत्
2. नीलमेह	Blue urine indiconuria	नीलाभ, अम्ल रसयुक्त
3. कालमेह	Black ink like urine	मसीनिभम् उष्ण
4. हारिद्रमेह	Biliuria	हारिद्रनिभम्, सदाह, आम गन्धयुक्त
5. मंजिष्ठमेह	Haemoglobinuria or Heamaturia	मंजिष्ठा सलिलोपमम् आम गन्धयुक्त
6. रक्तमेह	Heamaturia	उष्ण, रक्ताभ, नमकीन

वातज प्रमेह के लक्षण—

नाम	आधुनिक पर्याय	गुण
1. वसामेह	Chyluria or Lipiduria	वसामिश्रम्, वसाभम् मुहुः मुहुः मूत्रत्याग

नाम	आधुनिक पर्याय	गुण
2. मज्जामेह	Pyuria	मज्जामिश्रम्, मज्जाभम् मुहुः मुहुः मूत्रत्याग
3. हस्तिमेह	Polyuria with incontinence	लसीकायुक्त, विबद्ध, निरन्तर मूत्रत्याग
4. क्षौद्रमेह	Diabetic glucosuria	रूक्ष, कषाय, मधुर रसयुक्त मूत्रत्याग

उपद्रव—

कफज प्रमेह[1]	पित्तज प्रमेह[2]	वातज प्रमेह[3]
अतिपाक	वस्ति एवं शिश्न में तोद	उदावर्त्त
अरुचि	अण्डकोष में अवदारण	अलजी
छर्दि	ज्वर	शूल
निद्रा	दाह	निद्रानाश
कास एवं पीनस	तृष्णा	कम्प
	विड्भेद	शोष
	पाण्डुरोग	कास एवं श्वास
	मूर्च्छा	कास एवं श्वास

प्रमेह पीडिका

चरक—

1. शराविका 4. सर्षपिका 6. विनता
2. कच्छपिका 5. अलजी 7. विद्रधि
3. जालिनी

सुश्रुत—

1. शराविका 3. जालिनी 5. अलजी 7. विद्रधि 9. पुत्रिणी
2. कच्छपिका 4. सर्षपिका 6. विनता 8. मसूरिका 10. विदारिका

1. अविपाकोऽरुचिश्छर्दिर्निद्रा कासः सपीनसः।
उपद्रवाः प्रजायन्ते मेहानां कफजन्मनाम्।। (अ. हृ. नि. 10/22)
2. बस्तिमेहनयोस्तोदो मुष्कावदरणं ज्वरः।
दाहस्तृष्णाऽम्लिका मूर्च्छा विड्भेदः पित्तजन्मनाम्।। (अ. हृ. नि. 10/23)
3. वातजानामुदावर्तः कम्पहृद्ग्रहलोलताः।
शूलमुन्निद्रता शोषः कासः श्वासश्च जायते।। (अ. हृ. नि. 10/24)

साध्यासाध्यता[1]—

कफल प्रमेह—सुखसाध्य (समक्रियत्वात्)।
पित्तज प्रमेह—कृच्छ्रसाध्य (विषमक्रियत्वात्)।
वातज प्रमेह—असाध्य (महायात्)।

चिकित्सा-सूत्र

कफज प्रमेह[2]—सर्वप्रथम स्नेहन, फिर वमन, फिर संतर्पण कराकर फिर संशमन चिकित्सा दें।

पित्तज प्रमेह[3]—सर्वप्रथम स्नेहन, फिर विरेचन, फिर संतर्पण कराकर फिर संशोधन चिकित्सा दें।

वातज प्रमेह[4]—पहले संतर्पण से बृहंण फिर संशमन चिकित्सा दें। संशोधन कर्म का निषेध है।

औषधयोग—

कफज प्रमेह—

1. चन्द्रप्रभा वटी, लोध्रासव।
2. अजमोदा + उशीर + हरीतकी + गिलोय—इनका कषाय दें।
3. पाठा-मूर्वामूल-गोक्षुर—इनका कषाय दें।
4. हरीतकी-कट्फल-मुस्ता-लोध्र—इनका कषाय दें।
5. चरकोक्त कफज प्रमेहघ्न 10 कषाय।

पित्तज प्रमेह—

1. चन्द्रप्रभा वटी।
2. शतावर्यादि क्वाथ।
3. जम्बू आसव।
4. वसन्तकुसुमाकर रस।
5. चरकोक्त पैत्तिक प्रमेहघ्न 10 कषाय।

---

1. साध्याः कफोत्था दश, पित्तजाः षड्याप्या, न साध्यः पवनाच्चतुष्कः।
समक्रियत्वाद् विषमक्रियात्वान्महात्ययत्वाच्च यथाक्रमं ते।। (च. चि. 6/7)
2. स्निग्धस्य योगा विविधाः प्रयोज्याः कल्पोपदिष्टा मलशोधनाय।
ऊर्ध्वं तथाऽधश्च मलेऽपनीते मेहेषु सन्तर्पणमेव कार्यम्।। (च. चि. 6/16)
3. संशोधनोल्लेखनलङ्घनानि काले प्रयुक्तानि कफप्रमेहान्।
जयन्ति पित्तप्रभवान् विरेकः सन्तर्पणः सशमनो विधिश्च।। (च. चि. 6/25)
4. संशोधनं नार्हति यः प्रमेही तस्य क्रिया संशमनी प्रयोज्या।
मन्थाः कषाया यवचूर्णलेहाः प्रमेहशान्त्यै लघवश्च भक्ष्याः।। (च. चि. 6/18)

वातज प्रमेह—

1. चन्द्रप्रभा वटी।
2. चन्द्रप्रभा वटी।
3. वसन्तकुसुमाकर रस त्रिवंग भस्म।
4. सर्वतोभद्र।
5. कफज प्रमेहघ्न कषायों से सिद्ध किए गए तैल या घृत।

मधुमेह की चिकित्सा

1. जम्बूबीज चूर्ण
2. गुड़मार
3. कारवेल्लक स्वरस
4. विजयसार
5. सप्तरंगी
6. तेजपत्र
7. मेथीबीज चूर्ण
8. बिल्वपत्र चूर्ण

इससे मूत्रगत शर्करा बन्द हो जाती है।

1. चन्द्रप्रभा वटी।
2. वसन्तकुसुमाकर रस।
3. त्रिवंगभस्म का प्रचुर प्रयोग किया जाता है।

व्यवस्था पत्र (मधुमेह)—

1. प्रातः-सायं—

शिवा गुटिका	: 1 ग्रमा
स्वर्णमाक्षिक भस्म	: 300 मि.ग्रा.

2 मात्रा, गुड़मार चूर्ण एक ग्राम मिलाकर जल से।

(अथवा)

चन्द्रप्रभा वटी 2 ग्राम = 2 मात्रा या शुद्ध शिलाजीत 1 ग्राम = 2 मात्रा, दूध के साथ दें।

1 बजे से 2 बजे दिन—

वसन्तकुसुमाकर रस	: 250 मिली ग्राम
गुड़मार चूर्ण	: 2 ग्राम
हल्दी चूर्ण	: 2 ग्राम
जम्बू बीज चूर्ण	: 2 ग्राम

2 मात्रा, शुद्ध मधु से

रात में सोते समय—

3. न्यग्रोधादि चूर्ण 5 ग्राम = 1 मात्रा, जल से।

33 मूत्रकृच्छ्र

निरुक्तिः—मूत्रस्य कृच्छ्रेण महता दुःखेन प्रवृत्तिः। (मधुकोश)

अर्थात् मूत्र की कष्टप्रद प्रवृत्ति को ही मूत्रकृच्छ्र कहते हैं।

अत्यन्त कष्ट के साथ मूत्रत्याग होने को मूत्रकृच्छ्र कहते हैं। इस रोग में वस्ति में मूत्र रहता है और रोगी मूत्रत्याग करना भी चाहता है, किन्तु मूत्रमार्ग में कहीं रुकावट होने के कारण मूत्र करने में तकलीफ होती है। मूत्रमार्ग से मूत्र बूंद-बूंद करके टपकने लगता है अथवा थोड़े-थोड़े समय पर रोगी मूत्र का त्याग करने के लिए बाध्य हो जाता है। यह रोग बच्चों में भी देखा जाता है, यह मूत्राशय की संकोचक पेशी के कमजोर होने के कारण होता है। कभी-कभी गुदमार्ग के भीतर जब कृमि पैदा हो जाते हैं, तो यह भी मूत्र को रोकने में कारण हो जाते हैं। कभी-कभी मूत्रमार्ग में अश्मरी के अटक जाने से भी उक्त रोग उत्पन्न हो जाता है।

अत्यधिक व्यायाम, अत्यधिक तेज चलने वाली सवारी, तीक्ष्ण औषधि, रूक्ष पदार्थ, अत्यधिक मद्यपान, आनूप मांस, अध्यशन तथा अजीर्ण, आगन्तुज कारण जैसे अभिघात इन सब कारणों से मूत्रकृच्छ्र उत्पन्न होता है। अपने-अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित वातादि दोष पृथक्-पृथक् अथवा एक साथ जब वस्ति में पहुँचकर मूत्रमार्ग में संकोच, दबाव या क्षोभ आदि उत्पन्न करते हैं तब मूत्रत्याग करते समय रोगी को कष्ट होता है और इसी परिस्थिति को मूत्रकृच्छ्र कहते हैं। मूत्रकृच्छ्र त्रिदोषज व्याधि है, जिसमें वात प्रधान होता है। मूत्रकृच्छ्र में मूत्र और जल दूष्य है और वस्ति, मूत्रमार्ग इसके अधिष्ठान हैं। मूत्रकृच्छ्र के सामान्य और विशेष लक्षण होते हैं। सामान्य लक्षण में थोड़ा-थोड़ा बार-बार कष्ट के साथ मूत्रत्याग होता है। विशेष लक्षणों तथा नैदानिक विशेषताओं के आधार पर मूत्रकृच्छ्र आठ प्रकार का होता है—वातिक, पैत्तिक, कफज, सान्निपातिक, अभिघातज, शकृज, अश्मरीज और शुक्रज।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञानियों ने मूत्राघात मूत्रावरोध के लिए अलग-अलग नामकरण किये हैं—

मूत्राघात Suppression of urine—इसमें मूत्र कम बनता है।
मूत्रावरोध Retention of urine—इसमें मूत्र रुक जाता है।
मूत्रकृच्छ्र Dysurea—इसमें बूंद-बूंद कर कष्ट के साथ मूत्र निकलता है।

प्रमुख सन्दर्भ—

चरकसंहिता, चिकित्सा स्थान—26
सुश्रुतसंहिता, उत्तर तन्त्र—56
अष्टांगहृदय, चिकित्सा स्थान—22
माधवनिदान—30

मूत्रकृच्छ्र—मूत्र की कष्टप्रद प्रवृत्ति (Painful micturition) को ही मूत्रकृच्छ्र कहते हैं।

निदान—

	मूत्राशयगत कारण	**मूत्रप्रणालीगत कारण**	**अन्य कारण**
Pathological causes	1. तीव्र या जीर्ण मूत्राशय कला शोथ (Acute or chronic cystitis)	1. औपसर्गिक मेह (Ganorrhoea)	अर्श (Piles)
	2. फिरंग खञ्जता (Tabes dorsalis)	2. मूत्रप्रसेक शोथ (Urethritis)	
	3. अश्मरी (Stones)		
Physiological causes	1. दोषापस्मार (Hysteria)		1. अत्यधिक मद्यपान व्यायाम,
	2. मूत्र की पराम्लता (Hyperacidity)		वातिक आहार (Excessive alcohal intake and exercise)
Anatomical causes		शिश्नगत मूत्रमार्ग में उपसंकोच (Urethral stricutre)	

चरक के अनुसार निदान[1]—अधिक व्यायाम, तीक्ष्ण औषध, रूक्ष पदार्थ, अत्यधिक मद्यपान से, अभ्यास एवं तेज चलने वाले घोड़े आदि पर नित्य सवारी

1. व्यायामतीक्ष्णौषधरूक्षमद्यप्रसङ्गनित्यद्रुतपृष्ठयानात्।
आनूपमांसाध्यशनादजीर्णात्स्युर्मूत्रकृच्छ्राणि नृणामिहाष्टौ। (च. चि. 26/32)

करने से, आनूप जन्तुओं के मांस सेवन करने से, अध्यशन से तथा अजीर्ण से मनुष्यों में आठ प्रकार के मूत्रकृच्छ्र उत्पन्न हो जाते हैं।

दोष—त्रिदोष-वातप्रधान

दृष्य—मूत्र, मूत्रमार्ग

अधिष्ठान—वस्ति, मूत्रमार्ग

सम्प्राप्ति—निदान → वातादि दोष प्रकोप → वस्ति → मूत्रमार्ग में क्षोभ → **मूत्रकृच्छ्र।**

मूत्रकृच्छ्र के भेद

भेद नाम	लक्षण
1. वातिक (Neurogenic or Traumatic dysuria)	वंक्षण पीड़ा, वस्ति पीड़ा, मेढ्रपीड़ा, थोड़ी-थोड़ी मात्रा में बार-बार मूत्रत्याग
2. पैत्तिक (Acute urinary tract infection)	पीतवर्ण का सरक्त, सरूजा, सदाह, थोड़ा-थोड़ा बार-बार मूत्रत्याग
3. कफज (Subacute urinary tract infection)	बस्ति शोथ, लिङ्ग शोथ, गुरु व पिच्छिल मूत्रत्याग
4. अभिघातज (Accidental damage of urinary tract)	वातिक मूत्रकृच्छ्र वाले लक्षण
5. सन्निपातज (Acute/Chronic urinary infection)	उपरोक्त सभी लक्षण हो सकते हैं।
6. शकृत जन्य (Dysurea due to severe constipation)	आध्मान, वातिक शूल, मूत्रावरोध
7. शुक्रज (Stagnation of semen)	सशुक्र मूत्रत्याग, वस्ति पीड़ा, मेढ्र पीड़ा
8. अश्मरी (Urinary calculus)	मूत्राश्मरी, हृत्पीड़ा, कम्पन, कुक्षिशूल

मूत्रकृच्छ्र और मूत्राघात में भेद

मूत्रकृच्छ्र—

1. मूत्रत्याग करने में अत्यधिक कष्ट, लेकिन विबन्ध (रुकावट) अल्प होता है।
2. इसमें मूत्र बनता रहता है, लेकिन बाहर निकलने में कष्ट होता है।
3. जैसे—गोनोरिया।

मूत्राघात—

1. मूत्राघात में मूत्र का विबन्ध अधिक, लेकिन कृच्छ्रता (कष्ट) अल्प होती है।
2. मूत्राघात में मूत्र की प्रवृत्ति सर्वथा नहीं होती।

3. जैसे—हैज़ा।

चिकित्सा-सूत्र

1. व्यायाम, तीक्ष्ण वस्तु सेवन आदि का त्याग करें।
2. अभ्यंग, स्नेहन, निरूहण वस्ति, उपनाहस्वेद, परिषेक।
3. मूत्रल औषध—गोखरू, पुनर्नवा, शतावर, पञ्चतृण, इक्षु आदि एवं समभाग दूध और जल, लस्सी, शर्बत पिलाएँ।
4. मूत्रविरजनीय द्रव्य का क्वाथ दिन में तीन बार लें।
5. मूत्रविरेचनीय द्रव्य का क्वाथ दिन में चार बार लें।

वातज मूत्रकृच्छ्र-चिकित्सा—

- महानारायण तेल, महामाष तैल अथवा महामरिचादि तैल अभ्यंग।
- महानारायण तेल 20 मि.ली. दूध में सुबह-सायं पिलायें।
- वातघ्न तेलों की उत्तर बस्ति।
- वातघ्न द्रव्यों से सिद्ध तेलों की अनुवासन बस्ति।

चिकित्सा—

1. पुनर्नवादि मिश्रक स्नेह—एरण्डमूल, शतावर, पाषाणभेद, दोनों पञ्चमूल, कुलथी, खट्टी बेर, जौ—इनके क्वाथ व कल्क में सेंधा नमक डालकर तिल तेल व घृत मिलाकर स्नेहपाक करें। 10-20 ग्राम मात्रा में दो बार दूध में मिलाकर पिलाएँ।
2. गोखरू क्वाथ 100 मि.ली. + 2 ग्राम जवाखार (दिन में तीन बार)।
3. जवाखार 1 ग्राम + चीनी 1 ग्राम।
4. अमृतादि क्वाथ 100 मि.ली.
5. दाड़िम योग—खट्टा अनार+सोंठ+भूना जीरा+नमक—इनका समभाग चूर्ण 2-2 ग्राम (दिन में तीन बार)।

व्यवस्था-पत्र—

1. मूत्रकृच्छ्रान्तक रस—200 मि.ग्रा. (दो बार) मधु से।
2. सुबह 8 बजे अमृतादि क्वाथ—100 मि.ली. (एक बार)।
3. दोपहर को त्रिकण्टकादि घृत—15 ग्राम (एक बार) दूध से।
4. 9 बजे व 4 बजे दिन में श्वेत पर्पटी— 6 ग्राम (दो बार) चीनी के शर्बत से।

पित्तज मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा—

- शीतल द्रव्य के क्वाथ से परिषेक व अवगाहन।
- श्वेतचन्दनादि शीतल द्रव्यों का वस्ति स्थान में प्रदेह।
- शीतल वस्ति व विरेचन।

- शतावर, गोखरू से सिद्ध दूध पिलाएँ।
- ग्रीष्म ऋतुचर्यानुसार आहार-विहार योजना।

चिकित्सा—

1. अंगूर का रस या मुनक्के का क्वाथ (दिन में तीन-चार बार)।
2. वासाघृत 10-15 ग्राम (दिन में दो बार)।
3. शतावर्यादि क्वाथ चीनी मिलाकर पिलाएँ।
4. एर्वारूबीजादि चूर्ण—इसे चावल के पानी के साथ पीसकर।
5. बृहद् धात्र्यादि क्वाथ 100 मि.ली. + 20 ग्राम चीनी (दो बार)।
6. आँवला चूर्ण 3 ग्राम ठण्डे जल से 3-4 बार दिन में।

व्यवस्था-पत्र—

1. चन्द्रकलारस—500 मि.ग्राम (दो बार) आँवला चूर्ण से।
2. 7 बजे शाम को शतावर्यादि क्वाथ 100 मि.ली.।
3. दोपहर 3 बजे शतावर्यादि घृत 10-20 ग्राम दूध के साथ।
4. 12 बजे और 6 बजे श्वेतपर्पटी 6 ग्राम (दो बार) चीनी मिलाकर जल से।

कफज मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा—

- क्षार, उष्ण, तीक्ष्णौषध व अन्नपान सेवन
- स्वेदन
- वमन, निरूहण बस्ति

चिकित्सा—

1. व्योषादि चूर्ण दो-दो ग्राम सुबह-शाम मधु से चटाकर गोमूत्र से पिलाएँ।
2. प्रवाल भस्म 250 मि.ग्राम चावल के धोवन से रोज तीन बार।
3. शितिवार बीज चूर्ण दो ग्राम मट्ठे से सुबह-शाम।
4. सप्तच्छदादि क्वाथ 100 मि.लि. सुबह-शाम।

व्यवस्था-पत्र—

1. मूत्रकृच्छ्रान्तक रस—500 मि.ग्राम (दो बार)।
2. व्योषादि चूर्ण—5 ग्राम (एक बार सुबह 9 बजे) गोमूत्र से।
3. दो बजे पाँच बजे श्वेतपर्पटी—6 ग्राम (दो बार) चीनी मिले जल से।

त्रिदोषज मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा—

- वातप्रधान में वस्ति।
- पित्तप्रधान में विरेचन।
- कफप्रधान में वमन।

चिकित्सा—

1. गन्ने का रस + आँवलास्वरस या चूर्ण सुबह-शाम।
2. वरुणादि क्वाथ सुबह-शाम।
3. वरुण छाल क्वाथ + गुड़ (दो बार)।

व्यवस्था-पत्र—

1. तारकेश्वर रस (तीन बार) 1 ग्राम गूलर फल चूर्ण 5 ग्राम + मधु से।
2. भोजनोपरान्त चन्दनासव (एक बार) 20 मि.ली. जल से।
3. गोक्षुरादि गुग्गुल (दो बार) 2 ग्राम जल से।

शल्याभिघातज मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा—

1. जीवनीयगण का कल्क या चूर्ण दूध से।
2. विदारीकन्द स्वरस या चूर्ण 2 ग्राम गन्ने के रस से दो बार।
3. गोक्षुर घृत 5-10 ग्राम दूध से दो बार।
4. चमेली पत्र क्वाथ मधु से दो बार।

शकृद विघातज मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा—

- अभ्यंग, स्वेदन, वातानुलोमन उपचार।
- उपनाह स्वेदन।
- वातानुलोमन चिकित्सा।

चिकित्सा—

1. एरण्ड तेल आदि का स्निग्ध विरेचन।
2. वचादि चूर्ण 3 ग्राम 4 बार सुखोष्ण जल से।

अश्मरी-शर्करज मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा—

- त्रिदोषशामक व शोधन चिकित्सा।
- स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, वस्ति प्रयोग।
- लंघन, जलावगाहन।
- शल्यकर्म।

चिकित्सा—

1. वरुणादि क्वाथ दो बार।
2. एलादि क्वाथ 100 मि.ली. शुद्ध शिलाजीत—1/2 ग्राम।
3. मधु 6 ग्राम। चीनी 5 ग्राम (दो बार)।
4. पाषाणभेदादि चूर्ण 3 ग्राम (दो बार)।
5. गोखरू बीज चूर्ण—5 ग्राम मधु—10 ग्राम (दो बार) बकरी के दूध से।

सिद्ध योग—

1. त्रिविक्रम रस, पाषाणवज्र रस, वरुणादि लौह, त्रिनेत्र रस।
2. पाषाणभेदादि चूर्ण, चन्द्रप्रभावटी, गोक्षुरादि गुग्गुल, गोक्षुराद्यवलेह।

शुक्रज मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा—

1. शुद्ध शिलाजीत—500 मि.ग्रा. चीनी—5 ग्राम (दो बार) दशमूल क्वाथ से।
2. शतावर्यादि क्वाथ—100 मि.ली. (दो बार) चीनी से।
3. एलादि क्वाथ—100 मि.ली. दो बार।
4. स्त्रीसंभोग।

रक्त मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा—

- चिकित्सा पैत्तिक मूत्रकृच्छ्र-सदृश।

चिकित्सा—

1. गन्ने का रस पीना व खीरा खाना हितकर।
2. दुरालभादि क्वाथ—100 मी.लि. चीनी से सुबह शाम।
3. आँवला व रसौंत का क्वाथ।
4. शतावर व गोखरु से क्षीरपाकविधि से पकाया दूध।
5. भोजनोत्तर उशीरासव या लोध्रासव 20 मि.ली. जल से।

मूत्रकृच्छ्रता में पथ्य-अपथ्य सेवन—

पथ्य—पुराने चावल, जांगल पशु पक्षियों का मांस, मूंग का यूष, शक्कर, मट्ठा, गोदुग्ध पेठा, परवल, खरबूजा, ककड़ी, खीरा, खजूर, नारियल, चौलाई आँवला, घी।

अपथ्य—मद्यपान, परिश्रम, मैथुन, हाथी-घोड़े की सवारी, विरुद्ध भोजन, विषम भोजन, ताम्बूक, मछली, नमक, अदरक, तिल का तिलकूट, उड़द, लाल मिर्च, विदाह और रूक्ष द्रव्य।

34 मूत्राघात

दोष, धातु एवं मल शरीर में समान रूप में रहते हुए अपने-अपने प्राकृत कर्मों को करते हैं। लेकिन जब ये विकृत होते हैं तो अनेक रोगों को उत्पन्न करते हैं। यद्यपि सभी रोगों की उत्पत्ति के प्रधान हेतु वातादि दोष ही हैं तथापि धातु एवं मल भी रोगोत्पत्ति में प्राधान्येन सहायक होते हैं। मल शारीरिक विषों अथवा त्याज्य तत्त्वों को शरीर से बाहर निकालने का कार्य करते हैं। मलों में मूत्र और पुरीष प्रमुख हैं। त्याज्य तत्त्वों को उत्सृष्ट करने वाले मूत्र का अपना प्राकृत स्वरूप है। मूत्रवह स्रोतस् में वस्ति और वंक्षण मूल हैं। मूत्रविकारों का प्रमुख अधिष्ठान वस्ति को माना गया है। जब मूत्रवह स्रोतों में विकार होते हैं तब प्रायः मूत्र में ही अधिक विकृति मिलती है। मूत्रवह स्रोतस् की अपनी विकृतियों में संग प्रधान घटना होती है। यह संग वृक्कों में मूत्र का न छनना या कम छनना, वस्ति का संकोच न कर सकना, वंक्षण में शोथ तथा अश्मरी के कारण—इन अवस्थाओं में होता है। मूत्ररोगों का वर्णन 8 प्रकार के मूत्रकृच्छ्र, 13 प्रकार के मूत्राघात, 4 प्रकार के अश्मरी तथा 20 प्रकार के प्रमेहों के माध्यम से किया गया है।

प्रमुख सन्दर्भ—

चरकसंहिता, सिद्धि स्थान अध्याय—9
सुश्रुतसंहिता, उत्तर तन्त्र अध्याय—58
माधवनिदान अध्याय—32

परिभाषा[1]—मूत्राघात का अर्थ है—मूत्र का अवरोध हो जाना अर्थात् मूत्र के वस्ति में उपस्थित रहने पर भी उसका त्याग या प्रवृत्ति न होना।

निदान[2]—

1. अपान वायु आदि के वेगों को रोकने से।
2. पुरीष शुक्र के वेग को रोकने से।
3. राजयक्ष्मा जीवाणुओं का आक्रमण वस्ति पर हो सकता है, जिससे छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ बन जाती हैं। जिनमें क्षत बन जाते हैं। मूत्रकृच्छ्रता के साथ रक्त मिश्रित

1. मूत्राघातो मूत्रावरोधः। (डल्हण)
2. जायन्ते कुपितैर्दोषैः मूत्राघातास्त्रयोदशः।
प्रायो मूत्रविघाताद्यैर्वातकुण्डलिकादयः।। (मा.नि. 31/1)

मूत्र आता है, जिसमें राजयक्ष्मा के जीवाणु मिलते हैं।

4. जीवाणुओं का संक्रमण होने से मूत्रवह स्रोतस् में शोथ होने पर मूत्राघात हो जाता है।

5. वृक्कों की विकृति—वृक्क शोथ।

6. वस्ति की विकृति—वस्ति शैथिल्य।

7. गवनियों और मूत्र मार्ग में अवरोध—शोथ।

8. पौरुष ग्रन्थि का दबाव—पौरुष ग्रन्थि वृद्धि, अश्मरी।

सम्प्राप्ति'—

मल-मूत्रविघाताद्यैः रुद्धो दुष्टेन वायुना।
मूत्रोत्सर्गः शनैर्याति मूत्राघातः स उच्यते॥

मल-मूत्रादि को रोकने से वस्तिगत वात का प्रकोप हो जाता है, जिससे मूत्र-निर्माण में रुकावट आती है तथा मूत्र रुक कर धीरे-धीरे आता है। मूत्राघात में मूत्र का विबन्ध अधिक तथा कृच्छ्रता कम होती है।

निदान—

वस्तिगत वातप्रकोप

मूत्रनिर्माण में रुकावट — मूत्रत्याग रुक-रुक कर

मूत्राघात

सम्प्राप्ति घटक—

दोष : वात प्रधान (त्रिदोष)

दूष्य : मूत्र

अधिष्ठान : वस्ति

मूत्राघात—

1. Retention of urine
2. Suppression of urine (Oliguria)

1. वातकुण्डलिका
2. वातवस्ति
3. मूत्रोत्सङ्ग
4. मूत्र जठर
5. मूत्रातीत
6. वस्ति कुण्डल
7. अष्ठीला
8. मूत्र ग्रन्थि
9. उष्णवात
10. मूत्र शुक्र
11. विड्विघात
12. मूत्रक्षय

लक्षण—

सामान्य लक्षण—इस रोग में मूत्र का अवरोध विशेषतया होता है, किन्तु साथ में कृच्छ्र भी अल्प मात्रा में रहता है।

विशिष्ट लक्षण—

भेद	लक्षण
1. वातकुण्डलिका	वस्ति पीड़ा थोड़ी-थोड़ी मात्रा में सकष्ट मूत्रत्याग
2. अष्ठीला	आध्मान, वात मल मूत्र का अवरोध
3. वातवस्ति	मूत्रावरोध, कण्डू, वेदना
4. मूत्रोत्सङ्ग	मूत्र के रुकने से मूत्रेन्द्रिय में पीड़ा
5. मूत्र जठर	वेदना, आध्मान, मूत्रावरोध
6. मूत्रातीत	
7. वस्तिकुण्डल	दाह, शूल, भारीपन, सूजन, मूत्र में गाढ़ापन व मूत्र का सफेद वर्ण
8. मूत्र ग्रन्थि	वस्तिमुख के भीतर
9. उष्ण वात	मूत्राशय, लिंग एवं गुद में दाह, मूत्र हल्दी के रंग का अथवा रक्त युक्त अथवा केवल रक्त की कष्ट से प्रवृत्ति
10. मूत्रशुक्र	मूत्रवेग के रहते स्त्रीप्रसंग से मूत्र में उपस्थिति
11. विड्विघात	मलयुक्त मूत्र का कष्ट से त्याग, मूत्र से मल समान दुर्गन्ध
12. मूत्रसाद	कष्टपूर्वक पीला, सफेद, लाल गाढ़ा मूत्रत्याग, जलन,
13. मूत्रक्षय	पीड़ा, दाह, वात के द्वारा मूत्र का सूखना

मूत्राघात का चिकित्सा-सूत्र

1. रोगी को स्नेहन स्वेदन कराकर एरण्ड तैलादि का स्निग्ध विरेचन दें।
2. आस्थापन-अनुवासन उत्तरवस्ति प्रयोग हितकर है।
3. रोगी के बलाबलानुसार कषाय, क्षार, घृत, अवलेह आदि प्रयोग।
4. सुरा में पर्याप्त काला नमक मिलाकर सेवन करें।
5. एला चूर्ण 1/2 ग्राम आँवला रस से।
6. मूत्रविरजनीय, मूत्रशोधनीय, मूत्रविरेचनीय द्रव्यों का चूर्ण या क्वाथ के रूप में।
7. पित्तप्रधान मूत्राघातों में शीतल पित्तघ्न क्वाथ का अतिसेवन शीतल द्रव्यों का नाभि पर लेप।
8. शतावरी, गोक्षुर, विदारी, पञ्चतृणमूल के क्वाथ में चीनी डालकर 100 मि.ली. दिन में तीन चार बार।
9. मिश्रक स्नेह प्रयोग हितकर है।

सामान्य चिकित्सा—

बाह्य उपचार—

1. कुन्दरु लता की जड़ को पानी में पीसकर पेडू पर लेप।
2. वनचौलाई पीसकर गर्म करके लेप।

3. केवल गर्म जल या सुखोष्ण तेल धारा पेडू पर गिराना।
4. मूत्रशलाका से लगातार मूत्र निकालना।

आभ्यन्तर उपचार—

1. ककड़ी : 25 ग्राम + 200 मि.ली. काञ्जी।
   सैन्धव लवण : 25 ग्राम।
2. अशोक बीज चूर्ण : 25 ग्राम शीतल जल से।
3. एलाचूर्ण : 500 मि.ग्रा.
   सोठ : 500 मि.ग्रा.
   अनार रस : 1 चम्मच
   1×3, मधु से।
4. वरुणादि क्वाथ : 40 मि.ग्रा. = 1×2, भोजनोपरान्त।
5. उशीरादि चूर्ण : 5 ग्राम = 1×3, मधु से।
6. शिवा गुटिका : 2 ग्राम = 1×2, जल या दूध से।
7. वरुणादि लोह : 2 ग्राम सुबह जल से।
8. भोजनोत्तर : उशीरासव या चन्दनासव 25 मि.ली.
   एला चूर्ण : 500 मि. ग्रा. = दुगुने जल से।

विशिष्ट चिकित्सा—

1. वातकुण्डलिका, अष्ठीला, वातवस्ति में—
   शुद्ध शिलाजीत : एक ग्राम
   शुद्ध गुग्गुल : एक ग्राम
   चीनी : 20 ग्राम
   दशमूल क्वाथ : 100 मि.ली.
   1×2
2. मूत्रशुक्र व मूत्रोत्संग में—
   शुद्ध शिलाजीत : एक ग्राम
   शुद्ध गुग्गुल : एक ग्राम
   चीनी : 20 ग्राम
   गोक्षुर क्वाथ : 100 मि.ली.
   1×2
3. मूत्रातीत व मूत्रजठर में—
   शुद्ध शिलाजीत : एक ग्राम
   चीनी : 20 ग्राम
   1×2

4. मूत्रग्रन्थि में—
   1. चन्द्रप्रभा वटी : एक ग्राम
      ताजा गोमूत्र : 100 मि.ली.
      1×2
   2. गोक्षुरादि गुग्गुल : एक ग्राम
      पुनर्नवाष्टक क्वाथ : 100 मि.ली.
      1×2

सापेक्ष निदान—

मूत्राघात—

1. इसमें मूत्र का विबन्ध अधिक होता है।
2. इसमें मूत्र की कृच्छ्रता अल्प होती है।
3. मूत्राघातों में कुछ तो मूत्र विबन्ध तथा कुछ मूत्रक्षय-सम्बन्धी रोग लिए जाते हैं।

मूत्रकृच्छ्र—

1. इसमें मूत्र का विबन्ध अल्प रहता है।
2. मूत्र की कृच्छ्रता अधिक होती है।
3. मूत्रकृच्छ्र के अन्तर्गत विशेष रूप से Urinary infection का वर्णन है। इसके अतिरिक्त सहज, अश्मरी इत्यादि भेदों से कुछ आगन्तुज मूत्रकृच्छ्रों का वर्णन है।

व्यवस्था-पत्र—

1. चन्दनासव : 40 मि.ली. = 1×2, समान जल से।
2. श्वेत पर्पटी : 4 ग्राम = 1×2, मिश्री व श्वेत चन्दन से।
3. व्रण मोहन चूर्ण : 4 ग्राम = 1×2, लस्सी से।
4. रात को सोते समय हिग्वादि चूर्ण : 6 ग्राम = 1×1, सुखोष्ण जल से।

पथ्य—दूध, पेठा, यूष, अनार, नारियल, पुराना चावल, ककड़ी, खीरा, आँवला, परवल, कचनार का फूल, खजूर, मिश्री।

अपथ्य—विरुद्ध भोजन, व्यायाम, मार्ग चलना, परिश्रम करना, रूक्ष, विदाही, तीक्ष्ण पदार्थ, विबन्धकारक, मूत्र पुरीष, अपान वायु आदि का अवरोध, मैथुन, वमन।

35 कृमि रोग

कृमि रोग मनुष्य में पाये जाने वाला एक मुख्य रोग है। कृमियों एवं अन्य जीवाणुओं में पाण्डु, ग्रहणी, कुष्ठ, यक्ष्मा आदि रोगों में कारणत्व-संकेत के अतिरिक्त प्राय: सभी संहिताग्रन्थों में अलग से कृमि रोग के निदान चिकित्सा का विस्तृत वर्णन मिलता है, जहाँ विभिन्न प्रकार के कृमियों का वर्गीकरण, उनके हेतु, स्वरूप तथा उनके द्वारा उत्पन्न व्याधियों का वर्णन किया गया है। आचार्य चरक, सुश्रुताचार्य एवं आचार्य वाग्भट ने स्वतन्त्र रूप में अपने ग्रन्थों में कृमियों का वर्णन किया है। आचार्यगण ने स्वतन्त्र तथा व्यक्तिगत तौर पर कृमियों की संख्या 20 बताई है; परन्तु उनमें पाए जाने वाले कृमिभेद एकमत होने पर भी पृथक्-पृथक् कृमियों की गणना की गई है। जैसे आचार्य सुश्रुत ने कृमियों की संख्या तो 20 बताई है; परन्तु उन्होंने बाह्य कृमियों का वर्णन नहीं किया। कृमि रोग का प्रधान दूष्य कफ है। बीस कृमियाँ बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार तथा जन्मभेद से रक्तज, कफज तथा पुरीषज भेद होते हैं। कफज, पुरीषज कृमियाँ वस्तुत: आंत्रकृमि समझना चाहिए। रक्तज कृमियों में अदृश्य रक्त में पहुँचने वाले परजीवी आयेंगे। प्राचीन काल में रक्तज कृमियों को अदृश्य समझा जाता था; पर अब उन्हें सूक्ष्मदर्शी की सहायता से देखा जा सकता है। कृमि से प्रधानत: तीन श्रेणी के रोग हो सकते हैं।

1. जठरान्त्र तथा पोषणज विकार (Gastro-intestinal & nutritional disorders) जो कफज और पुरीषज कृमियों से उत्पन्न होते हैं।

2. पाण्डु जो प्रधानत: पुरीषज कृमियों से उत्पन्न होता है। चरकसंहिता में 'कृमिकोष्ठज पाण्डु या मृत्तिकाज पाण्डु' द्वारा इसी का संकेत मिलता है।

3. कुष्ठ (Leprosy & other dermatosis) जो रक्तज कृमियों से होते हैं। कफज कृमियों का स्थान आमाशय, पुरीषज कृमियों का स्थान पक्वाशय तथा रक्तज कृमियों का स्थान रक्तवाही सिरा बताया गया है। कृमिरोग का चिकित्सा में कृमिघ्न औषधियों के अतिरिक्त हाथ से या औषधियों की सहायता से कृमियों के अपकर्षण का निर्देश दिया गया है। चिकित्सा में निदान परिवर्जन तथा प्रकृतिविघात का वर्णन भी किया गया है। इसे त्रिसूत्री सिद्धान्त कहते हैं। कृमियों की चिकित्सा अत्यावश्यक है, क्योंकि स्वयं एक स्वतन्त्र व्याधि होने के साथ-साथ ये अनेक साध्य तथा असाध्य व्याधियों के निदान भी हो सकते हैं।

प्रमुख ग्रन्थ सन्दर्भ—

1. चरकसंहिता, सूत्रस्थान 16 : अष्टोदरीय।
2. चरकसंहिता, विमान स्थान 7 : व्याधितरूपीय।
3. सुश्रुतसंहिता, उत्तर तन्त्र 54 : कृमिरोग प्रतिशेष।
4. अष्टांगहृदय, निदान 14 : कुष्ठ, श्वित्र, कृमि निदान।
5. अष्टांगहृदय, चिकित्सा 20 : श्वित्र-कृमि चिकित्सा।

1. सामान्य निदान[1]—

सामान्य निदान →
- देश-कालविरुद्ध भोजन
- मात्राविरुद्ध भोजन
- संयोगविरुद्ध भोजन
- दिवास्वप्न
- दूषित जल पीना
- मीठे मालपूये का सेवन
- मीठे एवं खट्टे पदार्थों का अतिसेवन
- लस्सी शर्बत का अति सेवन
- उड़द का अतिसेवन
- गुड़ का अतिसेवन
- व्यायाम न करना

2. विशिष्ट निदान[2]—

1. विरुद्ध भोजन
2. अजीर्ण, भोजन

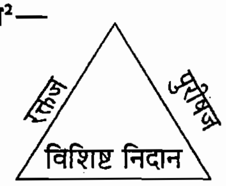

1. पिष्टमय पदार्थ का अतिसेवन
2. उड़द का अतिसेवन
3. दाल एवं पत्ते वाले शाक

मांस, उड़द, दूध, दही, तैल का अतिसेवन

सामान्य लक्षण[3]— **सामान्य निदान**

शरीर के रंग का फीका पड़ना, भ्रम, अंगों में शिथिलता, शूल, ज्वर

विवर्णता, अरुचि और अतिसार, हृदय के रोग

1. अर्जीणभोजी मधुराम्लनित्यो द्रवप्रिय: पिष्टगुडोपभोक्ता।
व्यायामवर्जी च दिवाशयानो विरुद्धभुक् संलभते क्रिमींस्तु।। (मा. नि. 7/4)
2. माषपिष्टान्नविदलपर्णशाकै: पुरीषजा:। मांसमाषगुडक्षीरदधितैलै: कफोद्भवा:।।
विरुद्धाजीर्णशाकाद्यै: शोणितोत्था भवन्ति हि। (सु. उ.-54/17-18)
3. ज्वरो विवर्णता शूलं हृद्रोग: सदनं भ्रम:।
भक्तद्वेषोऽतिसारश्च संजातकृमिलक्षणम्।। (सु. उ. 54/18-19)

कृमि[1]

- सहज (Non-pathogenic)
- वैकारिक (Pathogenic)
  - बाह्य कृमि
    - यूका
    - लिक्षा
  - आभ्यन्तर कृमि[2]

चरक	**सुश्रुत**	**वाग्भट**
(क) बाह्य-2, + आभ्यन्तर-18 = 20 1. कफज-7 2. रक्तज-6 } 18 3. पुरीषज-5	(क) कारण भेद से तीन प्रकार 1. कफज-6 2. पुरीषज-7 } 20 3. रक्तज-7	(क) स्थान भेद—बाह्य, आभ्यन्तर (ख) जन्म भेद— 1. कफज-7 2. रक्तज-7 } 20 3. पुरीषज-5
बाह्य यूका, लिक्षा (2)		यूका, लिक्षा (2)
रक्तज—केशाद, लोमाद, लोम द्वीप, सौरस औदुम्बर, जन्तुमातृ (6)	केशाद, रोमाद, दन्ताद, किक्विश, कुष्ठज परिसर्प (7)	केशाद, लोम विध्वंसक, लोम द्वीप सौरस, औदुम्बर, जन्तुमातृ (6)
कफज—अन्त्राद, उदराद, दर्भपुष्प, महागुद सौगन्धिक, हृदयचर, चुरु (7)	दर्भपुष्प, महापुष्प, प्रलून, चिपिट दारुण पिपीलिका (6)	हृदयचर, चुरु, दर्भ पुष्प, सौगन्धिक महागुद, अन्त्राद, उदराद (7)
पुरीषज—कर्केरूक, मकेरूक लेलिह शूलक, सौसुदार (5)	अजवा, विजवा, किप्य, चिप्य, गण्डूपद चरू, द्विमुख (7)	ककेरूक, मकेरूक, लेलिह, सशूलक सौसुराद (5)

कृमि वर्ग	**निदान**	**कृमिस्वरूप**	**उत्पन्न रोग का लक्षण**
बाह्य कृमि	स्वेदादि मलबाहुल्य[3]	तिल के समान प्रमाण आकृति एवं वर्ण[4]	कोठ, पिडिका, कण्डू, गण्ड[5]

1. क्रिमयश्च द्विधा प्रोक्ता बाह्याभ्यन्तरभेदतः।
बहिर्मलकफासृग्विड्जन्मभेदाच्चतुर्विधाः। (अ. हृ. नि. 14/42)
2. विंशतिविधाः कृमयः पूर्वमुद्दिष्टा नानाविधेन प्रविभागेनान्यत्र सहजेभ्यः, ते पुनः प्रकृतिर्विभज्य-मानाश्चतुर्विधा भवन्ति, तद्यथा—पुरीषजाः, श्लेष्मजाः, शोणितजाः, मलजाश्चेति। (च. वि. 7/9)
3. ....बाह्यास्तत्र मलोद्भवाः।
4. तिलप्रमाणसंस्थानवर्णाः केशाम्बराश्रयाः।
5. बहुपादाश्च सूक्ष्माश्च यूका लिक्षाश्च नामतः।।
द्विधा ते कोठपिडकाकण्डूगण्डान् प्रकुर्वते। (वा. नि.-14/43-44)

कृमि वर्ग	**निदान**	**कृमिस्वरूप**	**उत्पन्न रोग का लक्षण**
आभ्यन्तर कृमि (सामान्य)	अजीर्ण में भोजन, अग्निमांद्य द्रव अति सेवन, विरुद्ध भोजन, मधु, अम्ल, पिष्टमय पदार्थों का अतिसेवन, विरुद्धाहार[1]	कफज प्रकृति और कफकारक होते हैं	ज्वर, विवर्णता, शूल, हृदय रोग अंगों में शिथिलता, भ्रम, अरुचि, अतिसार[2]
कफज कृमि	मांस, मत्स्य, गुड़, क्षीर, दधि, एवं शुक्त के सेवन से[3]	पतले, लम्बे, सूक्ष्म, श्वेत या ताम्र वर्णीय[4]	हृल्लास, लालास्राव, अविपाक, अरुचि, पीनस, मूर्च्छा, छर्दि, ज्वर, आनाह, कार्श्य, क्षवथु[5]
रक्तज कृमि	विरुद्धाशन, अजीर्णाशन, शाक सेवन	अणु, अपाद, वृत्त, अतिसूक्ष्म, ताम्र वर्णीय, पक्वाशयस्थित	कुष्ठ[6]
पुरीषज कृमि	माष, पिष्ट, अम्ल, लवण, गुड़, शाक	पृथु, वृत्त, तनु, स्थूल, श्याव, पीत[7]	विड्भेद, शूल, विष्टम्भ, कार्श्य, पारुष्य, पाण्डुता, रोमहर्ष, अग्निसाद, गुदकण्डू[8]

1. अजीर्णभोजी मधुराम्लनित्यो द्रवप्रियः पिष्टगुडोपभोक्ता। (वा. नि. 14/45)
व्यायामवर्जी च दिवाशयानो विरुद्धभुक् संलभते कृमींस्तु।। (मा. नि. 7/4)
2. ज्वरो विवर्णता शूलं हृद्रोगः सदनं भ्रमः।
भक्तद्वेषोऽतिसारश्च संजातक्रिमिलक्षणम्।। (सु. उ. 54/18)
3. माष-पिष्टाम्ल-लवणगुडशाकैः पुरीषजाः।
मांसमत्स्यगुडक्षीरदधिशुक्तैः कफोद्भवाः।।
विरुद्धाजीर्णशाकाद्यैः शोणितोत्था भवन्ति हि। (सु. उ. 54/17)
4. कफादामाशये जाता वृद्धाः सर्पन्ति सर्वतः। (अ. हृ. नि. 14/47)
5. हृल्लासमास्यस्रवणमविपाकमरोचकम्।
मूर्च्छाच्छर्दिज्वरानाहकार्श्यक्षवथुपीनसान्। (अ. हृ. नि. 14/50)
6. रक्तवाहिसिरास्थानरक्तजा जन्तवोऽणवः।
षट् ते कुष्ठैककर्माणः सहसौरसमातरः।। (अ. हृ. नि. 14/51-52)
7. पक्वाशये पुरीषोत्था जायन्तेऽधोविसर्पिणः। (अ. हृ. नि. 14/53)
8. विड्भेदशूलविष्टम्भकार्श्यपारुष्यपाण्डुताः।
रोमहर्षाग्निसदनं गुदकण्डूर्विमार्गगाः।। (अ. हृ. नि. 14/56)

चिकित्सा-सूत्र

1. रक्तज कृमियों की चिकित्सा कुष्ठ रोग की चिकित्सा के समान करनी चाहिए।

2. कफज कृमियों की प्रधानता में विशेष रूप से शिरोविरेचन, नस्य, वमन और विरेचन, निदान परिवर्जनपूर्वक शमन चिकित्सा करें।

3. पुरीषज कृमियों में विशेषकर बस्ति तथा विरेचन का प्रयोग करें।

त्रिसूत्री सिद्धान्त[1]—

कृमियों के प्राकृतिक वातावरण का विघटन

1. शिरोविरेचन : शिरोगत कृमि
2. वमन : आमाशयगत कफज कृमि
3. विरेचन : पुरीषज कृमि
4. आस्थापन : मलज कृमि

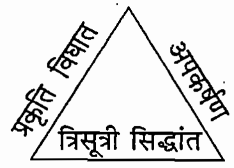

चिकित्सा—

1. **शिर, हृदय, नासिका आदि की कृमियाँ**—आचार्य चरक ने कफज कृमियों की चिकित्सा करने में अधिक मात्रा में नस्य, वमन तथा शमन के लिए औषध प्रयोग कहा है।

2. **शीर्षादि कृमि**—शिर को खाने वाले कृमि जब बढ़ जायँ और शिर के भीतर चलते हुए जान पड़ें तो सिर का स्नेहन, स्वेदन करके अपामार्ग तण्डुलादि शिरोविरेचन का प्रधमन नस्य देकर शिरोविरेचन कराना चाहिए।

3. **प्रधमन नस्य**—अश्व के पुरीष का रस निचोड़कर उसे सुखाकर भावना देकर सुखाकर रख लें। इसे शिरोगत कृमियों के प्रधमन के लिए प्रयोग करें।

4. **अञ्जन आदि**—शिर, हृदय, नासिका, कान और नेत्र में स्थित कृमियों को नष्ट करने के लिए विशेष रूप से निर्मित नेत्राञ्जन, नस्य, अवपीड़-नस्य, गण्डूष एवं कवल प्रयोग करें।

5. **रोमादि, केशादि, दन्तादि कृमि**—इनकी चिकित्सा इन्द्रलुप्त रोगनाशक उपचार से करें। जैसे हाथी दांत के बुरादे को निर्धूम अग्नियुक्त चूल्हे पर तवे के ऊपर रखकर मिट्टी के कसोरे से ढक दें और जब वह जलकर कोयला बन जाय तो उसे समभाग रसौंत के साथ रगड़ कर मिला दें। इस लेप से झड़े हुए बाल पुनः उग आते हैं।

1. तत्र सर्वक्रिमीणामपकर्षणमेवादितः कार्यं, ततः प्रकृतिविघातः। अनन्तरं निदानोक्तानां भावनामनुपसेवनमिति। (च. वि. 7/14)

6. **आचार्य वाग्भट के अनुसार**—कृमिज शिरोरोग में रोगी को रक्त का नस्य दें, क्योंकि रक्त की गन्ध से मन्दोमत्त होकर कृमि मूर्च्छित हो जाते हैं। जब रुग्ण को कट्फल चूर्ण या मरिच का क्रमशः नस्य एवं धूम दिया जाता है तो कृमियाँ नाक से या मुखमार्ग से निकल जाती हैं। उसके बाद कड़वे तेल, नीम तेल अथवा हिंगोट तेल का अलग-अलग नस्य दें।

7. **अंकुशमुख कृमि** (Hook worm)—स्वर्णक्षीरी के जड़ की छाल का कल्क 3 ग्राम और 5 दाने काली मिर्च का चूर्ण समान गुड़ मिलाकर दिन में ऐसी तीन मात्रा 3 दिन तक देकर चौथे दिन प्रातः इच्छाभेदी रस दो रत्ती शर्बत के साथ पिलाने से विरेचन होकर कृमियाँ बाहर निकल जाती हैं।

8. **गण्डूपद कृमि** (महागुदा)—1. पलाश बीज चूर्ण 4 ग्राम के शर्बत में घोलकर सुबह-शाम पिलाना चाहिए। (अथवा) 2. देसी अजवायन का तीन ग्राम चूर्ण समान गुड़ के साथ 1-2 सप्ताह तक देने से कृमियों की परम्परा समाप्त हो जाती है। तीसरे दिन रात में कोई दस्तावार दवा भी देते रहना चाहिए।

9. **स्फीत कृमि** (उदरावेष्टन)—1. वायविडंग चूर्ण-3 ग्राम समान भाग गुड़ के साथ दिन में तीन बार। (अथवा) 2. अनारदाने के बीज का चूर्ण और गुड़ प्रत्येक तीन-तीन ग्राम दिन में तीन बार कुछ दिनों तक देने से ये नष्ट हो जाते हैं।

10. **तन्तु कृमि** (चुरू)—कबीला चूर्ण 2-3 ग्राम बराबर गुड़ के साथ दिन में तीन बार तक रहने से ये कृमि बाहर निकल जाते हैं।

रक्त, त्वचा, श्लैष्मिक कला और लसीका ग्रन्थियों में स्थित कृमियों की औषध—

1. रसकपूर	5. हरताल	9. बाकुची	13. खदिर
2. पारद	6. स्वर्ण	10. दालचीनी	14. गुग्गुल
3. गन्धक	7. ताम्र	11. छितवन	15. चित्रकमूल
4. हिंगुल	8. कासीस	12. सरफोंका	16. नीम इत्यादि

कृमिघ्न तथा कृमिविकारनाशक औषधियाँ—

1. स्वर्णभस्म	4. शंख भस्म	7. प्रवाल	10. रसौन
2. कासीम भस्म	5.मुक्ता भस्म	8. टंकन	11. छितवन
3. शुक्ति भस्म	6. वराट भस्म	9. निम्ब	12. इन्द्रज

कृमिघ्न और रेचक द्रव्य—उदर के कृमियों को मार कर बाहर निकालने वाली औषधियों में तीन द्रव्य प्रमुख हैं—

1. कबीला—यह कृमिघ्न और रेचक है। इसे 4-5 ग्राम की मात्रा में बराबर गुड़ के साथ मिलाकर दिया जाता है।

2. इन्द्रायण—यह अतिविरेचन कृमिघ्न है। जलोदर और शोथ में इसके प्रयोग से जलीयांश निकालकर रोग का शमन होता है। इसका चूर्ण 3-4 ग्राम देना चाहिए।

3. उशारेवन्द—यह तीव्रविरेचक और कृमिघ्न है। इसकी मात्रा 100-200 मि. ग्राम है। इसे शर्बत में मिलाकर देना चाहिए। इसको खिलाने पिलाने के बाद मुख में इलायची रखवायें।

कफज और पुरीषज कृमिनाशक एकल द्रव्य—

1. करञ्ज
2. अजवायन
3. वायविडंग
4. पलाशबीज
5. सहिजन बीज
6. कबीला
7. कचूर
8. भिलावा
9. कुचला
10. डीकामाली
11. नीम बीज
12. सिंधुवार
13. मूषाकर्णी
14. अपामार्ग
15. धतूरा
16. इन्द्रज
17. सुपारी
18. काली मिर्च
19. मालकंगनी
20. अनारदाना

प्रसिद्ध सिद्ध औषध योग—

1. भद्रमुस्तादि क्वाथ
2. पारसीयादि चूर्ण
3. विडंगादि चूर्ण
4. कृमि मुद्गर रस
5. कृमिकालानल
6. कृमिकुठार रस
7. विडंगारिष्ट
8. मुस्तकारिष्ट
9. कीटारि रस इत्यादि

कृमिज पाचन विकार—

1. पारद घटित पर्पटी योग
2. हिंगुल भस्म
3. शंखभस्म
4. इन्द्रज

कोष्ठबद्धता—

1. हरीतकी चूर्ण
2. निशोथ
3. नीलगिरी तेल
4. एलुआ
5. सप्तपर्ण
6. शिवाक्षार पाचन चूर्ण आदि।

कृमिज ज्वर—

1. वंग भस्म
2. विडंग चूर्ण दो ग्राम
3. ज्वरकेशरी या अग्नितुण्डी

बिबन्ध—

1. इच्छाभेदी रस
2. अश्वक रस
3. नारायण दस

कृमिज पाण्डु—

1. नवायस लौह—1-1 ग्राम सबेरे शाम
2. तात्यादि लौह + विडंग चूर्ण दो ग्राम

कृमि उत्पत्ति एवं विकार-शमनार्थ—

1. वृहद् योगराज गुग्गुल
2. अग्नितुण्डी वटी
3. संजीवनी वटी और वंग भस्म

कृमिज जीर्ण ज्वर—

1. लघु वसन्तमालती
2. सुदर्शन चूर्ण
3. नारायण चूर्ण

संक्रमण निरोधार्थ औषधियाँ—संक्रामण रोग से ग्रस्त रोगी के थूक, कफ, मल-मूत्र और वस्त्र आदि से निकलते हुए कीटाणु श्वासोच्छ्वास क्रिया द्वारा बाहर आए हुए कीटाणु और वातावरण में घूमने वाले कीटाणुओं को नष्ट करने वाले तथा गृह के वायुमण्डल को शुद्ध बनाने के लिए औषध—

1. पारद
2. गन्धक
3. लोहवान
4. गुग्गुल
5. धतूर
6. निम्बपत्र
7. कपूर
8. नीलगिरी तैल
9. तारपीन
10. पिपरमिंट
11. नमक
12. कासीम
13. कार्बोलिक एसिड
14. मिट्टी का तेल

दुर्गन्धनाशक औषधियाँ—

1. तारपीन का तेल
2. फिनाइल
3. कार्बोलिक एसिड
4. सूर्य का ताप
5. अग्नि
6. गुग्गुल
7. राल आदि की धूप दें

पुनःसंक्रमण-निवारण औषधियाँ—

1. सप्तपर्ण का सत्त्व
2. सोमल
3. हरताल
4. रसकपूर
5. स्वर्णभस्म
6. हिंगुल
7. गुग्गुल

रक्तज कृमिनाशक विशिष्ट औषध—

1. गन्धक
2. मंजीठ
3. चोपचीनी
4. सत्यानाशी
5. खैर छाल
6. सप्तपर्ण
7. त्रिफला
8. मुण्डी
9. सारिवा
10. उशवा
11. अमलतास
12. अनन्तमूल आदि

बाह्य कृमिनाशक औषधी—

1. मुर्दाशंख
2. रसकपूर
3. कपूर
4. सोहागा
5. तूतिया
6. गन्धक
7. कत्था
8. गोमूत्र
9. नीलगिरी तेल
10. चकवड़
11. कासमर्द
12. निम्ब पञ्चांग
13. वायविडंग
14. चमेली के पत्ते
15. स्वर्णक्षीरी आदि

व्यवस्था-पत्र—

1. तीन-तीन घण्टे पर चार बार—
   - कृमिमुद्गर रस : 1 गोली
   - कृमिघ्न चूर्ण : 1 ग्राम
   - समान गुड़ के साथ : 4 ग्राम
2. भोजन के पूर्व 2 बार—
   - यवानी षाडव चूर्ण : 6 ग्राम
   - विना अनुपान : योग-2 मात्रा
3. भोजनोत्तर दो बार—
   - विडंगारिष्ट : 20 मि. ली.
   - समान जल से : योग-2 मात्रा
4. रात्रि में—
   - आरोग्यवर्धनी वटी : एक गोली
   - उष्णोदक से : एक मात्रा

●

36 कुष्ठ रोग

चरक के अनुसार दक्ष प्रजापति के यज्ञ में विघ्न पड़ने के कारण सात रोग उत्पन्न हुए थे, इनमें से एक कुष्ठ को माना गया है, जिसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक कथा प्रसिद्ध है; यथा—जब दक्ष प्रजापति के यज्ञ में पार्वती जी ने छलांग लगा दी थी, उस समय उनके पति भगवान् शंकर के कोप से ज्वर उत्पन्न हुआ, ज्वर के संताप से रक्तपित्त की उत्पत्ति हुई। यज्ञ में विघ्न से वहाँ पर उपस्थित लोग इधर-उधर भागने लगे; अतः गुल्म उत्पन्न हुआ। भोजन न मिलने पर लोगों ने अधिक धूमपान किया, जिससे प्रमेह, कुष्ठ की उत्पत्ति हुई। व्याकरण शास्त्र ने कुष्ठ शब्द की निरुक्ति इस प्रकार बताई है, यथा—

कुत्सिते तिष्ठति किंवा कुष्णाति अङ्गम् अङ्गानि वा।

अर्थात् जो शरीरावयवों को कुरूप कर दें अथवा गला-सड़ा दें, उसे कुष्ठ कहते हैं। सुश्रुत ने इसे पापरोग कह कर इसका अत्यन्त भयावह वर्णन इस प्रकार किया है—ब्राह्मणहत्या, स्त्रीहत्या, सज्जनवध, दूसरे का धन लेना इससे इस रोग की उत्पत्ति होती है; अतः इस रोग को कर्मजन्य कहा जाता है। शास्त्र निर्देश के अनुसार जिस रोग का समुचित निर्णय करके और समुचित चिकित्सा की जाने पर भी जो रोग दूर नहीं होता, उसे कर्मज रोग समझना चाहिए। उनकी यह भी मान्यता है कि कुष्ठदोष के कारण जिन माता-पिता का शोणित तथा शुक्र दूषित हो गया हो, उनसे जो सन्तान उत्पन्न होगी, वह भी कुष्ठ रोग से पीड़ित होती है। जब कुष्ठ रोगी चिकित्सा से ठीक नहीं हो पाता तब तपस्या करना दैवव्यपाश्रय चिकित्सा है, जिससे कुष्ठरोग दूर हो जाता है। कुष्ठ रोग में वात, पित्त, कफ या तीन दोष हैं और त्वचा, रक्त, मांस, अम्बु (लसीका) ये दूष्य हैं। कुष्ठ सात प्रकार या (दोषों के अनुसार) 18 प्रकार का है, जिनमें सात प्रकार का महाकुष्ठ और 11 प्रकार के क्षुद्रकुष्ठ का वर्णन देखने को मिलता है। इसे असंख्य भेदयुक्त भी कहा जा सकता है; क्योंकि दोषों की जब अंशांश कल्पना की जाती है तो वे विकारों के अनेक भेद कर डालते हैं। सात प्रकार के महाकुष्ठों में काकणकुष्ठ को छोड़ सभी साध्य माने गये हैं। कुष्ठ रोग एक संक्रामक रोग भी माना गया है। यह कुष्ठ रोगी के स्पर्श से, भोजन साथ करने से वस्त्र, माला आदि धारण करने से कुष्ठ रोग उत्पन्न हो सकता है। कुष्ठ रोग जैसे-जैसे त्वचा से रक्त तथा रक्त से अन्य धातुओं को दूषित करता जाता है, वैसे-वैसे वह असाध्य होता जाता है और त्वचा गहराई तक गल-सड़ जाती है।

प्रमुख सन्दर्भ—

1. चरकसंहिता, निदान स्थान-5
2. चरकसंहिता, चिकित्सा स्थान-7
3. सुश्रुतसंहिता, निदान स्थान-5
4. अष्टांगहृदय, निदान स्थान-14
5. माधवनिदान-49

निदान[1]—

1. विरोधीनि—परस्पर विरोधी अन्नपान करना।
2. आगतां छर्दि—छर्दि वेग होने पर।
3. वेगांश्चान्यान्—वमनादि अधारणीय वेगों को रोकने से।
4. व्यायाममतिसन्तापमतिभुक्त्वा—भोजन कर लेने के बाद अधिक व्यायाम करने अथवा धूप या आग सेंकने से।
5. घर्म-श्रमभयार्तानां शीताम्बुसेविनाम्—धूप, श्रम तथा भय से पीड़ित होने से पसीना आने पर तत्काल शीतल जल को पी लेने से, स्नान कर लेने से।
6. अजीर्णाध्यशिनां—अजीर्ण होने पर पुनः भर पेट भोजन कर लेने से।
7. पञ्चकर्मापचारिणाम्—पञ्चकर्म करते समय अपथ्य सेवन करने से।
8. नवान्नदधिमत्स्यातिलवणाम्लनिषेविणाम्—नये अन्नों से बनाये गये भोज्य पदार्थों के सेवन से, दधि, मछली, नमक, खट्टे पदार्थों के अधिक या निरन्तर सेवन से।
9. व्यवायं चाप्यजीर्णेऽन्ने—भोजन करने के बाद मैथुन करने से।
10. निद्रा च भजतां दिवा—ग्रीष्म ऋतु के अतिरिक्त अन्य ऋतुओं में दिन में सोने से।
11. घर्षयतां—ब्राह्मणों, गुरुजनों एवं पूज्यजनों का अपमान एवं तिरस्कार करने से।
12. पापकर्म च कुर्वताम्—कोई महापाप करने से।

1. विरोधीन्यन्नपानानि द्रव-स्निग्ध-गुरूणि च।
भजतामागतां छर्दिं वेगांश्चान्यान् प्रतिघ्नताम्।। (1)
व्यायाममतिसन्तापमतिभुक्त्वा निषेविणाम्।
घर्म-श्रम-भयार्तानां द्रुतं शीताम्बुसेविनाम्।। (2)
अजीर्णाध्यशिनां चैव पञ्चकर्मापचारिणाम्।
नवान्न-दधि-मत्स्यातिलवणाम्लनिषेविणाम्।। (3)
माष-मूलक-पिष्टान्न-तिल-क्षीर-गुडाशिनाम्।
व्यवायं चाप्यजीर्णेऽन्ने निद्रां च भजतां दिवा।। (4)
विप्रान् गुरून् धर्षयतां पापं कर्म च कुर्वताम्।
वातादयस्त्रयो दुष्टास्त्वग्रक्तं मांसमम्बु च।। (5) (च. चि. 7/4-8)

दोष—वात, पित्त, कफ।
दूष्य—त्वक्, रक्त, मांस, अम्बु (लसीका)[1]
अधिष्ठान—बाह्य रोग मार्ग—विशेषत: त्वचा।

सम्प्राप्ति—विरोधी आहार-विहार → प्रकुपित त्रिदोष, शिथिल त्वचा, रक्त, मांस, लसीका → दूष्यों में स्थानसंश्रित दोष और अधिक दूषित → **कुष्ठ उत्पन्न।**

भेद—

1. सात[2] यथा—

1. वातज 4. वातपित्तज 7. सन्निपातज
2. पित्तज 5. वातकफज
3. कफज 6. पित्तकफज

2. 18 यथा—7-महाकुष्ठ + 11 क्षुद्र कुष्ठ

महाकुष्ठ[3]—

नाम	दोषप्राधान्य	नाम	दोषप्राधान्य
कपाल	वात	किटिभ	वातकफज
औदुम्बर	पित्त	विपादिका	वातकफज
मण्डल	कफ	अलसक	वातकफज
ऋष्यजिह्व	वातपित्त	दद्रु	कफपित्तज
पुण्डरीक	पित्तकफ	पामा (कच्छु)	कफपित्तज
सिध्म	वातकफ	विस्फोटक	कफपित्तज
काकणक	त्रिदोषज	शतारु	कफपित्तज
एककुष्ठ	वातकफज	विचर्चिका	वातपित्तज
चर्मकुष्ठ	वातकफज	चर्मदल	कफपित्तज

1. दूषयन्ति स कुष्ठानां सप्तको द्रव्यसङ्ग्रहः।
अतः कुष्ठानि जायन्ते सप्त चैकादशैव च।। (च. चि. 7/9)
2. कुष्ठानि सप्तधा दोषैः पृथग्द्वन्द्वैः समागतैः।
सर्वेष्वपि त्रिदोषेषु व्यपदेशोऽधिकत्वतः।। (अ. हृ. 14/6)
3. वातेन कुष्ठं कापालं, पित्तेनौदुम्बरं, कफात्।।
मण्डलाख्यं विचर्ची च, ऋष्याख्यं वात-पित्तजम्।
चर्मैककुष्ठं किटिभं सिध्मालस-विपादिकाः।
वात-श्लेष्मोद्भवाः, श्लेष्म-पित्ताद्दद्रु-शतारुषी।
पुण्डरीकं सविस्फोटं पामा चर्मदलं तथा।।
सर्वैः स्यात् काकणं, पूर्वत्रिकं दद्रु सकाकणम्।
पुण्डरीकर्ष्यजिह्वे च महाकुष्ठानि सप्त तु।। (अ. हृ. नि 14/7-10)

पूर्वरूप[1]—

1. त्वचा का अत्यन्त चिकना या खुरदरा होना।
2. पसीने का अधिक अथवा न आना।
3. शरीर के उस अवयव का विवर्ण होना।
4. दाह।
5. खुजली।
6. त्वचा द्वारा स्पर्श का ज्ञान न होना।
7. सुई चुभने की भाँति पीड़ा का होना।
8. कोठों (चकतों) का उभड़ आना।
9. चक्कर आना।
10. व्रणों का शरीर में अधिक उत्पन्न होना।
11. शूल।
12. जो घाव भर गये हों, उनमें बहुत समय तक रूखापन।
13. रोमांच होना।
14. रक्त के वर्ण का काला पड़ जाना।

महाकुष्ठों के लक्षण

कापाल कुष्ठ[2]—काला तथा लाल, कपाल जैसा, रूखा, खुरदरा, बार-बार जिसमें सुई चुभने की जैसी पीड़ा हो।

औदम्बर कुष्ठ[3]—पीड़ा, दाह, लालिमा, चारो ओर से खुजली-युक्त, पीले वर्ण के रोमों से घिरा हुआ गूलर फलसदृश।

मण्डल कुष्ठ[4]—सफेद, लाल, न फैलने वाला, गीला, चिकना, उभारयुक्त, गोल आकृति वाला।

---

1. अतिश्लक्ष्ण-खरस्पर्श-स्वेदास्वेदविवर्णता:।
दाह: कण्डूस्त्वचि स्वापस्तोद: कोठोन्नतिर्भ्रम:।।
व्रणानामधिकं शूलं शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थिति:।
रूढानामपि रूक्षत्वं निमित्तेऽल्पेऽतिकोपनम्।
रोमहर्षोऽसृज: कार्ष्ण्यं कुष्ठलक्षणमग्रजम्। (अ. हृ. नि. 14/11-12)
2. कृष्णारुणकपालाभं यद्रूक्षं परुषं तनु।।
कापालं तोदबहुलं तत् कुष्ठं विषमं स्मृतम्। (च. चि. 7/14)
3. रुग्दाह-राग-कण्डूभि: परीतं रोमपिञ्जरम्।
उदुम्बरफलाभासं कुष्ठमौदुम्बरं वदेत्। (च. चि. 7/15)
4. श्वेतं रक्तं स्थिरं स्त्यानं स्निग्धमुत्सन्नमण्डलम्।।
कृच्छ्रमन्योन्यसंयुक्तं कुष्ठं मण्डलमुच्यते। (च. चि. 7/16)

ऋष्यजिह्व कुष्ठ[1]—कठोर, चारो ओर से लाल वर्ण वाला, भीतर से काले वर्ण का, पीड़ासहित जो देखने में भालू की जीभ के आकार का होता है।

पुण्डरीक कुष्ठ[2]—बीच में सफेद, किनारों से लाल, सफेद कमल की पँखुड़ियों के सदृश।

सिध्म कुष्ठ[3]—सफेद तथा ताम्र वर्ण का, पतला, जिसमें से घिसने या मलने से रूसी जैसी निकलती हो, जो लौकी के फूल के आकार का हो।

काकण कुष्ठ[4]—जिसका वर्ण घुघंची सदृश हो, व्रण पाकयुक्त हो, अत्यन्त पीड़ा हो, वात आदि तीनों दोषों के लक्षण मिलें।

क्षुद्रकुष्ठों के लक्षण[5]

एककुष्ठ (Erythrodermias)—पसीना न आना, जिसकी आकृति मछली के छिलके के सदृश हो।

किटिभ कुष्ठ (Psoriasis) कुष्ठव्रण का स्थान चिकना, काला, खुरदरा, रूखा होता है।

वैपादिक कुष्ठ (Rhagades) इसमें हाथों पैरों का फटना, भयंकर पीड़ा का अनुभव होता है।

अलसक कुष्ठ (Lichen) खुजली-युक्त तथा लाल वर्ण के फोड़ों से घिरा होता है।

---

1. कर्कशं रक्तपर्यन्तमन्त:श्यावं सवेदनम्।।
यदृष्यजिह्वसंस्थानमृष्यजिह्वं तदुच्यते। (च. चि. 7/17)
2. सश्वेतं रक्तपर्यन्तं पुण्डरीकदलोपमम्।
सोत्सेधं च सरागं च पुण्डरीकं तदुच्यते। (च. चि. 7/18)
3. श्वेतं ताम्रं तनु च यद्रजो घृष्टं विमुञ्चति।।
अलाबुपुष्पवर्णं तत्सिध्मं प्रायेण चोरसि। (च. चि. 7/19)
4. यत् काकणन्तिकावर्णं सपाकं तीव्रवेदनम्।।
त्रिदोषलिङ्गं तत् कुष्ठं काकणं नैव सिध्यति। (च. चि. 7/20)
5. अस्वेदनं महावास्तु यन्मत्स्यशकलोपमम्।।
तदेककुष्ठं, चर्माख्यं बहलं हस्तिचर्मवत्।
श्यावं किणखरस्पर्शं परुषं किटिभं स्मृतम्।।
वैपादिकं पाणिपादस्फुटनं तीव्रवेदनम्।
कण्डूमद्भि: सरागैश्च गण्डैरलसकं चितम्।।
सकण्डू-राग-पिडकं दद्रुमण्डलमुद्गतम्।
रक्तं सशूलं सस्फोटं कण्डूमत् यद्गलत्यपि।
तच्चर्मदलमाख्यातं संस्पर्शासहमुच्यते।। (च. चि. 7/21-24)

दद्रुमण्डल कुष्ठ—खुजली एवं लालिमायुक्त फोड़े ऊपर की ओर को उभरे होते हैं।

चर्मदल कुष्ठ (Excoriation)—इसमें ऊपर से लालिमा, भीतर से शूल, खुजली, फूटने पर गलनशील फफोले होते हैं।

पामा या कच्छु कुष्ठ[1] (Scabies)—इसमें अनेक छोटी-छोटी पिड़काएँ होती हैं, फूटने पर स्राव निकलता है। इनमें खुजली, दाह होता है।

विस्फोट कुष्ठ[2] (Bullae)—इसमें काले या लाल वर्ण के तथा पतली त्वचा वाले फफोले निकलते हैं। इनमें दाह और फूटने पर चिपचिपा पंछा निकलता है।

शतारू कुष्ठ (Erythemas)—लाल तथा काले वर्ण के अनेक व्रण, इनमें दाह और पीड़ा होती है।

विचर्चिका कुष्ठ (Eczema)—काले वर्ण की पिड़काएँ निकला करती हैं, इनमें खुजली, फूटने पर स्राव निकलता है।

वातज आदि कुष्ठ[3]

वातज कुष्ठ—खुरदरे, काले, लाल, रूखापन लिये हुए तथा वेदनायुक्त।

पित्तज कुष्ठ—इसमें सड़न, दाह, लालिमा तथा स्राव निकलता है।

कफज कुष्ठ—गीलापन, घनापन, स्पर्श में चिकना, खुजली, शीतलता तथा भारीपन।

सप्तधातुगत कुष्ठ[4]

त्वचा पर दोषों का प्रभाव—

1. त्वचा के ऊपर रूखापन।
2. त्वचा में स्पर्शज्ञान का अभाव।
3. रोमांच का होना।
4. पसीना अधिक आना।

---

1. सूक्ष्मा बह्व्यः पिडकाः स्राववत्यः पामेत्युक्ताः कण्डुमत्यः सदाहाः।
सैव स्पोटैस्तीव्रदाहैरुपेता ज्ञेया पाण्योः कच्छुरुग्रा स्फिचोश्च।। (च. चि. 7/25)
2. स्फोटाः श्यावारुणाभासा विस्फोटाः स्युस्तनुत्वचः।
रक्तं श्यावं सदाहार्ति शतारुः स्याद्बहुव्रणम्।।
सकण्डूः पिडका श्यावा बहुस्रावा विचर्चिका।। (च. चि. 7/26)
3. खरं श्यावारुणं रूक्षं वातात् कुष्ठं सवेदनम्।।
पित्तात् प्रक्वथितं दाह-राग-स्रावान्वितं मतम्।
कफात् क्लेदि घनं स्निग्धं सकण्डू-शैत्य-गौरवम्।।
द्विलिङ्गं द्वन्द्वजं कुष्ठं, त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम्। (मा. नि. 49/23-24)
4. त्वक्स्थे वैवर्ण्यमङ्गेषु कुष्ठे रौक्ष्यं च जायते।।
त्वक्स्वापो रोमहर्षश्च स्वेदस्यातिप्रवर्तनम्। (सु. नि. 5/22)

रक्त पर दोषों का प्रभाव[1]—

1. पूय का निकलना।
2. मुख का बार-बार सूखना।
3. शरीर में खुरदरापन।
4. पिण्डकाओं का निकलना।

मांस धातु पर दोषों का प्रभाव[2]—

1. सुइयों के चुभाने की-सी पीड़ा।
2. शरीर पर फफोलों का निकलना।
3. व्रणों का चिरस्थायी होना।

मेदोधातु पर दोषों का प्रभाव[3]—

1. हाथ पैर की अंगुलियाँ गलने लगती हैं।
2. अंगों की स्वाभाविक वृद्धि में रुकावट।
3. शरीर में फटने की सी पीड़ा।
4. घाव का इधर-उधर फैलना।

अस्थि, मज्जा, धातु पर दोषों का प्रभाव[4]—

1. नासास्थि का गल जाना।
2. आखों में अधिक लालिमा।
3. घावों में क्रिमियों की उत्पत्ति।
4. आवाज का बिगड़ जाना।

रज या वीर्य पर दोषों का प्रभाव[5]—सन्तान भी कुष्ठी होती है।

साध्यासाध्यता[6]—

1. त्वचा, रक्त और मांस में स्थित तथा वात एवं कफ की अधिकता से होने वाला कुष्ठ साध्य है।

---

1. कण्डूर्विपूयकश्चैव कुष्ठे शोणितसंश्रिते।।
बाहुल्यं वक्त्रशोषश्च कार्कश्यं पिडकोद्गमः। (सु. नि. 5/23)
2. तोदः स्फोटः स्थिरत्वं च कुष्ठे मांससमाश्रिते।।
कौण्यं गतिक्षयोऽङ्गानां सम्भेदः क्षतसर्पणम्। (सु. नि. 5/24)
3. मेदःस्थानगते लिङ्गं प्रागुक्तानि तथैव च।।
नासाभङ्गोऽक्षिरागश्च क्षतेषु क्रिमिसम्भवः। (सु. नि. 5/22)
4. स्वरोपघातश्च भवेदस्थि-मज्जसमाश्रिते।। (सु. नि. 5/26)
5. दम्पत्योः कुष्ठबाहुल्याद् दुष्टशोणित-शुक्रयोः।
यदपत्यं तयोर्जातं ज्ञेयं तदपि कुष्ठितम्।। (सु. नि. 5/27)
6. साध्यं त्वग्रक्त-मांसस्थं वात-श्लेष्माधिकं च यत्।
मेदसि द्वन्द्वजं याप्यं, वर्ज्यं मज्जास्थिसंश्रितम्।।
क्रिमि-तृड्-दाह-मन्दाग्निसंयुक्तं यत् त्रिदोषजम्।
प्रभिन्नं प्रस्रुताङ्गं च रक्तनेत्रं हतस्वरम्।।
पञ्चकर्मगुणातीतं कुष्ठं हन्तीह मानवम्। (सु. सू. 33/9)

2. मेदोगत कुष्ठ आदि द्वन्द्वज हो तो याप्य होता है।

3. अस्थिगत, मज्जागत, कृमियुक्त, पिपासायुक्त, दाहयुक्त, मन्दाग्नियुक्त, त्रिदोषज, फटा हुआ, गलिताङ्ग, नेत्र लालिमायुक्त, बोलने की शक्ति से रहित और वमन-विरेचन-निरूह-अनुवासन एवं शिरोविरेचन—इन पञ्चकर्मों से जिस कुष्ठ में लाभ होने की सम्भावना न हो, वह कुष्ठ असाध्य होता है।

किलास या श्वित्र

शरीर के किसी अंग की त्वचा पर सफेद दाग-सफेद-कुष्ठ होने को किलास या श्वित्र कहते हैं।

पर्याय—

श्वित्र : चरण
किलास : चारुण
वारुण : ब्राह्म कुष्ठ

निरुक्ति—

1. किलास—
   (क) किलेन श्वैत्येन असति इति किलासः।
   (ख) किल श्वैत्यक्रीडनयोः।
   (ग) किलति इति किलः।
2. श्वित्र—
   (क) श्वेतते इति श्वित्रम्।
   (ख) श्विता वर्णे (भ्वा. आ. से.)।

श्वित्र तथा किलास कुष्ठ के लक्षण[1]—

दोष—त्रिदोष।
आश्रय स्थान—रक्त, मांस, मेद धातु।
वातज—अरुण वर्ण का।
पित्तज—कमल पत्र की तरह ताम्रवर्ण का, दाहयुक्त, रोमों को गला देने वाला।
कफज—सफेद वर्ण का, घना, भारीपन लिए हुए और खुजलीयुक्त होता है।

1. कुष्ठैकसम्भवं श्वित्रं किलासं वारुणं भवेत्।
निर्दिष्टमपरिस्राावि त्रिधातूद्भवसंश्रयम्।।
वाताद्रूक्षारुणं पित्तात्ताम्रं कमलपत्रवत्।
सदाहं रोमविध्वंसि, कफाच्छ्वेतं घनं गुरु।।
सकण्डुरं, क्रमाद्रक्त-मांस-मेदःसु चादिशेत्।
वर्णेनैवेदृगुभयं कृच्छ्रं तच्चोत्तरोत्तरम्।। (अ. हृ. नि. 14/37-39)

किलास
- दारुण (रक्त धातु आश्रित)
- चारुण (मांस धातु आश्रित)
- श्वित्र (मेदधातु आश्रित)
  - अग्निदग्धज (व्रणज)
  - दोषज
    - आमज (निज) (वातादि दोषों द्वारा उत्पन्न)
    - परज (दूसरे के संस्कारों के सस्पर्श से उत्पन्न)

निदान—

1. झूठ बोलना।
2. किये का उपकार न मानना।
3. देवताओं की निन्दा करना।
4. गुरुजनों का तिरस्कार।
5. इस जन्म और पूर्वजन्म में किये गये पापकर्म।
5. विरोधी अन्नपान।

साध्यासाध्यता[1]—

श्वित्र कुष्ठ जहाँ उत्पन्न हुआ हो, यदि उन स्थानों में—

(क) केश या रोम सफेद हुए हों।
(ख) श्वित्र के धब्बे घने न हों या एक-दूसरे से मिले न हों।
(ग) रोग नया हो, आग से जलने के कारण त्वचा में सफेदी न आयी हो।

यह साध्य कुष्ठ है; अन्यथा असाध्य।

सापेक्ष निदान—

कुष्ठ	**किलास** (श्वेतकुष्ठ)
1. इसमें स्राव होता है।	1. यह स्रावरहित होता है।
2. यह संक्रामक होता है।	2. यह संक्रामक नहीं होता।
3. इसका क्षेत्र त्वचा एवं वात नाड़ियाँ होती हैं।	3. इसका क्षेत्र त्वचा का बाह्यावरण होता है।
4. यह त्रिदोषज होता है।	4. यह प्रायः त्रिदोषज होता है।

1. अशुक्लरोमाऽबहुलमसंश्लिष्टमथो नवम्।
अनग्निदग्धजं साध्यं श्वित्रं वर्ज्यमतोऽन्यथा।।
गुह्य-पाणितलौष्ठेषु जातमप्यचिरन्तरम्।
वर्जनीयं विशेषेण किलासं सिद्धिमिच्छता।। (अ. स. नि. 14/42-43)

कुष्ठ	किलास (श्वेतकुष्ठ)
5. इसका प्रभाव सन्तान पर पड़ता है।	5. सन्तान पर इसका प्रभाव नहीं पड़ता।
6. यह सप्तधातुगत होता है।	6. यह रक्त-मांस-मेदोगत होता है।
7. यह शरीरगत धातुओं का नाश करता है।	7. यह धातुओं का नाश नहीं करता।
8. यह क्रिमिजन्य होता है।	8. इसमें क्रिमि नहीं होते।
9. इसमें अंग सड़-गल जाते हैं।	9. इसमें अंगों का नाश नहीं होता।
10. यह 18 प्रकार का होता है।	10. यह तीन प्रकार का होता है।
11. इसमें वेदना होती है।	11. इसमें वेदना नहीं होती है।
12. यह रोग घातक होता है।	12. यह रोग घातक नहीं होता है।
13. उपेक्षा करने से यह भी असाध्य होता है।	13. लक्षण-विशेष से यह भी असाध्य होता है।

कुष्ठ	विसर्प
1. यह वात-पित्त-कफ द्वारा शरीर के त्वचा, रक्त, मांस और जलीय धातु के दूषित होने से होता है। इसमें द्रव्यसप्तक कारण हैं।	1. यह भी तीनों दोष और त्वचा, रक्त मांस तथा जलीय धातु के दूषित होने से होता है। इसमें द्रव्यसप्तक कारण होते हैं।
2. यह विलम्ब से क्रियाशील, स्थिर एवं निर्बल रक्त-पित्त वाले दोषों के कारण होते हैं।	2. यह शीघ्रकारी विसर्पणशील प्रबल रक्त पित्त वाले दोषों से होता है।
3. इसमें गुरु-देवता आदि का तिरस्कार, असत्य भाषण और पाप कर्म, ये कारण होते हैं।	3. इसमें पाप आदि कारण नहीं है।
4. यह त्रिदोषज होता है।	4. यह एक-एक दोष से भी होता है।
5. यह एक विशिष्ट जीवाणुजन्य रोग है।	5. इसकी उत्पत्ति में द्रव्यसप्तक कारण हैं एवं प्रधान कारण मालागोलाणु (Steptococcus) है।

चिकित्सा-सिद्धान्त

1. वातप्रधान कुष्ठों में घृतपान, कफप्रधान में सर्वप्रथम वमन और पित्तप्रधान में सर्वप्रथम रक्तमोक्षण और विरेचन का प्रयोग करें।

2. अल्प और उथले कुष्ठ में पाछकर सींग से रक्त निकालना चाहिए।

3. अवगढ़ (गम्भीर धातुगत) में सिरावेध द्वारा रक्तमोक्षण करना चाहिए।

4. दोषों को निकालने के लिए तीक्ष्ण प्रयोग हानिकारक है और वात प्रकोपक होता है। अतः बार-बार और धीरे-धीरे दोषों का निर्हरण करना चाहिए।

वमन-15-15 दिन पर	अवपीड़ नस्य-3-3 दिन पर
विरेचन-1-1 माह पर	रक्तमोक्षण-6-6 मास पर करावें

5. विरेचन और रक्तमोक्षण के बाद घृतपान कराना चाहिए, अन्यथा वायु का प्रकोप हो जाता है।

6. जिस कुष्ठ में शस्त्र प्रयोग न किया जा सके अथवा जिसमें त्वचा में शून्यता हो, उनमें रक्त और दोष को निकालने के बाद क्षार का प्रयोग करना चाहिए।

7. पाषाणवत् कठोर, शून्य, स्थिर और पुराने कुष्ठ में विषघ्न औषध पिलाकर विष का लेप करें।

8. संशमन-कुष्ठ की शान्ति के लिए तिक्त और कषाय द्रव्यों का प्रयोग करें।

9. क्षुद्रकुष्ठों में बाह्य और महाकुष्ठों में आभ्यन्तर संशोधन अवश्य करें।

10. निदान परिवर्जन, दोषानुसार संशोधन तथा शमन उपचार तत्परता से करें।

चिकित्सा : बाह्य प्रयोग—

1. **एलादि लेप**—बड़ी इलायची, कूठ, दारुहल्दी, सौंफ, चित्रक, वायविडंग, रसौत और हर्रे बारीक पीसकर जल में मिलाकर लेप करें।

2. **सिद्धार्थक स्नान**—नागरमोथा, मदनफल, आँवला, हर्रे, बहेड़ा, करञ्ज की पत्ती, अमलतास पत्ती, इन्द्रजौ, दारुहल्दी और छितवन की पत्ती—सभी समभाग में कुल एक किलो ग्राम लेकर कूटकर एक बाल्टी जल में अर्धावशिष्ट पकाकर छानकर उस जल से स्नान करावें। इन्हीं द्रव्यों का क्वाथ बना पिलावे तथा बारीक पीसकर लेप लगायें।

3. **मन:शिलादि लेप**—मैनसिल, हरताल, काली मरिच, मदार का दूध—इन सबको सम भाग लेकर तिल मिलाकर लेप करें।

4. **तुत्थादि लेप**—तूतिया, वायविडंग, काली मरिच, कूठ, लोध्र और मैनसिल सब समभाग में लेकर बारीक पीसकर जल में लेप लगावे।

5. **स्नान, पान, प्रदेह**—गोमूत्र, निम्बपत्रक्वाथ और विडङ्गक्वाथ का प्रयोग करें।

6. अरूस की पत्ती, कोरया की छाल, छितवन की छाल, करञ्ज, कनेर और नीम की पत्ती तथा खदिर छाल के समभाग के क्वाथ का गोमूत्र मिलाकर पान, स्नान में प्रयोग और पीसकर लेप करें।

7. नीम, विडङ्ग और खदिर इन तीनों का बाह्य तथा आभ्यन्तर प्रयोग कराएँ।

8. **बाह्य प्रयोगार्थ**—मुर्दाशंख, रसकपूर, सोहागा, तुत्थ, गन्धक, कत्था,

गोमूत्र, नीलगिरी तैल, चकवड़ बीज, कसौंदी, नीम का पञ्चाङ्ग, चमेली के पत्ते, वायविडंग और भटकटैया (स्वर्णक्षीरी)—ये कृमिनाशक हैं।

9. आभ्यन्तर प्रयोगार्थ—खदिरसार, हरें, आँवला, हल्दी, छितवन, अमलतास, मजीठ, सरफोंका, कसौदी, वायविडंग, चमेली के पत्ते, नीम, खैर, गूलर, भोजपत्र, श्वेत-रक्तचन्दन, विजयसार, उशवा, गोरखमुण्डी, चोपचीनी, सारिवा, सहिजन, आदि का क्वाथ एवं चूर्ण के रूप में प्रयोग कराएँ।

10. **क्वाथ**—पटोलादि क्वाथ, महामञ्जिष्ठादि क्वाथ, पटोलमूलादि क्वाथ।

11. **चूर्ण**—मञ्जिष्ठादि चूर्ण, निम्बादि चूर्ण, मुस्तादि चूर्ण, सोमराजी चूर्ण।

12. **आसवारिष्ट**—खदिरारिष्ट, मञ्जिष्ठाद्यरिष्ट, सारिवाद्यरिष्ट, मध्वासव, कनकबिन्दु अरिष्ट।

13. **वटी**—आरोग्यवर्धिनी वटी, अमृता गुग्गुल, एकविंशतिक गुग्गुल।

14. **रसौषध**—रक्तमाणिक्य, गन्धक रसायन, तालकेश्वर, कुष्ठकुठार, शुद्ध गन्धक।

15. **घृत**—महाखदिर घृत, त्रिफला घृत, पञ्चतिक्त घृत, तिक्तषट्पल घृत, महातिक्तक घृत।

16. **तैल**—मरिचादि तेल, महामरिचादि तेल, तुवरक तेल, कुष्ठराक्षस तेल, जात्यादि तेल, सोमराजी तेल, करञ्ज तेल, निम्ब तेल।

17. **दश कुष्ठघ्न द्रव्य**—खदिर, हरें, आँवला, हल्दी, भिलावा, छितवन, अमलतास, कनेर, वायविडंग, चमेली के पत्र (चरक)।

पथ्य—

1. सभी कुष्ठों में लघु अन्न और तिक्त रस वाले शाक पथ्य हैं।
2. शुद्ध भिलावा, त्रिफला और निम्ब से युक्त अन्न और घृत का प्रयोग हितकर है।
3. पुराना धान्य, जाङ्गल पशु-पक्षियों का मांस, मूँग की दाल, परवल का शाक हितकर है।

अपथ्य—गुरु अन्न, अम्ल रस, दूध, दही, आनूप मांस, मछली, गुड़ और तिल अपथ्य होता है।

37 विसर्प

मांसधरा कला के अन्तर्गत शरीर का आच्छादन करने के कारण त्वचा का अन्तर्भाव किया जाता है। यदि विकार त्वचा में उत्पन्न हो तो उसे केवल त्वचासम्बन्धी विकार नहीं समझना चाहिए; परन्तु यह समझना चाहिए कि एक विजातीय विष से धातुओं को दुष्ट करता हुआ बाह्य स्तर पर पहुँचता है। यही त्वचा के बाहर विकृति के रूप में परिलक्षित होती है। परन्तु उसकी चिकित्सा अगर केवल त्वचासम्बन्धी विकार समझ कर की जाय तो वह कुछ देर बाद पुनः प्रकट हो जाता है और कभी-कभी उसके दबाने से आभ्यंतर अंगों व धातुओं में विनाशकारी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसमें रक्तदुष्टि को प्रधान माना जाता है। कुष्ठ तथा विसर्प को भी त्वचा में होने वाले विकारों में रखा गया है। यहाँ विसर्प का वर्णन किया जा रहा है। विसर्प शरीर के समस्त अङ्गों में फैलता है, इसलिए विसर्प कहलाता है। विसर्प के वातज, पित्तज, कफज, द्वन्द्वज, सन्निपातज तथा क्षतज भेद बताए गए हैं। विसर्प में तीनों दोष, त्वचा, रक्त, मांस तथा जलीय धातु दूषित होती है। कुष्ठ के दोष, दूष्य भी इसके समान हैं। इस प्रकार विसर्प व कुष्ठ में अन्तर करना आवश्यक समझा जाता है। कुष्ठ शरीर के अंग-प्रत्यंग व धातुओं को कर्षित करता है। इनमें पित्त की अधिकता वाले तीनों दोष अल्प बल वाले होते हैं। परन्तु विसर्प में तीनों दोष प्रबल होते हैं। विसर्प सद्योजात तथा कुष्ठ धीरे-धीरे उत्पन्न होने वाला रोग है। विसर्प एक दोष से भी हो सकता है; पर कुष्ठ तीनों दोषों के कुपित होने से होता है। विसर्प में जीवाणु त्वचा व श्लेष्म कला में विकार उत्पन्न होता है तथा कुष्ठ में त्वचा व वातनाड़ियों में विकृति होती है।

इस प्रकार दोनों त्वचासम्बन्धी विकार होते हुए भी अलग लक्षणों वाले होते हैं। विसर्प सर्व शरीर अवयवों में शीघ्र फैलने वाला रोग है।

प्रमुख सन्दर्भ—

चरक चिकित्सा, अध्याय-21
माधव निदान, अध्याय-52
वाग्भट निदान, अध्याय-13

निरुक्ति—

1. 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'सृप्' धातु से घञ् प्रत्यय करने पर विसर्प बनता है।

2. यह रोग अनेक प्रकार से शरीर के सभी अवयवों में उत्पन्न होकर फिर अपने चारो ओर फैलता है, इसलिए विसर्प कहलाता है।

● चारो ओर फैलने के कारण परिसर्प कहलाता है।[1]

3. सर्वाङ्ग में फैलने की प्रवृत्ति वाले रोग को विसर्प कहते हैं।[2]

परिभाषा—विविध प्रकार से शरीर के अंगों में सर्वत्र फैलने के कारण इसे विसर्प कहते हैं।[3]

दोष, दूष्य, अधिष्ठान[4]—

1. दोष—वात, पित्त, कफ।
2. दूष्य—रक्त, लसीका, त्वचा, मांस।
3. अधिष्ठान—त्वचा।
4. स्रोतस्—रक्तवाही।
5. आशुकारी रोग।

सामान्य निदान[5]—

1. आहार-सम्बन्धी—

1. लवण, अम्ल, कटु, उष्ण-तीक्ष्ण पदार्थों का अधिक सेवन।

---

1. विविधं सर्पति यतो विसर्पस्तेन स स्मृतः।
परिसर्पोऽथवा नाम्ना सर्वतः परिसर्पणात्।। (च. चि. 21/11)
2. सर्वतो विसर्पणाद् विसर्पः।
3. विविधं अनेकप्रकारेण सर्वतः देहस्य सर्वाङ्गेषु परिसर्पणात् विसर्पः परिसर्पो वा।
4. रक्तं लसीका त्वङ्मांसं दूष्यं दोषास्त्रयो मलाः।
विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्तधातवः।। (च. चि. 21/15)
5. लवणाम्लकटूष्णानां रसानामतिसेवनात्।
दध्यम्लमस्तुशुक्तानां सुरासौवीरकस्य च।।
व्यापन्नबहुमद्योष्णरागषाडवसेवनात्।
शाकानां हरितानां च सेवनाच्च विदाहिनाम्।
कूर्चिकानां किलाटानां सेवनान्मन्दकस्य च।
दध्नः शाण्डाकिपूर्वाणामासुतानां च सेवनात्।।
तिलमाषकुलत्थानां तैलानां पैष्टिकस्य च।
ग्राम्यानूपौदकानां च मांसानां लशुनस्य च।।
प्रक्लिन्नानामसात्म्यानां विरुद्धानां च सेवनात्।
अत्यादानाद्दिवास्वप्नादजीर्णाध्यशनात् क्षतात्।।
क्षतबन्धप्रपतनाद्धर्मकर्मातिसेवनात्।
विषवाताग्निदोषाच्च विसर्पाणां समुद्भवः।। (च. चि. 21/16-21)
छर्दिवेगप्रतीघातात् काले चानवसेवनात्।
शरत्कालप्रभावाच्च शोणितं सम्प्रदुष्यति। (च. सू. 24)

2. दही, दही का पानी का अधिक सेवन।
3. सौवीर, मद्य, मदिरा, लशुन, विदाही द्रव्यों का अधिक सेवन।
4. कूर्चिका, किलाट मंदक, दही का अधिक सेवन।
5. तिल, उड़द, कुलथी, तिल का तेल, पिष्टक, ग्राम्य, औदक प्राणियों का मांस-सेवन करने से।

2. विहारसम्बन्धी—

1. दिन में सोने से।
2. अजीर्ण के बने रहने से, अध्यशन से।
3. किसी घाव के लगने से।
4. हीन कर्मों के अधिक सेवन से।
5. विषदोष, वात तथा अग्नि दोष से।
6. शरत्काल के प्रभाव से।
7. यथासमय रक्त का अवसेचन न करने से।
8. वमनवेगावरोध से।

सम्प्राप्ति[1]—

उपरोक्त निदान सेवन → प्रकुपित वातादि दोष → दोष रक्तादि दूष्यों को दूषित कर सर्वाङ्ग में फैलते हैं।

वातादि लक्षणों से युक्त शोथ उत्पन्न होता है तथा यही विसर्प कहलाता है।

विसर्प भेद—

(अ[2]) 1. बाह्य एवं 2. आभ्यन्तर विसर्प।

(ब[3]) 1. वातज 5. वातकफज (ग्रन्थि विसर्प)
2. पित्तज 6. पित्तकफज (कर्दम विसर्प)
3. कफज 7. क्षातज
4. वातपित्तज (आग्नेय विसर्प) 8. सन्निपातज

---

1. एतैर्निदानैर्व्यामिश्रैः कुपिता मारुतादयः।
दूष्यान् सन्दूष्य रक्तादीन् विसर्पन्त्यहिताशिनाम्।। (च. चि. 21/22)
2. बहिःश्रितः श्रिताश्चान्तस्तथा चोभयसंश्रितः।
विसर्पो बलमेतेषां ज्ञेयं गुरु यथोत्तरम्।। (च. चि. 21/23)
3. स च सप्तविधो दोषैर्विज्ञेयः सप्तधातुकः।
पृथक् त्रयस्त्रिभिश्चैको विसर्पो द्वन्द्वजास्त्रयः।। (च. चि. 21/12)
वातिकः पैत्तिकश्चैव कफजः सान्निपातिकः।
चत्वार एते वीसर्पा वक्ष्यन्ते द्वन्द्वजास्त्रयः।

विसर्पभेद के लक्षण[1] (अ)—

1. आभ्यन्तराश्रित विसर्प-लक्षण—

1. मर्मस्थलों पर आघात लगने से सम्मोह।
2. श्वासमार्ग तथा आहार-मार्ग के रुकने से।
3. प्यास के अधिक लगने से।
4. वेगों के विषम रूप से प्रवृत्त होने से।
5. अग्निबल के क्षीण होने से।

2. बाह्याश्रित विसर्प-लक्षण—उपर्युक्त लक्षणों तथा कारणों से विपरीत लक्षणों तथा अपने लक्षणों से युक्त विसर्प।

विसर्पभेद के लक्षण (ब)—

1. वातज[2]—

निदान/सम्प्राप्ति—रूक्ष उष्ण आहार-विहार सेवन या अधिक आहार सेवन से → आवृत तथा दूषित वायु द्वारा रक्तादि दूष्यों को दूषित करना → **वातज विसर्प।**

लक्षण—

1. वातज्वर के समान वेदना
2. शोथ
3. फड़कन
4. सुई के चुभने जैसी पीड़ा
5. भेदन, थकावट
6. रोमहर्ष

2. पित्तज[3]—

निदान/सम्प्राप्ति—उष्ण, विदाही, अम्ल पदार्थ सेवन → पित्तदोष का संचय → रक्तादि दूष्यों को दूषित कर धमनियों की पूर्ति → **विसर्प रोग।**

आग्नेयो वातपित्ताभ्यां ग्रन्थ्याख्य: कफवातज:।
यस्तु कर्दमको घोर: स पित्तकफसम्भव:।। (च. चि. 21/13)

1. मर्मोपघातात् सम्मोहादयनानां विघट्टनात्।
तृष्णातियोगाद्वेगानां विषमाणां प्रवर्तनात्।।
विद्याद्विसर्पमन्तर्जमाशु चाग्निबलक्षयात्।
अतो विपर्ययाद् बाह्यमन्यैर्विद्यात् स्वलक्षणै:।। (च. चि. 21/26,27)

2. रुक्षोष्णै: केवलो वायु: पूरणैर्वा समावृत:।
प्रदुष्टो दूषयन् दूष्यान् विसर्पति यथाबलम्।। (च. चि. 21)
तत्र वातात् स वीसर्पो वातज्वरसमव्यथ:।
शोथस्फुरणनिस्तोदभेदायासार्तिहर्षवान्।। (वा. नि. 14)

3. पित्तमुष्णोपचारेण विदाह्यम्लाशनैश्चितम्।
दूष्यान् सन्दूष्य धमनी: पूरयन् वै विसर्पति।। (च. चि. 21/31)
पित्ताद्द्रुतगति: पित्तज्वरलिङ्गोऽतिलोहित:। (वा. नि. 14)

लक्षण—

1. पित्तज विसर्प बहुत जल्द बढ़ता है।
2. पित्तज ज्वर के समान लक्षण और गहरे लाल वर्ण का होना।

3. कफज[1]—

निदान/सम्प्राप्ति—मधुर, अम्ल, लवण, गुरु, पाकी द्रव्यों का अधिक सेवन और दिन में अधिक सोना → कफ दोष संचित हो रक्तादि को दूषित करता है → शरीर के अवयवों में फैलकर विसर्प रोगोत्पन्न।

लक्षण—

1. कफज्वर के समान पीड़ा होना।
2. खुजली, स्निग्धता होना।

4. वातपित्तज[2] (आग्नेय विसर्प)—

निदान/सम्प्राप्ति—वात तथा पित्तप्रकोपक निदान सेवन → प्रकुपित वात तथा पित्त अवयवों में जलन उत्पन्न करते हैं → **द्वन्द्वज विसर्प।**

लक्षण—

1. ज्वर, वमन, मूर्च्छा, अतिसार, प्यास, भ्रम।
2. ग्रन्थियों व संधियों में फटने जैसी पीड़ा।
3. अग्निमांद्य, अरुचि।
4. विसर्प वाले स्थान पर काले, नीले या लाल फफोलों का होना तथा जलन होना।
5. विसर्प मर्मस्थान में प्रवेश करके संज्ञा तथा निद्रा को नष्ट करता है।
6. रोगी बेचैन रहता है तथा बहुत दु:खी होकर मूर्च्छित हो मृत्यु को प्राप्त करता है।

5. कफवातज[3] (ग्रन्थिज विसर्प)—

निदान/सम्प्राप्ति—स्थिर, मधुर, गुरु, अन्नपान सेवन, व्यायाम न करना, वमन विरेचन आदि द्वारा निर्हरण न करना → कफ-वात प्रकुपित → रक्तादि दूष्य दूषित → विसर्प → **ग्रन्थिमाला उत्पन्न।**

1. स्वाद्वम्ललवणस्निग्धगुर्वन्नस्वप्नसञ्चित:।
कफ: सन्दूषयन् दूष्यान् कृच्छ्रमङ्गे विसर्पति।। (च. चि. 21/33)
कफात् कण्डूयुत: स्निग्ध: कफज्वरसमानरुक्। (वा. नि. 14)

2. वातपित्तं प्रकुपितं अतिमात्रं स्वहेतुभि:।
परस्परं लब्धबलं दहद् गात्रं विसर्पति।। (च. चि. 21/35)
वातपित्ताज्ज्वरच्छर्दिमूर्च्छातीसारतृड्भ्रमै:...............
दुष्प्रबोधोऽश्नुते निद्रां सोऽग्निवीसर्प उच्यते।। (वा. नि. 13)

3. स्थिरगुरुकठिनमधुरशीतस्निग्धान्नपानाभिष्यन्दिसेविनामव्यायामादिसेविनाम......... भवतीति ग्रन्थिविसर्प:। (च. चि. 21/39)

लक्षण—

1. त्वचा, सिरा, स्नायु में लम्बी, छोटी, गोल व मोटी ग्रन्थियाँ।
2. श्वास, कास, हिक्का, वमन।
3. अतिसार, मुखशोष, भ्रम, विवर्णता, मूर्च्छा, अंगों का टूटना, अग्निमांद्य।

6. कफपित्तज[1] (कर्दम विसर्प)—

निदान/सम्प्राप्ति—कफ व पित्तप्रकोपक निदान सेवन → कफ व पित्त दोष शरीर के किसी एक अवयव में संचित हो पूययुक्त → **विसर्प रोग।**

लक्षण—

1. ज्वर, निद्रा, तंद्रा, शिर, शूल, अंगों में शिथिलता, अंगों की स्तब्धता, अरुचि, भ्रम, मूर्च्छा, अग्निनाश।
2. प्यास, इंद्रियों में भारीपन, आममल का त्याग, स्रोतोरोध।
3. आमाशय में प्राय: होता है।
4. चिकना, काला, अंजन जैसा सूजनयुक्त, भारी तथा अत्यधिक उष्ण।
5. शव के समान दुर्गन्ध आती है।

7. क्षतज विसर्प[2]—

निदान/सम्प्राप्ति—बाह्य हेतुज क्षत → प्रकुपित वात रक्त के साथ पित्त को प्रेरित कर → क्षतज विसर्प उत्पन्न।

लक्षण—

1. कुलथी के समान छाले
2. सूजन, ज्वर, पीड़ा, जलनयुक्त, रक्तवर्ण या श्याव वर्ण का विसर्प उत्पन्न।

कफेन रुद्धः पवनो भित्त्वा तं बहुधा कफम्।
रक्तं वा वृद्धरक्तस्य..................................
..................................ग्रन्थिविसर्पः कफमारुतकोपजः। (अ. हृ. नि. 13/56-59)

1. कफपित्तं प्रकुपितं बलवत् स्वेन हेतुना।
विसर्पत्येकदेशे तु प्रक्लेदयति देहिनम्।। (च. चि. 21/27)
कफपित्ताज्ज्वरः स्तम्भो निद्रा तंद्रा शिरोरुजा।
अङ्गावसादविक्षेपौ प्रलेपारोचक-भ्रमाः।
..................................कर्दमाख्यमुशन्ति तम्। (अ. हृ. नि. 13/60-64)

2. बाह्यहेतोः क्षतात् क्रुद्धः सरक्तं पित्तमीरयन्।।
वीसर्पं मारुतः कुर्यात् कुलत्थसदृशैश्चितम्।
स्फोटैः शोथज्वररूजादाहाढ्यं श्यावशोणितम्।। (अ. हृ. नि. 13/65-66)

8. सन्निपातज[1]—

निदान/सम्प्राप्ति—वातादि विसर्पों के सभी निदान → प्रकुपित दोष → सभी धातुओं में गति → **सन्निपातज विसर्प।**

लक्षण—सभी दोषों के अपने-अपने लक्षण उत्पन्न होते हैं तथा असाध्य सन्निपात उत्पन्न होता है।

उपद्रव[2]—

- 1. उपताप
  2. अतिसार
  3. कास
  4. हिक्का श्वास
  5. प्रमेह
  6. विवर्णता
  7. अरुचि
  8. अविपाक
  9. छर्दि
  10. मूर्च्छा
- 1. ज्वर
  2. अतिसार
  3. वमन
  4. त्वचा व मांस का फटना
  5. क्लम
  6. भोजन का ठीक-ठीक न पचना

साध्यासाध्यता[3]—

- वातज, पित्तज, कफज विसर्प : साध्य
  सन्निपातज व क्षतज विसर्प : असाध्य
  मर्मस्थानों में उत्पन्न विसर्प : कृच्छ्रसाध्य या असाध्य
- बाहरी मार्ग (त्वचा) स्थित विसर्प : साध्य
  उभयाश्रित विसर्प (बाहरी व भीतरी मार्ग) स्थित : असाध्य
  भीतरी धातुओं में स्थित विसर्प : अत्यन्त कष्टसाध्य

---

1. सर्वायतनसमुत्थं सर्वलिङ्गव्यापिनं सर्वधात्वनुसारिणमाशुकारिणं महात्ययिकमिति सन्निपातविसर्पचिकित्स्यं विद्यात्। (च. चि. 21/41)
2. ज्वरातिसारौ वमथुस्त्वङ्मांसदरणं क्लमः।
अरोचकाविपाकौ च विसर्पाणामुपद्रवाः।। (मा. नि. 52/24)
3. सिध्यन्ति वातकफपित्तकृता विसर्पाः
सर्वात्मकः क्षतकृतश्च न सिद्धिमेति।
पित्तात्मकोऽञ्जनवपुश्च भवेदसाध्यः
कृच्छ्राश्च मर्मसु भवन्ति हि सर्व एव।। (सु. नि. 10/8)
बहिर्मार्गाश्रितं साध्यमसाध्यमुभयाश्रितम्।
विसर्पं दारुणं विद्यात् सुकृच्छ्रं त्वन्तराश्रयम्।। (च. चि. 21/24)

चिकित्सा-सूत्र

वातज विसर्प—रूक्षण, स्नेह प्रयोग।

पित्तज विसर्प—महातिक्तक घृत, शीतप्राय।

कफज विसर्प—रूक्ष प्रधान उपचार।

अग्नि विसर्प—वातपित्तशामक चिकित्सा।

कर्दम विसर्प—कफपित्तशामक चिकित्सा।

ग्रन्थि विसर्प—रूक्षण, लंघन का निर्हरण, वमन, विरेचन, वातकफनाशक चिकित्सा।

साम दोष कफ स्थान में होने पर—लंघन, वमन, तिक्त रससेवन।

साम दोष पित्त स्थान में होने पर—रक्तमोक्षण, विरेचन, तिक्त रससेवन।

चिकित्सा—

1. महातिक्तघृत या त्रायमाण घृत।
2. किरातादि या पटोलादि या सारिवादि क्वाथ।
3. अमृतादि क्वाथ।
4. शतधौत घृत।
5. वातपित्तज—पञ्चवल्कल के कल्क में चौगुना शतधौत घृत मिलाकर दें।
6. कफवातज—कदली स्तम्भ का कल्क चौगुना शतधौत घृत मिलाकर दें।
7. कफपित्तज—शिरीषछाल का चूर्ण चौगुना शतधौत घृत मिलाकर दें।

व्यवस्था-पत्र—

1. सवेरे-शाम—

    आरोग्यवर्धिनी : 1/2 ग्राम
    रसमाणिक्य : 100 मि.ग्राम
    गुडूचीसत्त्व : 1/2 ग्राम

    1 मात्रा, मधु से; बाद में महामंजिष्ठादि क्वाथ 50 मि. ली. पीना।

2. भोजनोत्तर : खदिरारिष्ट—40 मि.ली.=2 मात्रा, समान जल मिलाकर पीना।
3. प्रक्षालन : पञ्चवल्कल क्वाथ से।
4. लगाना : जात्यादि घृत।

पथ्य—

पुराना जौ, गेहूँ, चावल, मूंग, मसूर, चना, अरहर।

मक्खन, गोघृत, गोदुग्ध।

आंवला, लौकी, अनार, अंगूर, मुनक्का, अंजीर आदि।

अपथ्य—

विरुद्ध आहार, गुरु भोजन, कुलथी, उड़द, तिल, अम्ल कटु रस वाले द्रव्य।

दही, खटाई, आनूपमांस।

दिन में शयन, क्रोध, व्यायाम, शोक, ईर्ष्या, वेगावरोध आदि।

38 शीतपित्त

शीतपित्त को प्रचलित भाषा में जुलपित्त कहते हैं। कफ और वायु के स्वगुणों से अर्थात् शैत्य से प्रभावित पित्त से उत्पन्न होने के कारण ही इस रोग को शीत-पित्त कहा जाता है। ठण्ढ़ी हवा के स्पर्श से कफ और वायु प्रकुपित होकर पित्त से मिलकर बाहर त्वचा और आन्तरिक रक्त आदि धातुओं में फैलकर रोग उत्पन्न करते हैं। उदर्द, कोठ व उत्कोठ शीतपित्त की ही विशेष अवस्थायें हैं। वायु की अधिकता के कारण शीतपित्त में तोद तथा उदर्द में कफाधिक्य के कारण कण्डू व वमन की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। शीतपित्त के ही रोगी में कफोत्पन्न रोग व कण्डु उत्संगित मण्डल (चकत्ते) ही 'उदर्द' कहे जाते हैं। वमन के असात्म्य योग से उत्पन्न रोग एवं कण्डूयुक्त मण्डल ही 'कोठ' कहे जाते हैं और यह कोठ बार-बार होने लगे तो उसे 'उत्कोठ' कहते हैं। आधुनिक दृष्टि से शीतपित्त Allergy के कारण उत्पन्न Urticaria रोग के समान है। यह किसी Unstable protein के सेवन से पैदा होती है। इसमें विकृत मत्स्य, मांस, अण्डा, कृमिदंश, संखिया और कनीन के योग तथा अंकुशमुख कृमि या गण्डूपद कृमि का उपसर्ग (Ancylostomiasis) मुख्य है।

प्रमुख सन्दर्भ—

1. माधवनिदान—अध्याय 50

चरक तथा सुश्रुत में शीतपित्त का वर्णन नहीं मिलता, क्योंकि शीतपित्त का वर्णन बाद में किया गया है।

निदान[1]

External causes	Internal causes
● शीतल	● शोक चिन्ता
● उष्ण वायु	● विषमाग्नि
● पुष्प रजगन्ध	● बस्तिव्याप्त
● कीटदंश	● औषध

1. शीतमारुतसंस्पर्शात्प्रदुष्टौ कफमारुतौ।
पित्तेन सह सम्भूय बहिरन्तर्विसर्पतः।। (मा. नि. 50/1)

पूर्वरूप[1]

अंगों का भारीपन | आँखों में लालिमा | मिचली | अरुचि | प्यास

लक्षण[2]

जलन | ज्वर | वमन | तोद | कण्डू | चकत्ते

साक्षेप निदान—

	शीत पित्त	उदर्द[3]	कोठ[4]
1. दोषवैशिष्ट्य	वाताधिक	कफाधिक	कफ-रक्ताधिक
2. सांस्थानिक लक्षण	तोद वेदना	कण्डू वमन	कण्डू रोग अधिक अधिक
3. स्थानीय लक्षण	सर्वाङ्ग में चकत्ते, जलन व असह्य खुजली	लाल शोथ, कण्डू व दर्द होना	गोल मण्डलाकार शोथ होकर कण्डू व लालिमा
4. ऋतु प्रभाव	एक साथ शरीर में गर्मी फिर सर्दी लगने से होना	शिशिर ऋतु के प्रभाव से होना	पंचकर्म के मिथ्या योग से होना
5. Chronicity			
6. Severity			

चिकित्सा-सूत्र

बाह्य प्रयोग—

1. चकत्ते दिखने पर तुरन्त कम्बल ओढ़कर रोगी को पसीना आकर उसका शीतपित्त शान्त हो जाता है।
2. शरीर पर गेरू और सरसों का तेल लगा कर रोगी को हवा से बचाएँ।
3. दूध और हल्दी का लेप करे।
4. यवक्षार और सैन्धव नमक का कड़वे तेल में मिलाकर लेप करें।

1. पिपासारुचिहल्लासदेहसादाङ्गगौरवम्।
रक्तलोचनता तेषां पूर्वरूपस्य लक्षणम्।। (मा. नि. 50/2)
2. वरटीदष्टसंस्थानः शोथः संजायते बहिः।
सकण्डूस्तोदबहुलश्छर्दिज्वरविदाहवान्।। (मा. नि. 50/3)
3. सोत्सङ्गैश्च सरागैश्च कण्डूमद्भिश्च मण्डलैः।
शैशिरः कफजो व्याधिरुदर्द इति कीर्तितः।। (मा. नि. 50/5)
4. असम्यग्वमनोदीर्णपित्तश्लेष्मान्ननिग्रहैः।
मण्डलानि सकण्डूनि रागवन्ति बहूनि च।
उत्कोठः सानुबन्धश्च कोठ इत्यभिधीयते।। (म. नि. 50/6)

आभ्यन्तर प्रयोग—

1. शुद्ध स्वर्णगैरिक : 1 ग्राम
   शुद्ध टंकन : 1 रत्ती
   : 1×4 जल से।
2. त्रिफला चूर्ण : 6 ग्राम = 1×2 अमृताक्वाथ से।
3. हरिद्रा खण्ड : 5 ग्राम = 1×2 जल से।
4. आर्द्रक खण्ड : 5 ग्राम जल से।
5. कैशोर गुग्गुल : 1 ग्राम = 1×2 जल से।
6. रसयोग—सूतशेखर आरोग्यवर्धनी, गन्धक रसायन, प्रवाल भस्म, मल्ल, सिन्दूर का उचित प्रयोग।

शीतपित्त में—

1. हरिद्रा खण्ड : 6 ग्राम = 1×3 मि.ग्रा.
2. कामदुघा : 600 मि.ग्रा.
   वंगभस्म : 600 मि.ग्रा.
   स्वर्णमाक्षिक भस्म : 125 मि.ग्रा. = 1×3 मधु से।

उदर्द में—

हरिद्राखण्ड : 6 ग्राम = 1×4 जल से।

कोठ में—

आरोग्यवर्धनी : 1-1/2 ग्राम = 1×3 मधु से।

●

39 मसूरिका

जिस रोग में मसूर के समान पिडिकायें निकल कर समस्त शरीर में फैल जाती हैं, जिनका पाक होता है एवं जिस व्याधि में उक्त लक्षण के साथ अन्य उपद्रव और दारुण होते हैं, उनको मसूरिका कहते हैं। मसूरिका को चेचक या शीतला (Small pox) भी कहते हैं। प्राचीन आयुर्वेदिक वाङ्मय में इसका वर्णन अति संक्षेप में मिलता है। यह रोग कटु, अम्ल, नमकीन और क्षारयुक्त पदार्थों के अतिसेवन से होता है। विरुद्ध पदार्थों का सेवन, मटर-आलू इत्यादि का अधिक सेवन, दुष्ट वायु अथवा दुष्ट जल का प्रयोग, दोष-प्रकोपक कारणों से कुपित दोष रक्त के साथ मिलकर मसूरिका रोग की उत्पत्ति करते हैं। मसूरिका के जीवाणुओं का रक्त में गमन होता है। जीवाणु विष उस त्वचा के अंकुर स्तर पर अवस्थान करके पिड़िका के समान शोथ उत्पन्न कर देता है। ये पिडकायें रोमकूपों में होती हैं। कुछ दिनों के बाद इनमें स्राव भर जाता है और फिर पिडकायें फूट जाती हैं, जो कुछ दिनों बाद स्वयं उतर जाती हैं इस रोग में शीत कम्प और शिर:शूल के साथ ज्वर होता है। कटि और पीठ में वेदना, निद्रानाश, मलावरोध वमन आदि। तीसरे दिन ज्वर कम होता है और पिडकायें दिखने लगती हैं। छठे दिन जल से भर जाती हैं और बारहवें दिन पिडकायें सूख जाती हैं, नाडी तीव्र चलती है और ताप 1030-1040 तक रहता है। दो सप्ताह में पिडकायें नष्ट हो जाती हैं। मसूरिका के विष को गाय के स्तनों में प्रविष्ट कर वहाँ मसूरिका उत्पन्न कर पुन: वहाँ से निकालकर टीका तैयार किया जाता है। आजकल के समय में मसूरिका का कोई रोगी देखने को नहीं मिलता; क्योंकि इस रोग को समाप्त कर दिया गया है।

प्रमुख सन्दर्भ—माधवनिदान

निदान—

1. (क) चटपटे, खट्टे, नमकीन और क्षार के सेवन से[1]।
   (ख) विरुद्ध भोजन और अध्यशन से।
   (ग) दुष्ट अन्न, मटर, शाक, गन्दे जल व वायु से तथा शनैश्चर आदि क्रूर ग्रहों के प्रकोप से।

1. कट्वम्ललवणक्षारविरुद्धाध्यशनाशनैः।
दुष्टनिष्पावशाकाद्यैः प्रदुष्टपवनोदकैः।। (मा. नि. 54/1-2)
क्रूरग्रहेक्षणाच्चापि देशे दोषाः समुद्धताः।

2. (घ) देह भर से प्रकुपित हुए दोष दूषित रक्त के साथ मिलकर जो मसूर की आकृति के समान पिडकाओं को सारे शरीर में उत्पन्न करते हैं, उन्हें मसूरिका कहते हैं[1]।

पूर्वरूप[2]—

1. ज्वर, खुज़ली, अंगों का टूटना।
2. काम में मन न लगना तथा चक्कर आना।
3. त्वचा में सूजन व विवर्णता।
4. नेत्रों का लाल होना।

सम्प्राप्ति[3]—

मसूरिका के जीवाणु का रक्तगमन → उपचर्म के एक स्थान पर ठहरना → स्थान पर कोशायें रक्तमय और शोथयुक्त → त्वचा के अधोभाग पर छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ → ग्रन्थियों में पूयमय द्रव → पिड़कायें → पिडकाओं का फटना → पूय पपड़ी का जमना।

लक्षण—

1. इस रोग में शीत, कम्प और शिर:शूल होना।
2. कटि और पीठ में वेदना।
3. मोह, प्रलाप, निद्रानाश, मलावरोध, वमन आदि होना।
4. तीसरे दिन ज्वर कम होना और पिडकाओं का त्वचा के नीचे दिखना।
5. छठे दिन पिड़काओं का जल से भरना।
6. बारहवें दिन पिड़काओं का सूखना और तीसरे सप्ताह रोगी स्वस्थ हो जाता है।
7. मलावरोध होना जिह्वा का शुष्क और गन्दा होना।
8. पूय सूखने पर ताप का धीरे-धीरे कम होना।

मसूरिका के प्रकार

सामान्य पिड़का	सांघातिक पिड़का	अर्धसंयुक्त पिड़का	दलबद्ध पिड़का	साम्य मसूरिका	संयुक्त पिड़का	असंयुक्त पिड़का

1. जनयन्ति शरीरेऽस्मिन् दुष्टरक्तेन सङ्गता:।।
मसूराकृतिसंस्थाना: पिडका: स्युर्मसूरिका:। (मा. नि. 54/2-3)
2. तासां पूर्वं ज्वर: कण्डूर्गात्रभङ्गोऽरतिर्भ्रम:।
त्वचि शोथ: सवैवर्ण्यो नेत्ररागश्च जायते।। (मा. नि. 54/3)
3. त्वगक्षिरोगापस्माराजयक्ष्ममसूरिका:।
दर्शनात्स्पर्शनाद्दानात्सङ्क्रामन्ति नरान्नरम्।। (मा. नि.)

उपद्रव—नेत्रगोलक की श्लेष्मक त्वचा में दाह, शोथ, नेत्रशुक्र, कर्णदाह, फुफ्फुस दाह, वृषण दाह और सन्धिस्थानों में शोथ।

बृहन्मसूरिका में उपद्रवों के हो जाने पर मृत्यु हो जाती है; विशेष कर बच्चों की।

गोमसूरिका तथा वैक्सीनिया—मसूरिका के विष को गाय के स्तनों में प्रविष्ट कर वहाँ मसूरिका उत्पन्न कर पुन: वहाँ से तरल निकालकर टीका तैयार किया जाता है। मनुष्य के शरीर में टीका द्वारा मसूरिका विष प्रविष्ट करने पर टीके के स्थान पर पिडका निकल आती है और सब अंगों में मसूरिका के मृदु लक्षण उत्पन्न होते हैं। इससे अर्थात् चेचक का टीका लगवाने से बृहन्मसूरिका के आक्रमण की सम्भावना क्षीण हो जाती है।

वैक्सीन की उत्पत्ति—बृहन्मसूरिका की पूययुक्त पिडका से जीवाणु लेकर गो, भैंस, गदहा आदि को टीका लगाकर गोमसूरिका उत्पन्न की जाती है। तब उनमें तरलयुक्त पिडकायें निकल आती हैं, तब उनको खुरचकर जीवाणुओं से युक्त लसीका को एक शुद्ध पात्र में एकत्र कर लेते हैं। फिर इसको पूयजनक अन्य कीटाणुओं से सुरक्षित करके कार्बोलिक ग्लिसरीन में मिश्रित करते हैं और छोटी-छोटी शीशियों में भर लेते हैं।

चिकित्सा-सूत्र

1. रोगी को स्वच्छ, हवादार एवं प्रकाशयुक्त स्थान में रखना चाहिए।
2. रोगी के बिछौने तथा ओढने की प्रतिदिन सफाई करनी चाहिए।
3. शय्या या बिस्तर सुखद होने चाहिए।
4. वायु की शुद्धि के लिए गुग्गुल, निम्बपत्र आदि जलाने चाहिए।
5. आँख, नाक, मुख की सफाई पर विशेष ध्यान।
6. नासिका को स्निग्ध रखना चाहिए।
7. रोगी के शरीर को गुनगुने जल में 2 ड्राप कार्बोलिक एसिड डालकर पोंछना चाहिए।
8. खुजली की शांति के लिए सोडा बाई कार्ब को पानी में डालकर उससे शरीर पोंछना।
9. चेहने पर लगाने के लिए कार्बोलिक एसिड का ग्लिसरीन में बनाया हुआ 2% घोल प्रयोग करना।

सापेक्ष निदान—मसूरिका के समान किन्तु सौम्यस्वरूप का एक और रोग होता है, जिसे लघुमसूरिका (Chicken pox) कहते हैं।

मसूरिका (Small pox)	**लघुमसूरिका** (Chicken pox)
1. ज्वर शिर:शूल आदि लक्षण।	1. ये सब लक्षण सौम्यस्वरूप के होते हैं।
2. विस्फोट तीसरे दिन निकलते हैं।	2. चौबीस घंटे में विस्फोट निकलते हैं।
3. चौबीस घंटे में सारे शरीर पर निकल आते हैं।	3. सब एक साथ नहीं निकलते, कई दिन तक निकलते हैं।
4. सर्वप्रथम ये मस्तक, मुख, शंख प्रदेश पर होते हैं। इसके बाद अन्य अंगों पर निकलते हैं।	4. सर्वप्रथम पीठ या छाती पर निकलते हैं। फिर शरीर पर निकलते हैं।
5. मुख और शंख में संख्या अधिक होती है तथा उदर, कक्ष एवं कटि में कम।	5. इनकी संख्या धड़ पर अधिक होती है।
6. पाँचवें दिन जब दाने पूरे निकल आते हैं तो ज्वर कम हो जाता है और पूय आ जाने पर पुन: बढ़ जाता है।	6. उत्पत्ति होने पर ज्वर न कम होता है और न ही पकने पर बढ़ता है।
7. विस्फोट त्वचा में गहराई पर होते हैं।	7. गहराई में नहीं होते।
8. ये फूट कर परस्पर मिल जाते हैं।	8. ये परस्पर मिलते नहीं।
9. सूख जाने पर दाग रह जाते हैं।	9. सूखने पर दाग नहीं रहता।
10. ये सब एक साथ ही पकते हैं।	10. ये सब एक साथ नहीं पकते।

औषध व्यवस्था—

1. रूद्राक्ष : 1/2 ग्राम
   काली मिर्च : 1/2 ग्राम
   1 मात्रा पीसकर 1 कप जल में घोलकर 1 सप्ताह तक प्रतिदिन एक बार पीना। इससे पिड़काओं की उग्रता शीघ्र शान्त होती है।

2. अनन्तमूल चूर्ण : 5 ग्राम = 1 मात्रा, चावल के धोवन से प्रतिदिन एक बार एक सप्ताह।

3. पटोलादि क्वाथ—पटोलपत्र, गुडूची, नागरमोथा, चिरायता, नीम की छाल, कुटकी, पित्तपापड़ा सब समभाग लेकर भूसा की तरह कूटकर रख लें। 20 ग्राम दवा आधा लीटर जल में चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ थोड़ा-थोड़ा करके चीनी मिलाकर पीना।

4. गुडूच्यादि क्वाथ का पान करावे।

योग—गुरुच, मुलहठी, मुनक्का तथा गन्ने की जड़ समभाग लेकर पूर्ववत् क्वाथ बनाकर चीनी डालकर थोड़ा पीना। इससे पूय की मात्रा कम हो जाती है और खुरण्ड शीघ्र आ जाते हैं।

सिद्धयोग व्यवस्था-पत्र—

1. तीन-तीन घण्टे पर चार बार
   प्रवाल पञ्चामृत : 500 मि.ग्राम
   त्रिभुवन कीर्ति रस : 500 मि. ग्राम
   मुक्तापिष्टी : 500 मि.ग्रा.
   4 मात्रा मधु से एक बार में पटोलादि क्वाथ पीना।
2. प्रात:-सायं पञ्चतिक्त घृत : 20 ग्राम = 2 मात्रा-गोदुग्ध और चीनी के साथ
3. निम्ब पत्र जल से।
4. रात को सोते समय वेदान्त रस : 150 मि.ग्रा. = 1 मात्रा गोदुग्ध से।

पथ्य—मसूरिका पित्तप्रधान व्याधि है। अत: शीतल पेय, नारियल का जल, यव की पेया, गन्ने का रस, फलों का रस, नींबू की शिकञ्जी पिलाना हितकर है।

दूध फाड़कर उसका पानी पिलाना चाहिए। रोगमुक्त होने पर बल्य, सुपाच्य एवं पोषक आहार तथा दूध, मक्खन एवं फलों का रस अग्निबल के अनुसार दें। पुराना साठी चावल, चना, मूग, मसूर, जौ, सहिजना, परवल, मुनक्का, अनार, अगहनी चावल, घृत, गोदुग्ध आदि पथ्य होते हैं।

40 उन्माद

उन्माद मानस रोगों में प्रमुख रोग है। यह रज और तम के साथ-साथ वात, पित्त तथा कफ आदि दोषों के दूषण के कारण होता है। उन्माद के माध्यम से ही आयुर्वेदिक संहिताओं में अधिकांश मानस रोगों का उल्लेख किया गया है। उन्माद की तुलना हम आधुनिक मानस व्याधि साईकॉसिस (Psychosis) से कर सकते हैं। उन्माद में आधुनिक मानस विज्ञान (Psychiatry) के अन्तर्गत वर्णित जितने भी Psychotic disorders हैं, उन सभी का समावेश उन्माद के भेद और उपभेदों में किया गया जा सकता है।

जब उद्गत दोष उन्मार्गगामी होकर मद (मनोविभ्रम) उत्पन्न करते हैं—**मदयन्ति मनोविभ्रमः कुर्वन्ति;** उस मानस रोग को उन्माद कहते हैं।

उन्माद में 8 प्रमुख भावों का विभ्रम हो जाता है। वे 8 भाव हैं—

1. मन	3. संज्ञाज्ञान	5. भक्ति	7. चेष्टा
2. बुद्धि	4. स्मृति	6. शील	8. आचार

मानस रोगों का प्रमुख कारण प्रज्ञापराध माना गया है। इसमें धी, धृति और स्मृति-विभ्रंश होने से जब पुरुष दोषप्रकोपक कार्य करता है तो प्रज्ञापराध होता है। इसके अलावा अन्य हेतु; जैसे—असात्मेन्द्रियार्थ संयोग और परिणाम सहायक कारण बनते हैं। मानस दोषों में मन की स्थिति को प्रमुख माना गया है। मन का स्थान हृदय माना गया है, जो कि आयुर्वेद में सम्भाषा का विषय हो सकता है।

आधुनिक समय में अत्यधिक व्यस्तता, तनावपूर्ण जीवन, वायुमंडलीय प्रदूषण तथा सामञ्जस्य का अभाव अधिकांश मनोदैहिक व्याधियों का कारण है तथा इसी के कारण मानस रोगों की उत्पत्ति भी अधिक देखने को मिलती है। व्याधियों का मनो-दैहिक स्वरूप चिकित्सक को समझना अत्यन्त आवश्यक है, जिसके अभाव में कई बार सामान्य व्याधियों की चिकित्सा भी दुरूह हो जाती है।

प्रमुख सन्दर्भ—

1. चरकसंहिता, निदान स्थान, अध्याय 7
2. चरकसंहिता, चिकित्सा स्थान, अध्याय 9
3. सुश्रुतसंहिता, उत्तरतन्त्र, अध्याय 60
4. सुश्रुतसंहिता, उत्तरतन्त्र, अध्याय 62

5. अष्टांगहृदय, उत्तर स्थान, अध्याय 7
6. माधवनिदान पूर्वखण्ड, अध्याय 20

निरुक्ति—

मधुकोश अनुसार—उद्गत दोष उन्मार्गगामी होकर मद (मनोविभ्रम) उत्पन्न करते हैं। अतः इस मानस रोग को उन्माद कहते हैं।

सुश्रुत अनुसार—इन्होंने 'तरुण उन्माद' को ही मद कहा है।

चरक अनुसार—इन्होंने मद को उन्माद का पूर्वकालीन अवस्थामात्र न मानकर चार प्रकार के स्वतन्त्र मदरोग बताये हैं।

निदान[1]—

(क) आहारसम्बन्धी हेतु—विरुद्ध, दुष्ट, अपवित्र भोजन।

(ख) मनोदैहिक हेतु—बड़ों तथा पूज्य जनों का अपमान, अत्यधिक भय तथा हर्ष, मनोऽविघात, विषम चेष्टा, प्रबल कामेच्छा (सु.)।

सम्प्राप्ति[2]—उन्माद रोग की निम्न सम्प्राप्ति है—

प्रकुपित दोष (Vitiation of doshas) तथा अल्पसत्त्व व्यक्ति (Psychic personality) → बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य (Vitiate the seat of intellect brain) → मनोवह स्रोतस् (Psychic centres) → प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः (Mental disorders) → उन्माद रोग (Psychosis)।

दोष—वातप्रधान शरीर दोष, रज, मानस दोष।

दूष्य—मनस् (Psyche)

अधिष्ठान—बुद्धिनिवास स्थान हृदय (मस्तिष्क)।

स्रोतस्—मनोवह स्रोतस्।

विशेष—दूष्य-निम्न द्रव्यों के अन्तर्गत भी माने गये हैं।

Unmada : Modern Aspect

Manas	Emotion	Lymbic system
Buddhi	Intellect or decision	Frontal lobe
Samjna-jnana	Orientation & responsiveness	Parietal lobe

1. विरुद्ध-दुष्टाशुचिभोजनानि प्रधर्षणं देवगुरुद्विजानाम्।
उन्मादहेतुर्भय-हर्षपूर्वो मनोऽभिघातो विषमाश्च चेष्टाः।। (च. चि. 9/4)

2. तैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्टा बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य।
स्रोतांस्यधिष्ठाय मनोवहानि प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः।। (च. चि. 9/5)

Smriti	Memory	Hippocampus gyrus of temporal lobe
Bhakti	Desire	Pre-frontal lobe
Sheela	Habit and temperament	Temporal lobe
Chesta	Psychomotor activity	Amygdaloid body
Achara	Conduct	Whole brain

पूर्वरूप—

1. शिर में शून्यता की प्रतीति, आंखों की आकुलता, कानों में आवाज होना, उच्छ्वास की अधिकता।

2. मुखस्राव, अरुचि, अविपाक।

3. हृदयग्रह, ध्यान, आयास, संमोह, उद्वेग।

4. निरन्तर लोमहर्ष, ज्वर, चित्तभ्रान्ति।

5. उदर्द, अर्दिताकृति।

6. स्वप्न में अस्थिर चलते देखना, तेल निकालने वाले कोल्हू पर चढ़े हुए जैसा, वातकुण्डलिका में मन्थन होते जैसा लगना, पानी में डूबने जैसा लगना तथा आँखों का पथरा जाना अर्थात् चक्कर (Vertigo) आना।

सामान्य लक्षण[1]—

1. धी विभ्रम अर्थात् भ्रान्तज्ञानत्व।
2. सत्त्वपरिप्लव अर्थात् मन की चंचलता।
3. दृष्टि की अधीरता तथा असम्बद्ध बोलना।
4. हृदय में शून्यता।

भेद[2]—

(क) **चरक**	**सुश्रुत**	
1. वातज	1. वातज	निज
2. पित्तज	2. पित्तज	निज
3. कफज	3. कफज	निज
4. सन्निपातज	4. सन्निपातज (निज)	निज

1. धीविभ्रमः सत्त्वपरिप्लवश्च पर्याकुला दृष्टिरधीरता च।
अबद्धवाक्त्वं हृदयं च शून्यं सामान्यमुन्मादगदस्य लिङ्गम्।। (च. चि. 9/6)
2. समुद्भ्रमं बुद्धिमनःस्मृतीनामुन्मादमागन्तु निजोत्थमाहुः।
तस्योद्भवं पञ्चविधं पृथक् तु वक्ष्यामि लिंगानि चिकित्सितं च।। (च. चि. 9/8)

5. आगन्तुज (भूतोन्माद) [5. मानस (Functional), 6. विषज (Organic)] आगन्तुज

मानस उन्माद[1]—

1. चोरों, अधिकारियों, शत्रुओं तथा हिंसक जन्तुओं से भयभीत होने के कारण।
2. धननाश (Loss of wealth) से।
3. अधिक कामेच्छा से, गम्भीर मनोविघात (Mental trauma) से।
4. यह केवल भावजन्य (Functional) उन्माद है, न कि शरीरगत (Organic psychosis)।

विषज उन्माद[2]—

1. विष के प्रभाव (Poisioning & Alcoholism) से।

2. बल, इन्द्रिय शक्ति तथा कान्ति क्षीण होने से चेहरा हरा नीला पड़ जाता है। वह संज्ञाहीन (Unconcious) हो जाता है।

3. रोगी संन्यास (Coma) को प्राप्त होता है।

4. यह शरीरगत (Organic) विकार होता है।

भेद तथा विशेष लक्षण—

वातज—

1. अकारण ही हंसना, नाचना, बोलना।
2. अंगों से विविध चेष्टा करना, रोना।
3. शरीर का कठोर, कृश, अरुण वर्ण का होना।
4. रोगी हिंसक नहीं होता (Catatinic schizophrenia)।

पित्तज—

1. अमर्ष (असहनशील)।
2. संरम्भ (नेत्रों में लालिमा)।
3. नग्न होना, संतर्जन (धमकाना)।
4. अभिद्रावण।
5. शरीर का गर्म होना, शीतलता की इच्छा, पीत वर्ण होना। रोगी (Mania) हिंसक प्रवृत्ति का होता है।

1. चित्रं स जल्पति मनोऽनुगतं विसंज्ञो
गायत्यथो हसति रोदिति मूढसंज्ञः। (सु. उ. 62 : 13/1)
2. रक्तेक्षणो हतबलेन्द्रियभाः सुदीनः
श्यावाननो विषकृतेऽथ भवेत्परासुः। (सु उ. 62 : 13/2)

कफज—

1. कम बोलना, लघु चेष्टा, अरुचि।
2. स्त्रियों एवं एकान्त की इच्छा।
3. अतिनिद्रा, वमन, नख, नेत्र, मूत्र।
4. पुरीष का श्वेत होना।
5. भोजन करते ही वेग बढ़ जाना। रोगी प्रायः शान्त होता है (Psychotic depression)।

सन्निपातज—तीनों दोषों के लक्षण से युक्त अति भयंकर तथा असाध्य (Simple & Hebephrenic schizophrenia)।

आगन्तुज—वचन, पराक्रम शक्ति, चेष्टाएं, विज्ञान बल, अमानुषीय होना, अनियन्त्रित समय पर वेग आना। (Organic psychosis)।

चिकित्सा-सूत्र

1. दैवव्यपाश्रय चिकित्सा।
2. सत्त्वावजय चिकित्सा।
3. युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा।
   (क) संशोधन यथाक्रम एवं (ख) संशमन चिकित्सा।
4. ब्राह्मयादि स्वरस, कल्याण घृत
   ब्राह्मयादि कल्क, ब्राह्मी घृत
   त्रिफला शिरीष योग
   मेध्य रसायन भूतभैरव रस
   महापैशाच घृत

व्यवस्था-पत्र—

1.	वचा चूर्ण	: 500 मि. ग्राम
	कुष्ठ चूर्ण	: 500 मि. ग्राम
	पारसीक यवानी चूर्ण	: 500 मि. ग्राम
		: 1×3, दिन में तीन बार ब्राह्मी प्राश के साथ
2.	सर्पगन्धा चूर्ण	: 250 मि. ग्राम
	सूतशेखर रस	: 250 मि. ग्राम
		: 1×3, दिन में तीन बार शंखपुष्पी अवलेह के साथ
3.	उन्माद गजकेशरी	: 500 मि. ग्राम = दो मात्रा, ब्राह्मी घृत के साथ

41 अपस्मार

स्मरण शक्ति, बुद्धि और मन के विभ्रम से बीभत्स चेष्टायुक्त होकर कदाचित् अन्धकार में डूबते हुए की तरह ज्ञानशून्य होने को अपस्मार कहते हैं।

प्राचीन काल में प्रसिद्ध दक्ष प्रजापति के यज्ञ के नाश के समय नाना दिशाओं के भागते हुए प्राणियों के दौड़-धूप करने, जल में तैरने, कूदने, लांघने आदि शरीर को क्षुब्ध करने वाले कारणों से गुल्म रोग की उत्पत्ति हुई। अधिक रूप में घृत का पान करने से प्रमेह एवं कुष्ठ की; भय, त्रास और शोक से उन्माद की तथा अनेक प्रकार के जीवों एवं अपवित्र वस्तुओं के स्पर्श से अपस्मार की उत्पत्ति हुई।

अपस्मार में स्मृति का नाश प्रधान विकृति होने से इस रोग को मानस रोगों की कोटि में रखा गया है। यह एक Neurological व्याधि है। चिन्ता, शोकादि मानसिक कारणों द्वारा प्रकुपित दोषों से चेतनास्थान हृदय (मस्तिष्क) के स्रोत प्रभावित होते हैं, जिससे स्मृति का नाश होकर अपस्मार रोग उत्पन्न होता है। यहाँ पर स्मृति से ज्ञानसामान्य का ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि अपस्मार भी उन्माद के सदृश ही है, इसीलिए इन्हें मानस रोग कहा जाता है। अपस्मार का वेग आवस्थिक तथा किंचित्कालावस्थायी होता है। इसके वेग का समय प्रायः निश्चित होता है। निश्चित समय के बाद संचित दोष प्रकुपित होते हैं, तभी अपस्मार का वेग आता है। अपस्मार वातिक, पैत्तिक, कफज, सान्निपातिक भेद से चार प्रकार का होता है। अपस्मार की चिकित्सा में संशोधन एवं शमन औषधियों के अतिरिक्त आश्वासनादि सत्त्वावजयपरक कर्म, अभ्यंग, स्नान व उत्सादनादि के योग, मेध्य तथा जीवनीय द्रव्यों से युक्त रसायनों का प्रयोग उत्तम बताया गया है।

निरुक्ति—स्मृतिनाश को अपस्मार कहते हैं।

1. चिन्ता, शोक आदि कारणों से प्रकुपित हुए दोष हृदय (मस्तिष्क) के मनोवाही स्रोतों में पहुँच कर स्मृति का विनाश करके अपस्मार रोग उत्पन्न करते हैं।[1]

2. स्मरण शक्ति, बुद्धि और मन के विभ्रम से बीभत्स चेष्टायुक्त, कभी अन्धकार में डूबते हुए की तरह ज्ञानशून्य होने को अपस्मार कहते हैं।[2]

1. चिन्ताशोकादिभिर्दोषा: क्रुद्धा हृत्स्रोतसि स्थिताः।
कृत्वा स्मृतेरपध्वंसमपस्मारं प्रकुर्वते।। (मा. नि. 21/1)
2. अपस्मारं पुनः स्मृतिबुद्धिसत्त्वसंप्लवाद्बीभत्सचेष्टमावस्थिकं तमः प्रवेशमा च क्षते। (च. नि. 8/5)

निदान—

चरक के अनुसार[1]—

1. मन का रज व तम द्वारा अभिभूत होना।

2. वातादि दोषों का विषम होना, अपने मार्ग से विचलित होना या उनका प्रभूत मात्रा में होना।

3. मल तथा विकृत द्रव्यों से युक्त अपवित्र भोजन का विषम प्रयोग।
4. सद्वृत का पालन न करना।
5. विषम शरीर चेष्टा।
6. देह क्षीण।
7. काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, शोक, चिन्ता, ग्लानि आदि से मनोभव होना।

सुश्रुत के अनुसार[2]—

1. इन्द्रियों के विषयों और कर्मों के मिथ्या योग अथवा अतियोग का सेवन।
2. विरुद्ध तथा मलिन आहार-विहार से कुपित दोष।
3. वेगनिग्रह।
4. अहित एव अपवित्र भोजन।
5. रज व तम से आक्रान्त मन।
6. रजस्वला के साथ सम्भोग।
7. काम शोक भय उद्वेग आदि से मनोविघात होना।

सम्प्राप्ति—

मिथ्या आहार-विहार आदि वातादि प्रकोपक निदान तथा चिन्ता शोकादि द्वारा रज तम का समुद्रेक → निदान → शरीर दोष प्रकोप → मानस दोष प्रकोप → हृदय एव मनोवह स्रोतों में दोषप्रसर → मन:क्षोभ → स्मृतिनाश → तम:प्रवेश एवं बीभत्स चेष्टा के वेग → अपस्मार रोग की उत्पत्ति।

दोष-दूष्य अधिष्ठान-स्रोतस्—

दोष—वातादि शारीर तथा रज तम मानस दोष।

1. त एवंविधानां प्राणभृतां क्षिप्रमभिनिर्वर्तन्ते; तद्यथा—
रजस्तमोभ्यामुपहतचेतसामुद्भ्रान्तविषमबहुदोषाणां ....
.... तदा जन्तुरपस्मरति।। (च. नि. 8/4)
2. मिथ्याऽतियोगेन्द्रियार्थकर्मणामभिसेवनात्।
विरुद्धमलिनाहारविहारकुपितैर्मलैः।।
वेगनिग्रहशीलानामहिताशुचिभोजिनाम्।
रजस्तमोऽभिभूतानां गच्छताञ्च रजस्वलाम्।
तथा कामभयोद्वेगक्रोधशोकादिभिर्भृशम्।
चेतस्यभिहते पुंसामपस्मारोऽभिजायते। (सु उ. 61/4-6)

दूष्य—स्मृति।
अधिष्ठान—हृदय तथा मनोवह स्रोतस्।
स्रोतस—मनोवह स्रोतस्।

पूर्व रूप[1]—हृदय में कम्पन, हृदय में शून्यता का अनुभव, पसीना आना, इन्द्रिय मोह, मन और इन्द्रियों की क्रिया हीन, निद्रानाश, स्वेद, भ्रम का बार-बार आना।

सामान्य रूप[2]—

1. आँखों के समक्ष अन्धेरा-सा छा जाना।
2. भयानक रूप बनाना, आँख नचाना, हाथ-पैर पटकना, टेढ़ा मुख करना आदि।
3. पूर्व को अनुभूत करना तथा वर्तमानकालीन स्मरण का निनाश होना।
4. प्रलाप, अव्यक्त ध्वनि करना और क्लेश।
5. सहसा गिर पड़ना, जिह्वा भौंह और आंखों की चंचलता।
6. मुख से बाहर लार गिरना।
7. दोषों के वेग के समाप्त होने पर ऐसे उठना जैसे सोकर उठा हो।

अपस्मार के भेद—

वातज[3]—

1. अपस्मार के रोगी को अपने सामने की वस्तुयें अरुण, कृष्ण वर्ण और रूक्ष दिखाई देती है।

2. शरीर में कम्पन।
3. मुख से फेन निकलना।

पित्तज[4]—

1. रोगी को अपने सामने की वस्तुयें पीली एवं लाल वर्ण का दिखना।
2. शरीर के अंग मुख, नेत्र, मुख से निकलने वाला फेन पीला होता है।
3. तृष्णा, दाह अधिक महसूस होता है।

कफज[5]—

1. रोगी को अपने सामने की वस्तुऐं श्वेत वर्ण की दिखना।

1. हृत्कम्पः शून्यता स्वेदो ध्यानं मूर्च्छा प्रमूढता।
निद्रानाशश्च तस्मिंश्च भविष्यति भवत्यथ।। (सु. उ. 61/7)
2. तम:प्रवेश: ....इति ज्ञेयो गदो घोरश्चतुर्विधः।। (मा. नि. 21/1)
3. कम्पते प्रदशेद्दन्तान् फेनोद्वामी श्वसित्यपि।
परुषारुणकृष्णानि पश्येद्रूपाणि चानिलात्।। (च. चि. 10/9)
4. पीतफेनाङ्गवक्त्राक्षः पीतासृग्रूपदर्शनः।
सतृष्णोष्णानलव्याप्तलोकदर्शी च पैत्तिकः।। (च. चि. 10/10)
5. शुक्लफेनाङ्गवक्त्राक्षः शीतहृष्टाङ्गजो गुरुः।
पश्येच्छुक्लानि रूपाणि श्लैष्मिको मुच्यते चिरात्।। (च. चि. 10/11)

2. शरीर के अंग मुख, नेत्र, मुख से निकलने वाली फेन श्वेत होती है।
3. शरीर शीतल, भारी होता है।

सन्निपातज—तीनों दोषों के प्रकोपज लक्षणों से युक्त होता है।

अपस्मार के वेग हेतु[1]—

भूमि (धातु), बीज (दोष) → प्रकोप → **अपस्मार वेग।**

वात	पित्त	कफ
12 दिन	15 दिन	1 मास

सापेक्ष निदान—

उन्माद	अपस्मार
1. बुद्धिविभ्रम	1. बुद्धिनाश
2. स्थायी रूप व्याधि है।	2. आवस्थिक रूप व्याधि है।
3. वेग मानस रोग वेग विभिन्न।	3. आवस्थिक वेग होते हैं।
4. पूर्ण मानस रोग वेग विभिन्न।	4. आंशिक मानस रोग वेग विभिन्न।
5. अवस्थायुक्त नहीं होता।	5. अवस्था युक्त होता है। जैसे—Aura, crytonic stage, clonic stage post epileptic phenomena.
6. वेग काल में रोगी विभिन्न प्रकार की चेष्टायें करता है।	6. वेग काल में रोगी वीभत्स चेष्टा करता है।
7. Hallucination (सम्मोह) होते हैं।	7. Hallucination नहीं होते।
8. इसमें Brain की Neurotrans-miters मात्रा में बदलाव आता है।	8. मुख्य कारण Cerebral neuronal discharge होता है।

अपस्मार	योषापस्मार
1. इसका आक्रमण बड़े वेग से होता है रोगी अपने को सम्भाल नहीं सकता है।	1. इसका आक्रमण अधिक तीव्र वेग से नहीं होता।
2. यह सोते समय भी हो सकता है।	2. यह सोते समय नहीं हो सकता।

1. पक्षाद्वा द्वादशाहाद्वा मासाद्वा कुपिता मला:। (च. चि. 10/13)
अपस्माराय कुर्वन्ति वेगं किंचिदथान्तरम्।।
देवे वर्षत्यपि यथा भूमौ बीजानि कानिचित्।।
शरदि प्रतिरोहन्ति तथा व्याधिसमुच्छ्रया:।। (सु. उ. 61/19)

अपस्मार	योषापस्मार
3. इसका आक्रमण एकान्त या समूह की अपेक्षा नहीं करता।	3. इसका आक्रमण एकान्त में कभी भी नहीं होता, अपितु कुछ सहायकों के पास रहने पर ही प्रारम्भ होता है।
4. इसका आक्रमण होने पर आंखें और गर्दन वक्र हो जाती हैं ।	4. आँखों और गर्दन वक्र नहीं होती।
5. रोगी एकाएक भूमि पर बुरी तरह से गिर जाता है, जिससे उसे कहीं न कहीं चोट अवश्य लग जाती है।	5. रोगी सदा सावधानी से गिरता है, जिससे उसे प्राय: चोट नहीं आती।
6. कभी-कभी दांतों से जिह्वा कट जाती है।	6. जिह्वा कभी नहीं कटती।
7. मल और मूत्र-त्याग अनैच्छिक होने लगता है।	7. मल और मूत्र का अनैच्छिक त्याग कभी नहीं होता।
8. कण्डरा-प्रतिक्षेप तथा अन्य प्रत्या-वर्तन क्रियायें लुप्त हो जाती हैं।	8. इनका लोप नहीं होता।
9. आक्रमण प्राय: निश्चित समय के बाद होता है।	9. इस प्रकार की नियमितता इसमें नहीं पायी जाती।
10. गर्भाशय से सम्बन्ध नहीं होता।	10. गर्भाशय से सम्बन्ध रहता है।
11. मूर्च्छा निद्रा में परिवर्तित हो जाती है।	11. जल्दी होश आ जाता है।

चिकित्सा-सूत्र

1. **सर्वत: संशोधन**—वातिक अपस्मार में वस्ति प्रधान कर्म द्वारा पैत्तिक अपस्मार में विरेचन द्वारा कफज अपस्मार में वमन द्वारा।

2. सम्यक् आश्वासन।

3. **बाह्य प्रयोग**—

1. अभ्यंग, स्नान, उत्सादन।
2. कटभ्यादि तेल पलंकषादि तेल।
3. प्रदेह व धूपनार्थ पिप्पल्यादि योग।
4. नावन प्रधमन अञ्जन इत्यादि।

4. **आभ्यन्तर प्रयोग**—

1. ब्राह्मी की पत्तियों का स्वरस मधु के साथ।

2. श्वेतकूष्माण्ड बीज और मुलहठी चूर्ण दूध के साथ।
3. शतावर दूध में पीसकर।
4. मास्यादि क्वाथ।
5. कल्याण अवलेह या सारस्वत चूर्ण में पञ्चगव्य घृत के साथ।

सिद्धयोग रस-रसायन—

1. स्मृतिसागर रस 200 मि. ग्राम घृत के साथ सुबह-शाम दे।
2. भूतभैरव रस 300 मि. ग्राम तथा शंखपुष्पी चूर्ण 1 ग्राम और मधु दिन में दो बार।
3. भोजन के बाद अश्वगन्धारिष्ट 10-20 ग्राम समान जल के साथ।
4. ब्राह्मवटी 250 ग्राम मधु से और इसके बाद मांस्यादि क्वाथ सुबह शाम दें।

पथ्य—पुराना महीन चावल, गेहूँ, जौ, परवर, बथुआ, सफेद कोहडा, सहिजन, लौकी, पका टमाटर, गोदुग्ध, गोघृत, मुनक्का, अंगूर, अनार, फालसा, आंवला, सेव, सन्तरा, जाङ्गल जीवों के मांस, धनिया, जीरा, सौंफ, लघु व पवित्र भोजन, ताजे फल, तेल इत्यादि।

अपथ्य—गुरु व विरुद्ध भोजन, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य मछली, पत्तों वाली शाक, मैथुन का वेग रोकना, क्षुधा प्यास को रोकना, चिन्ता, शोक, भय, क्रोध, रात्रिजागरण व अपवित्र भोजन करना इत्यादि।

अतत्त्वाभिनिवेश

लक्षण—

- अतत्त्व में हठ करना (Obsession in non existent)
- बुद्धिविभ्रम

निदान

- मलिन आहार-विहार सेवन के साथ वेगावरोध।
- शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष आदि हेतुओं का अत्यधिक सेवन।
- मन का रज एवं तम द्वारा अभिभूत होना।
- सद्वृत का पालन न करना।
- चिन्ता, शोक, उद्वेग।

सम्प्राप्ति

उक्त हेतु सामान्य → वातादि दोष प्रकोप
काम शोकादि भाव → रज-तम प्रकोप

हृदय (मस्तिष्क) → मनोवह तथा बुद्धिवह सिराओं में स्थानसंश्रय → रज और तम से → बुद्धि, मन आवृत → अल्प सत्त्व पुरुष → **अतत्त्वाभिनिवेश।**

लक्षण—

- हित को अहित, अहित को हित, नित्य को अनित्य तथा अनित्य को नित्य समझना[1]।
- अपने-आप को भूतों से घिरा समझना।
- निष्क्रिय विचारों से मन आच्छादित रहना।
- Obsession to orderliness, cleanliness and punctuality.

चिकित्सा सूत्र

- स्वेदन-स्वेदनोपरान्त शोधन चिकित्सा।
- विज्ञान, धैर्य, धृति, स्मृति ठीक रखने के सम्भव उपाय[2]।
- संसर्जन क्रम में दूध तथा मेध्य द्रव्य (शंखपुष्पी आमलकी, यष्टी मधु)।

औषध प्रयोग

● लहसुन कल्क में तिल तेल मिलाकर	1 पानार्थ
● दूध में शतावर कल्क घोलकर	1 पानार्थ
● दूध में ब्राह्मी स्वरस मिलाकर	1 पानार्थ
● दूध में मीठा कूठ का स्वरस/क्वाथ मिलाकर	1 पानार्थ
● वचा चूर्ण + मधु	1 चाटना
● ब्राह्मी घृत	
● पञ्चगव्य घृत	

व्यवस्था-पत्र—

1.	ब्राह्मी चूर्ण	: 2 ग्राम
	शंखपुष्पी चूर्ण	: 2 ग्राम = 1×3 मात्रा दूध से।
2.	स्मृतिसागर रस	: 250 मि.ग्रा. = 1×3 मात्रा घृत से।
3.	ब्राह्मी घृत	: 10 ग्रमा = 1×2 मात्रा भोजनोपरान्त दुग्ध या उष्ण जल से।

●

1. विषमा कुरुते बुद्धिं नित्यानित्ये हिताहिते।
अतत्त्वाभिनिवेशं तं आहुराप्ता महागदम्।।
2. सुहृदश्चानुकूलास्तं स्वात्मधर्मार्थवादिनः।
संयोजयेयुर्विज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः।।

42 मदात्यय

मद्य का इतिहास अति प्राचीन है। पहले इसने स्वर्ग में, यज्ञों में, श्रीमानों के घर में स्थान पाया और जब इसका पतन होने लगा तो बाद में इसने घर-घर में प्रवेश पाया। यह भी नहीं कहा जा सकता कि इसका पतन हुआ है या इसने पतन कर डाला है।

अस्तु, कोषकार ने इसका नाम 'वरुणात्मजा' और दूसरा नाम 'हलिप्रिया' रखा है। इन पर्यायों पर इसकी प्राचीनता स्थिर है। 'सोमरस' जिसे मादक कहा गया है, इसी का वंशज है, भले ही पूर्वज हो या अनुज हो।

मादक होने के सम्बन्ध से मद्य एक प्रकार का कहा गया है। द्रव्य तथा गुण भेद से इसके अनेक नाम हैं। सौत्रामणी यज्ञ में इसकी आहुतियाँ दी जाती हैं। चरक ने कहा है[1]—मद्य का विधिपूर्वक सेवन करें। जैसे अविधि सेवन से सभी पदार्थ अहितकर होते हैं, वैसे ही मद्य भी है। विधिपूर्वक सेवन किया गया मद्य अन्न के समान जीवन में उपकार करता है[2]।

This may be compared with methyl alcohol poisoning. Symptoms are—vertigo, nausea, vomiting, abdominal pain, headache, dilated pupils, delerium, intense & persistent coma & death.

शार्ङ्गधर ने सभी मादक (नशीले) पदार्थों को बुद्धिनाशक कहा है, किन्तु ये सभी तमोगुण प्रधान होते हैं। आजकल तो मादक द्रव्यों की भरमार हो गई है, किन्तु यह सभी मादक द्रव्य शरीर को जर्जर कर देते हैं और मांसपेशियों को ढीला कर देते हैं। इसके अतिरिक्त यह रक्तवाहिनियों को फैलाकर स्वेदग्रन्थियों को भी उभाड़ देते हैं, जिससे उतनी देर के लिए तापक्रम बढ़ जाता है। इन द्रव्यों का प्रभाव पाचन संस्थान, रक्तवह संस्थान, मस्तिष्क संस्थान एवं मन पर सबसे अधिक पड़ता है।

इन मादक द्रव्यों के निरन्तर सेवन से आमाशय, हृदय, वृक्क, रक्तवाही सिराएँ, यकृत तथा वातनाड़ी संस्थान की रोग-प्रतिरोधक शक्ति का उत्तरोत्तर ह्रास होता जाता है।

यह अम्ल-रस, उष्ण-वीर्य, लघु-विपाकी होता है।

मद्य के बुद्धिवर्धक आदि जो गुण हैं, वे गुण उचित मात्रा में तदनुरूप आहार

1. तां सुरां विधिना पिबेत्। (च. चि. 2/10)
2. किन्तु मद्यं स्वभावेन यथैवान्नं तथा स्मृतम्।
अयुक्तियुक्तं रोगाय युक्तियुक्तं यथाऽमृतम्।। (च. चि. 24/59)

विहार के साथ बहुत दिनों तक नियमित ढंग से प्रयोग करने पर ही पाये जाते हैं; न कि एक साथ अधिकाधिक पी लेने से उन गुणों की प्राप्ति होती है।

कुछ भी हो, मद्य का कुप्रभाव तो बुद्धि पर पड़ता ही है। बुद्धि-वृद्धि सत्त्वगुण-प्रधान आहार-विहार और सदाचार के सेवन से ही होती है।

मद्य का मद उत्पादक क्रम—मद्य हृदय में पहुँच कर अपने दस गुणों से ओज के गुणों को क्षुभित करके चित्त में विकार उत्पन्न कर देता है।

मद्य से प्राप्त होने वाले Alcohel कई प्रकार के होते हैं। जैसे—Methyl alcohol, Ethyl alcohol, Propyl alcohoal, Amyl alcohol. साधारणतया Alcohol शब्द से Ethly alcohol का ग्रहण किया जाता है। आजकल कई प्रकार के मद्य पीये जाते हैं, जिनमें Ethyl alcohol भिन्न-भिन्न मात्रा में पायी जाती है।

निरुक्ति—

मदेन-शास्त्रनिर्देशमुत्सृज्य मदपानेन, यः अत्ययः विनाशः, स एव मदात्ययः।
(मा. नि. 17/1)

अर्थात् शास्त्र निर्देश से अधिक मात्रा में मद्यपान विनाशकारी होता है। इसी अवस्था को मदात्यय कहते हैं।

विधियुक्त मद्य अमृततुल्य[1]—विधिपूर्वक, उचित मात्रा में, उचित काल में, अपने बल के अनुसार और हितकर अन्नों के साथ पान की गई मद्य अमृत के समान लाभ करने वाली होती है।

अविधियुक्त मद्य विषतुल्य[2]—जिसका शरीर रूक्ष है, नित्य व्यायाम करने वाला है, चाहे जिस प्रकार की और चाहे जब कभी भी मदिरा प्राप्त हो जाय, उसे विना विचारे ही जो पी लेता है, वह मदिरा विष के समान उसे हानि करने वाली होती है।

मद्य के गुण—

चरकानुसार—

लघु	व्यवायी	सूक्ष्म	विकासी
उष्ण	आशुकारी	अम्ल	विशद
तीक्ष्ण	रूक्ष		

1. विधिना मात्रया काले हितैरन्नैर्यथाबलम्।
प्रहृष्टो यः पिबेन्मद्यं तस्य स्यादमृतोपमम्।। (च. चि. 24/27)
2. यथोपेतं पुनर्मद्यं प्रसङ्गाद्येन पीयते।
रूक्षव्यायामनित्येन विषवद्याति तस्य तत्।। (च. चि. 24/28)

सुश्रुतानुसार—

विशद	विकासी	तीक्ष्ण	आशुकारी
सूक्ष्म	व्यवायी	उष्ण	रूक्ष

मद्य का प्रभाव[1]—मदिरा पीने पर हृदय में अपना प्रभाव पहुँचाती है। उसके बाद अपने 10 गुणों से ओज के 10 गुणों में क्षोभ उत्पन्न कर मन में विकृति कर देती है।

मदात्यय लक्षण—

चरकानुसार	सुश्रुतानुसार
वातज—	
1. अधिक अंट शंट बोलना 2. हिचकी 3. श्वास 4. चक्कर आना 5. नींद न आना	1. शरीर में स्तब्धता 2. अंगों का टूटना 3. हृदय में जकड़ाहट 4. सारे वदन में सुई चुभने-सी वेदना
पित्तज—	
1. रोगी का शरीर हरे वर्ण का 2. जलन 3. ज्वर 4. पसीना 5. मूर्च्छा 6. अतिसार 7. भ्रम	1. स्वेद का निकलना 2. प्रलाप 3. मुख सूखना 4. शरीर में दाह, मूर्च्छा 5. मुख, नेत्रों में पीलापन
कफज—	
1. शरीर में शीत का अतिप्रभाव 2. वमन 3. भोजन के प्रति अरुचि 4. जी मिचलाना 5. तन्द्रा 6. स्तैमित्य 7. शरीर का भारीपन	1. वमन 2. शीत न लगना 3. कफ का प्रसेक

1. मद्यं हृदयमाविश्य स्वगुणैरोजसो गुणान्।
दशभिर्दश संक्षोभ्य चेतो नयति विक्रियाम्।। (च. चि. 24/29)

सन्निपातज—इसमें सभी दोषों के मिश्रित लक्षण मिलते हैं।

मदात्यय से होने वाले विकार[1]—

1. **पानात्यय**—यह विकार मादक द्रव्यों के अधिक सेवन से होता है।
2. **परमद**—यह विकार (मद) नशे के अधिक हो जाने से होता है।
3. **पानाजीर्ण**—यह विकार मादक द्रव्यों के अपच से होता है।
4. **पानविभ्रम**—यह विकार मद्य के मिथ्या योग से होता है।

मद्य एवं ओज के गुण—

मद्य[2]—

1. लघु	3. आशुज	5. विशद	7. विकासी	9. उष्ण
2. रूक्ष	4. व्यवायी	6. तीक्ष्ण	8. सूक्ष्म	10. अम्ल

ओज[3]—

1. गुरू	3. प्रसाद	5. पिच्छिल	7. श्लक्ष्ण	9. शीत
2. स्निग्ध	4. स्थिर	6. मृदु	8. बहल (सान्द्र)	10. मधुर

अधिक मद्यपान का प्रभाव[4]—अधिक मद्यपान → ओजोह्रास → हृदय विकृति → विकृत सत्त्व, बुद्धि, इन्द्रियाँ, आत्मा।

मद्यपान के उपद्रव[5]—

हिचकी	वमन	पसलियों में पीड़ा	भ्रम
ज्वर	कंपकपी	कास	

मद्य का त्याग करने पर जो व्यक्ति सहसा अधिक मात्रा में पुनः मद्य का सेवन करता है, उसे ध्वंसक और विक्षेपक नामक विकार हो जाते हैं।

ध्वंसक के लक्षण—मुख से कफप्रसेक, कण्ठ और गले का सूखना, शब्द को न सहना, तन्द्रा, निद्रा का अधिक होना।

1. पानात्ययं परमदम्पानाजीर्णमथापि वा।
पानविभ्रममुग्रञ्च तेषां वक्ष्यामि लक्षणम्।। (सु. उ. 47/17)
2. लघूष्णतीक्ष्णसूक्ष्माम्लव्यवाय्याशुगमेव च।
रूक्षं विकाशि विशदं मद्यं दशगुणं स्मृतम्।। (च. चि. 24/30)
3. गुरुशीतं मृदु श्लक्ष्णं बहलं मधुरं स्थिरम्।
प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धमोजो दशगुणं स्मृतम्।। (च. चि. 24/31)
4. अतिपीतेन मद्येन विहतेनौजसा च तत्।
हृदयं याति विकृतिं तत्रस्था ये च धातवः।। (च. चि. 24/36)
5. हिक्काज्वरौ वमथु-वेपथु-पार्श्वशूलाः।
कासभ्रमावपि च पानहतं भजन्ते।। (सु. उ. 47/23)

विक्षेपक लक्षण—हृदय व कण्ठ के रोग, मोह, वमन, शरीर में पीड़ा, ज्वर, कास, तृष्णा, शिर में पीड़ा।

चिकित्सा-सूत्र

सभी प्रकार के मदात्यय त्रिदोषजनित होते हैं। अत: जिस दोष की अधिकता दिखाई दे, उस दोष की पहले चिकित्सा करनी चाहिए।

वातिक मदात्यय

चरकानुसार—

1. मांस प्रयोग।
2. पेयादि प्रयोग—दाड़िम, काञ्जी आदि।
3. मात्रा एवं कालानुसार चिकित्सा।
4. पथ्य सेवन।

सुश्रुतानुसार—

1. इसमें चुक्र, काली मिर्च, अजवायन, कूठ के चूर्ण में सौवर्चल नमक डालकर दें।
2. बड़ी इलायची, अजवायन, सोंठ, शुद्ध हींग और सौवर्चल नमक दें।

पैत्तिक मदात्यय

चरकानुसार—

1. खर्जूर, मुनक्का, फालसा, दाड़िम रस में सत्तू और चीनी मिलाकर दें।
2. हरिण, खरगोश, लावादि के मांस को मधुर एवं अम्ल द्रव्य साठी चावल के भात के साथ दें।
3. वमन करायें।
4. तर्पण कर्म।
5. कासादि लक्षणों की चिकित्सा।
6. द्राक्षा रस प्रयोग।
7. पेया प्रयोग।
8. लेप, परिषेक आदि।
9. शीतल जल प्रयोग।

सुश्रुतानुसार—

1. काकोल्यादि गण की औषधियों के (गुडूची को छोड़कर) क्वाथ में मद्य मिलाकर, शहद, शर्करा, इलायची, तेजपत्र आदि द्रव्य मिलाकर पिलाये।

कफज मदात्यय

चरकानुसार—

1. वमन एवं उपवास
2. पेया
3. मांस प्रयोग
4. उचित अहार-विहार सेवन

सुश्रुतानुसार—

1. यव द्वारा बनाये पेया, लेह्य, भक्ष्य पदार्थ, जंगली पशु-पक्षियों का मांस सेवन।

औषध व्यवस्था पत्र—

1. एलादि मोदक 5-10 ग्राम = 2 बार धारोष्ण दूध से।
2. महाकल्याण वटी 125 मि.ग्रा. = 2 बार मक्खन से।
3. भोजनोत्तर-श्रीखण्डासव 20 मि.ली. = 2 बार समान जल से।

पथ्य—गेहूँ, जौ, मूँग, पुराने चावल, परवल, चौलाई, आँवला, बिजौरा नींबू, फालसा, मृग, तीतर, मुर्गा, मोर का मांस एवं मनपसन्द मद्यपान।

संशोधन, संशमन, शयन, उपवास, मित्रसङ्गम, प्रिया-आश्लेष, चाँदनी, मणिधारण, शीतल जल, चन्दनादि लेप, संगीत, वाद्य—ये पथ्य हैं।

अपथ्य—स्वेदन, अञ्जन, धूम्रपान, नस्य, दातौन करना, पान खाना—ये अपथ्य हैं।

मद्य की अवस्थाएँ

चरकानुसार—

1. **प्रथम मद**—बुद्धि, स्मृति, प्रेम बढ़ाता है। पीना, खाना, सहवास सुख, अध्ययन के प्रति रुचि को बढ़ाता है।

2. **द्वितीय मद**—मानव की बुद्धि, स्मृति, वाणी एवं निद्रा आती है।

3. **तृतीय मद**—गुरुजनों का अपमान करता है, बेहोश हो जाता है, मन की गुप्त बातें कहता है, पराधीन हो जाता है, अपने मन से कुछ नहीं कर पाता।

सुश्रुतानुसार—

1. **पूर्वावस्था**—वीर्य (उत्साह), हर्ष, प्रीति तथा बोलने के प्रति आकर्षण—इन भावों की वृद्धि होती है।

2. **मध्यमावस्था**—प्रलाप, मोह, उचित व अनुचित कार्य करता है।

3. **पश्चिमावस्था**—कर्म तथा क्रिया के गुण नष्ट होकर रोगी बेहोश होकर भूमि पर गिर जाता है।

आधुनिक मतानुसार—

1. **First stage**—Stage of excitement talks, sexual desire increases, felling of welbeing irregular.

2. **Second Stage**—Stage of incoordination, incoordination of thought, speech & action, impaired judgement, confusion, slurred speech, staggering gait, euphoria, nausea, vomiting, dilated pupils, impaired judgement.

3. **Third Stage**—Stage of narcosis, deep sleep, rapid pulse, temperature subnormal, stertorous breathing, pupils contracted, death due to paralysis of cardiac or respiratory centre.

43 मूर्च्छा

चेतना शक्ति के ह्रास की अवस्था को मूर्च्छा कहते हैं। जो मनुष्य अत्यन्त क्षीण हो गया हो, जिसमें दोषों का प्रकोप अत्यधिक मात्रा में हो एवं जो विरुद्ध आहार का सेवन करने वाला हो, उनमें तथा मल-मूत्र आदि के वेगों धारण करने से, चोट लग जाने से, दुर्बल मन वाले या जिनमें सत्त्वगुण की कमी होती है, ऐसे मनुष्य के मन या इन्द्रियों के बाह्य आयतन (चक्षुः, क्षोत्र आदि) तथा आभ्यन्तर आयतनों (मनोवह स्रोतों) में तीक्ष्ण रूप से विकृत दोषों का प्रवेश हो जाने पर मनुष्य मूर्च्छित हो जाता है। वात आदि दोषों से संज्ञावाही नाड़ियों के आच्छादित हो जाने पर आँखों के आगे सुख एवं दु:ख के विवेक को नष्ट कर देने वाला तमोगुण या अन्धकार छा जाता है। सुख तथा दु:ख का ज्ञान नष्ट हो जाने पर मनुष्य सूखे काष्ठ के समान गिर पड़ता है। इस अवस्था को मोह या मूर्च्छा कहते हैं। पाश्चात्य मत के आधार पर मूर्च्छा का विशेष सम्बन्ध हृदय या सम्पूर्ण रक्तवह संस्थान एवं मस्तिष्क की विकृति से प्रतीत होता है। अत: इसे सिनकोप और कोमा की मिली हुई अवस्था कह सकते हैं। मूर्च्छा में चेतना शक्ति का ह्रास हो जाता है। वात, पित्त, कफ, रक्त, मद्य तथा विष से उत्पन्न होने के कारण यह 6 प्रकार की होती है। किन्तु इन सभी मूर्च्छाओं में पित्त की प्रधानता रहती है। हृत्पीड़ा, जृम्भा, ग्लानि और संज्ञादौर्बल्य आदि मूर्च्छा के पूर्वरूप कहे गये हैं। दोषों का वेग शान्त होने पर रोगी स्वयं स्वस्थ हो जाता है।

प्रमुख सन्दर्भ—

1. चरकसंहिता, सूत्रस्थान, अध्याय 24
2. सुश्रुतसंहिता, उत्तरतन्त्र, अध्याय 46
3. माधवनिदान, अध्याय 17

मूर्च्छा—चेतना शक्ति के ह्रास की अवस्था को मूर्च्छा कहते हैं।[1]

निदान[2]—

---

1. मोहो मूर्च्छेति तामाहु:। (सु. उ. 46/7)
2. क्षीणस्य बहुदोषस्य विरुद्धाहारसेविन:।
वेगाघातादभीघाताद्धीनसत्त्वस्य वा पुन:।।
करणायतनेषूग्रा बाह्याभ्यन्तरेषु च।
निविशन्ते यदा दोषास्तदा मूर्च्छन्ति मानवा:।। (सु. उ. 46/3-4)

● क्षीणस्य ● बहुदोषस्य
● विरुद्धाहार सेवन ● हीनसत्त्वस्य
● वेगाघातात् ● अभिघातात्

सम्प्राप्ति—

दोष विकृति → बाह्य आयतन (इन्द्रिय) → बाह्याभ्यन्तर आयतनों में विकृत दोष प्रवेश → मूर्च्छा की उत्पत्ति।

पूर्वरूप[1]

1. हृत्पीड़ा 2. जृम्भा 3. ग्लानि 4. संज्ञादौर्बल्य

भेद एवं रूप[2]—

वातज—वेपथु, अंगमर्द, हृत्पीड़ा, कार्श्य, श्यावारुण छायायुक्त।
पित्तज—तृष्णा, दाह, रक्तपीताकुलेक्षण, पीताभ, संभिन्न वर्च।
कफज—गौरव, प्रसेक, हृल्लास।
रक्तज—रक्त की गंध = पृथ्वी + जल पृथ्वी, जल = तमोगुण, मूर्च्छा।
मद्यज/विषज—कम्पन, निद्रा, तृष्णा, तम।

चिकित्सा-सूत्र

1. शोधन—आतुर बल तथा दोषों का विचार करके स्नेहन, स्वेदनपूर्वक पञ्चकर्म कराना चाहिए।

2. सामान्य क्रम—शीतोपचार—सेकावगाह (शीतल जल से सेक व स्नान) मणिधारण शीतल गन्ध द्रव्यों के पंखे की हवा। शीतल गन्ध द्रव्यों का पान।

3. विशेष क्रम—

(क) रक्तज मूर्च्छा में शीत क्रिया।
(ख) मद्यज मूर्च्छा में हल्का मद्यपान, शयन।
(ग) विषज मूर्च्छा में विषघ्न औषधियों का प्रयोग।

4. अवबोधनकारी क्रिया—

1. तीक्ष्ण अञ्जन 3. धूम 5. सूचीभिस्तोदन (Needle pinching)
2. अवपीड़न 4. प्रधमन

1. हृत्पीड़ा जृम्भणं ग्लानिः संज्ञादौर्बल्यमेव च।
सर्वासां पूर्वरूपाणि, यथास्वं ता विभावयेत्।। (सु. उ. 46/5)
2. षड्विधा सा प्रकीर्तिता।
वातादिभिः शोणितेन मद्येन च विषेण च।
षट्स्वप्येतासु पित्तं च प्रभुत्वेनावतिष्ठते।। (सु. उ. 46/78)

5. जब रोगी ससंज्ञ हो जाए तो निम्नलिखित विधि से निरन्तर अनुबन्ध की चिकित्सा करनी चाहिए—

1. लघु अन्न
2. विस्मापन
3. प्रियस्मरण
4. प्रिय श्रुति
5. पटु व्यक्तियों के गीत, वाद्य के शब्द सुनना
6. विचित्र वस्तुओं का दर्शन
7. विरेचन
8. वमन
9. धूम्रपान
10. अञ्जन
11. कवलधारण
12. रक्तमोक्षण
13. व्यायाम
14. उद्घर्षण
15. आतुर मन को डुबोने वाले कारणों से बचना

6. औषध-प्रयोग—

कोलमज्जादि चूर्ण
दुरालभा क्वाथ
त्रिफलापयस प्रयोग
त्रिफला योग
शिलाजतु योग
कुम्भि सर्पि
पानीय कल्याणक घृत
महातिक्त घृत
तिक्त षट्पलक घृत

7. अपथ्य—ताम्बूल, पत्रशाक, दन्तघर्षण, आतप, विरुद्ध अन्नपान, स्त्री-सम्भोग, स्वेदन कर्म, कटु पदार्थ, तृष्णा व निद्रा के वेगविधारण, तक्र सेवन।

●

44 संन्यास

वाणी, शरीर तथा मन की क्रियाओं का अवरुद्ध हो जाना संन्यास कहलाता है। संन्यास रोग को कई आचार्यों ने 'गम्भीर मूर्च्छा' भी कहा है; परन्तु अन्यों ने इसे मद और मूर्च्छा से भिन्न माना है। मद और सभी प्रकार की मूर्च्छा दोषों के वेग शान्त होने पर चिकित्सा के बिना भी शान्त हो जाती है; परन्तु संन्यास बिना उपयुक्त चिकित्सा के शान्त नहीं होता है। बलहीन मनुष्य में अत्यन्त प्रवृद्ध दोष जब प्राणायतन में पहुंच कर वाणी, शरीर तथा मन की क्रियाओं को अवरुद्ध कर देते हैं, तो रोगी संन्यास को प्राप्त हो जाता है। रोगी का शरीर मृतोपसम रहता है; परन्तु जीवन के सभी चिह्न (Vital signs) उपस्थित रहते हैं। यह मानस रोग नहीं है। यह अवस्था विभिन्न शारीरिक व मानस रोगों में अवस्थाविशेष के रूप में हो सकती है।

आयुर्वेद साहित्य के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि मूर्च्छा और संन्यास में बहुत अधिक अन्तर नहीं है। केवल गम्भीरता का अन्तर है। मूर्च्छा पित्त और तमप्रधान व्याधि है, जबकि संन्यास कफ और तमप्रधान अवस्था है। कफ और तम के सधर्मी होने के कारण यह अवस्था अधिक गम्भीर है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ अवस्थायें भी वर्णित हैं; जैसे—भ्रम, क्लम, तन्द्रा, निद्रा आदि। ये सभी अवस्थायें भी स्वतन्त्र व्याधि न होकर विभिन्न शारीरिक और मानसिक व्याधियों की अवस्थाविशेष ही है; परन्तु चेतना स्तर (Consciousness level) में अन्तर पाया जाता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में भी चेतना के विभिन्न स्तर वर्णित हैं। सुविधा के लिए दोनों का सापेक्षिक वर्णन किया जा रहा है—

मूर्च्छा[1]—इसमें चेतना शक्ति का ह्रास हो जाता है, आँखों के सामने अंधेरा छा जाता है। सुख-दु:ख का ज्ञान नष्ट हो जाता है। मनुष्य गिर पड़ता है। दोषों का वेग शान्त होने पर रोगी स्वयं स्वस्थ हो जाता है—

भ्रम[2]—इसमें रोगी को शिर घूमने की-सी प्रतीति होती है और चक्कर खाकर बार-बार गिर पड़ता है।

तन्द्रा[3]—इन्द्रियार्थों का उचित ज्ञान न होना, शरीर में गौरव, जृम्भा (Yawning), क्लम तथा निद्रा का अनुभव करना आदि तन्द्रा के लक्षण हैं। तन्द्रा को

1. मोहो मूर्च्छेति तामाहु:। (सु. उ. 46/7)
2. मूर्च्छा पित्त-तम:प्राया रज:-पित्तानिलाद् भ्रम:।
तमो-वात-कफात्तन्द्रा निद्रा श्लेष्म-तमोभवा।। (सु. शा. 4/56)

वस्तुत: अर्धसुप्तावस्था अर्थात् Stuporous condition मान सकते हैं।

निद्रा—इसे सामान्यतया स्वभावत: होने वाली निद्रा समझना चाहिए। कदाचित् अस्वाभाविक निद्रा भी रोगावस्था में देखी जा सकती है। मन और शरीर के थक जाने पर जब सभी इन्द्रियाँ शिथिल होकर अपना-अपना काम बन्द कर देती हैं तो मनुष्य सो जाता है। चरक ने सात प्रकार की निद्रा का वर्णन किया है; यथा—1. तमोभवा, 2. श्लेष्मसमुद्भवा, 3-4 मन:-शरीर-श्रमसम्भवा, 5. आगन्तुकी, 6. व्याध्यनुवर्तिनी तथा 7. रात्रिस्वभावप्रभवा।

सुश्रुत ने रात्रिस्वभावप्रभवा निद्रा को वैष्णवी निद्रा कहा है। यही स्वाभाविक निद्रा है तथा यही यूपस्तम्भ का एक स्तम्भ है। अन्य प्रकार की निद्रा वैकारिक है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार निद्रा (Sleep) के दो प्रकार होते हैं—

1. REM (Rapid eye movement) sleep
2. NREM (Non rapid eye movement) sleep.

उपर्युक्त दोनों प्रकार की निद्रा एक के बाद दूसरी तथा पुन: प्रथम प्रकार की निद्रा, चक्र (Cycle) के रूप में होती रहती है।

क्लम—बिना कोई श्रम किये तथा बिना श्वास-प्रश्वास की गति परिवर्तित हुए जो थकान महसूस होती है, उसे ही क्लम कहा जाता है। इसमें इन्द्रियाँ भी अपने विषय में समुचित रूप में प्रवृत्त नहीं होती हैं। लक्षण मुख्य रूप से स्मृति-दौर्बल्य, मन की चंचलता, शिर:शूल, चिड़चिड़ाहट तथा अनिद्रा आदि हो सकते हैं।

ग्लानि—इसका अर्थ हर्ष का क्षय है (ग्लै हर्षक्षये)। ऐसा व्यक्ति कभी भी प्रसन्न नहीं दिखाई देता और विभिन्न प्रकार की शारीरिक और मानसिक वेदनाओं की शिकायत करता रहता है और कोई भी कार्य उत्साहपूर्वक नहीं करता। यह मानस विकार है, इसमें रोगी की सत्त्वावजय चिकित्सा करनी चाहिए।

प्रमुख सन्दर्भ—

1. माधवनिदान अध्याय 17 (मूर्च्छा भ्रमादि निदान)
2. अष्टांगहृदय, निदान स्थान 6 (मदात्यय निदान)
3. सुश्रुतसंहिता, उत्तरतन्त्र 46 (मूर्च्छा प्रतिषेध)
4. चरकसंहिता, सूत्रस्थान 24 (विधिशोणितीय अध्याय)

Modern Aspect

Disturbance of conciousness—Mental functions naturally depends upon full consciousness. This may be lost in several conditions and termed as follows.

1. Stupor—Partial loss of consciousness.

2. Delirium—Partial unconsciousness which is accompanied by restlessness man of the body and mind.

3. Fainting or Syncope—An abrupt loss of consciousness without any major pathological changes. It is mediated through brain as a result of deficient vascular supply.

4. Fits—This is characterised by abrupt loss of consciousness and convulsive movement.

5. Coma—This is defined as a state of unconsciousness from which the patient can not be roused. It may gradually supervene in last stages of many chronic diseases but more important are those forms which develops rapidly or unexpectedly.

Causes and Diagnostic Signs of Coma—

1. Cerebral causes traums—Skull or scalp injury (Blood or CSF from ear or nose).

Vascular—Hemiplegia, hypertension, neck regidity (if subarachnoid haemorrhage).

Neoplasm—Focal CNS signs (papilloedema).

Infections—Pus from nose & ears, neck rigidity, fever.

Epilepsy—History or signs of convulsions, tongue scarred or bleeding.

2. Metabolic causes uraemia— Uriniferous breath, dehydration, twitching, retinopathy, proteinuria.

Diabetes—Acetone on breath (fruity smell), dehydration, retinopathy, sugar and ketone in urine.

Hypoglycemia—Sweats, twiching, Babinski's sign may be present.

Co_2 Narcosis—Sweats, central cyanosis, signs of lungs disease, papilloedema.

Hepatic—Jaundice, splenomegaly, haematemesis, flapping tremors.

3. Toxic causes alcohol—Smell of breath, fulshed face.

Narcotic drugs (Opiates & barbiturates)—Pinpoint pupil (opiates), shallow breathing, cyanosis.

Grades of coma—

1. Deep coma (grade 4)
2. Semi coma (grade 3)
3. Stupurous state (grade 2)
4. Drowsy or somnolent state (grade 1)

संन्यास-निदान-सम्प्राप्ति-रूप—

मिथ्या आहार-विहार बलहीन मनुष्य → वात-पित्त कफ-शारीरिक दोष रज और तम-मानसिक दोष → प्रवृद्ध दोष → प्राणायतन में दोष-प्रवेश (हृदय व मस्तिष्क) → वाणी, शारीरिक तथा मानसिक क्रियायें अवरुद्ध → रोगी काष्ठीभूत व मृतोपसम → संज्ञाशून्यता → **संन्यास।**

चिकित्सा—संन्यास की चिकित्सा मूर्च्छावत् करनी चाहिए।

45 फिरंग रोग

फिरंग रोग को गरमी, आतशक फिरंग और सिफिलिस कहा जाता है। फिरंगियों (पुर्तगाली) से साथ भारतवर्ष में इस रोग का आगमन हुआ, इसलिए इसे फिरंग रोग कहते हैं। यह रोग एक मैथुनजन्य संक्रामक व्याधि है। इस रोग का वर्णन सबसे पहले 'भावमिश्र' ने किया। यह दीर्घकालानुबन्धी औपसर्गिक रोग है। यह रोग Self-acquired और माता के द्वारा होने से Congential होता है।

फिरंग रोग का कारण Spirocheate (Treponema pallidum) नामक जीवाणु है, जो अत्यन्त चञ्चल होता है। यह जीवाणु अपने ही स्थान पर हिलता रहता है तथा अत्यन्त कोमल होने के कारण शरीर के बाहर सूखने से और अत्यन्त सौम्य जीवाणुनाशक द्रव्यों से जल्दी मर जाता है।

फिरंग रोग के जीवाणु का संक्रमण निम्नलिखित प्रकार से होता है—

1. मैथुन फिरंग 2. गात्र-संस्पर्श 3. माता

1. मैथुन फिरंग—जीवाणु से उपसृष्ट पुरुष या स्त्री के साथ मैथुन करने से संक्रमण स्वस्थ मनुष्य पर होता है। मैथुन की रगड़ से ज्ञानेन्द्रिय की श्लेष्मल त्वचा पर जो सूक्ष्म क्षत बनते हैं, उनमें से जीवाणु शरीर में प्रवेश करते हैं। संक्रमण का यह प्रधान मार्ग है।

2. गात्रसंस्पर्श—ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त अन्य अङ्गों का फिरङ्ग-दूषित स्थानों से सम्बद्ध होने पर इसका उपसर्ग 5-10% रोगियों में होता है। इनमें वैद्य, डाक्टर, नर्स, परिचारक तथा दाई इनकी अधिकता होती है। इस मार्ग को Extragenital मार्ग कहते हैं।

3. मातृसंस्पर्श—गर्भावस्था में माता के द्वारा फिरंग का संक्रमण बालक में होता है। यह संक्रमण प्राय: गर्भावस्था के Second half में होता है।

प्रथम दो मार्ग (मैथुन और गात्रसंस्पर्श) से जो फिरंग होता है, वह Acquired कहलाता है। माता से जो होता है, वह Congenital कहलाता है।

प्रमुख सन्दर्भ—

1. भावप्रकाश-59
2. माधव निदान-14

निरुक्ति[1]—फिरङ्गियों (पुर्तगाली) के साथ भारतवर्ष में इस रोग का आगमन हुआ, इसलिये इसे फिरङ्ग रोग कहा जाता है।

पर्याय—गरमी, आतशक, फिरङ्ग, सिफलिस (Syphilis)।

निदान—

1. प्रधान कारण Treponema pallidum नामक जीवाणु।
2. मैथुन।
3. वंशपरम्परा।

सम्प्राप्ति—

मैथुन—फिरङ्ग रोग से ग्रस्त स्त्री/पुरुष से → स्वस्थ व्यक्ति मैथुन की रगड़ से श्लेष्मल त्वचा पर सूक्ष्म क्षत से जीवाणु-प्रवेश।

अमैथुनीय बहिर्जननेन्द्रिय मार्ग—स्थान—होठ, स्तन, चिकित्सकों और परिचारकों की अंगुलियों पर। कारण—चुम्बन इत्यादि से।

रक्तमार्ग—फिरङ्ग व्यक्ति के रक्त में प्राथमिक, द्वितीयक और तृतीयक की पूर्वस्थिति; इसी अवस्था में ऐसे रोगी का रक्त—स्वस्थ व्यक्ति में फिरङ्ग-कारक।

सहज मार्ग—फिरङ्ग रोगी की संतान फिरङ्ग-पीड़ित—योनिमार्ग में फिरङ्ग होने से प्रसूति समय बालक में।

भेद[2]—

1. बाह्य 2. आभ्यन्तर 3. बाह्यान्तर

बाह्य—फोड़े निकलते हैं। पीड़ा कम होती है। फूटने पर व्रण के समान सुख-साध्य है।

आभ्यन्तर—सन्धिगत आमवात के समान पीड़ायुक्त शोफ उत्पन्न करता है। यह कष्टसाध्य होता है।

बाह्यान्तर—यह बाहर तथा भीतर दोनों स्थानों पर होने वाले होते हैं।

---

1. फिरङ्गसंज्ञके देशे बाहुल्येनैव यद्भवेत्।
तस्मात्फिरङ्ग इत्युक्तो व्याधिर्व्याधिविशारदैः। (भा. प्र. 59/1)

2. फिरङ्गस्त्रिविधो ज्ञेयो बाह्य आभ्यन्तरस्तथा।
बहिरन्तर्भवश्चापि तेषां लिङ्गानि च ब्रुवे।।
तत्र बाह्यः फिरङ्गः स्याद्विस्फोटसदृशोऽल्परुक्।
स्फुटितो व्रणवद्वेद्यः सुखसाध्योऽपि स स्मृतः।।
सन्धिष्वाभ्यन्तरः स स्यादामवात इव व्यथाम्।
शोथञ्च जनयेदेष कष्टसाध्यो बुधैः स्मृतः।। (भा. प्र. 59/4-6)

उपद्रव[1]—

1. कार्श्य	3. नासाभंग	5. अस्थि शोष
2. बलक्षय	4. अग्निमान्द्य	6. अस्थिवक्रता

साध्यासाध्यता[2]—

1. बाह्य, नवीन और उपद्रवरहित फिरङ्ग—साध्य
2. आभ्यन्तर—कष्टसाध्य
3. बाह्य आभ्यन्तर, उपद्रवयुक्त धातुओं में व्याप्त—असाध्य

लक्षण—

प्रथमावस्था—

● सम्भोग 2-3 सप्ताह में केवल शिश्न पर या शिश्न के अग्रचर्म के भीतर की ओर व नीचे की ओर तथा मूत्रदण्डिका Urethra में छिद्र के ओष्ठों के भीतर।

● स्त्रियों में बृहद्भगोष्ठ के भीतरी अंग पर छोटा सा दाना।

● धीरे-धीरे बढ़कर फूट जाता है, व्रण बन जाता है।

● स्पर्श में कठिन, लसीका स्रावयुक्त, 1-2 सप्ताह पश्चात् लसीका ग्रन्थियाँ फूलती हैं।

द्वितीयावस्था—

● विष समस्त शरीर में फैल जाता है।

● ओठ, जीभ, तालु और गले के दोनों ओर की श्लेष्मल कला पर छाले पड़ जाते हैं।

● ग्रीवा, कोहनी तथा कक्षा की लसीका ग्रन्थियाँ फूलती हैं।

● ज्वर, शिर-संधियों में पीड़ा, रक्ताल्पता।

तृतीयावस्था—

● व्रण बनने के 6 मास पश्चात् प्रारम्भ होता है या एक-दो वर्ष बाद।

● त्वचा, उपत्वचा, लसीका ग्रन्थियाँ, मांसपेशियाँ, मस्तिष्कावरण, यकृत् प्लीहा आदि गांठदार व चपटी ग्रन्थियाँ Gumma धीरे-धीरे पूयकारक।

● मस्तिष्क, सुषुम्ना में होने से पक्षाघात आदि विकार।

---

1. कार्श्यं बलक्षयो नासाभङ्गो वुह्नेश्च मन्दता।
अस्थिशोषोऽस्थिवक्रत्वं फिरङ्गोपद्रवा अमी।। (भा. प्र. 59/7)
2. बहिर्भवो भवेत्साध्यो नवीनो निरुपद्रवः।
आभ्यन्तरस्तु कष्टेन साध्यः स्यादयमामयः।।
बहिरन्तर्भवो जीर्णः क्षीणस्योपद्रवैर्युतः।
व्याप्तो व्याधिरसाध्योऽयमित्याहुर्मुनयः पुरा।। (भा. प्र. 59/8-9)

चतुर्थावस्था—

● प्रथम आक्रमण के तीन महीने के भीतर या 25-30 वर्ष बाद।

● मस्तिष्क संस्थान पर उन्माद, लड़खड़ा कर चलने की अवस्था।

चिकित्सा-सूत्र

1. रक्तशोधन।
2. शमन उपचार।
3. व्रणयुक्त स्थान का जीवाणुनाशक घोल या व्रणशोधन निम्ब पत्र के क्वाथ से प्रक्षालन।
4. लेपप्रयोग।
5. व्रण का धूमन।
6. शोधन-रोपण औषधि-सिद्ध घृत लगावे।

सामान्य चिकित्सा—

1. प्रक्षालन—चमेली, कनेर, अमलतास के पत्ते के क्वाथ में फिटकरी का चूर्ण डालकर व्रण को धोना।

2. लेप—समभाग त्रिफला को कड़ाही में रख सकोरे से ढक कर चूल्हे पर चढ़ाकर अन्तर्धूम भस्म कर, पीसकर घी मिलाकर व्रण पर लगाना।

3. रोपण तेल—गोजी तेल, जम्ब्वादि तेल।

4. घृत प्रयोग—भूनिम्बादि घृत, पटोलादि घृत।

सिद्धयोग—

1. चोपचीनी चूर्ण 2-4 ग्राम मधु से।	8. मल्लसिन्दूर
2. भैरवरस एक गोली प्रतिदिन सायंकाल।	9. रसकर्पूर
3. सारिवाद्यवलेह 10 ग्राम गोदुग्ध से।	10. त्रिफला गुग्गुल
4. सप्तशालि वटी	11. रसमाणिक्य
5. कज्जली	12. खदिरारिष्ट
6. कज्जल्यादि मोदक	13. सारिवाद्यासव
7. चोपचीन्यादि चूर्ण	

चिकित्सा व्यवस्था-पत्र—

(क) 1. दिन में दो बार

रसमाणिक्य : 250 मि. ली.
गुडूचीसत्त्व : 1 ग्राम
मुक्ताशुक्ति भस्म : 1/2 ग्राम
1×2 मधु से

2. चोपचीनी चूर्ण—2 ग्राम मधु से। (अथवा) सवीरवटी एक गोली निगलकर चीनी मिला गोदुग्ध पीना।

(ख) महामंजिष्ठादि क्वाथ 40 मि.ली. = 1×2 मात्रा भोजनोपरान्त

(ग) भोजन के बाद—खदिरारिष्ट—40 मि.ली. = समान जल से दो बार।

(घ) रात में—आरोग्यवर्धिनी एक ग्राम गोदुग्ध से।

पथ्य—गेहूँ की रोटी और गाय का दूध, मूग की दाल, घी में विना नमक मसाले का परवल, करेला और लौकी तथा आंवला।

अपथ्य—दिन में सोना, मैथुन, मीठा-भारी अन्न, मूत्रवेग को रोकना, अम्ल, वक्र लवण, श्रम तथा स्नान का त्याग करना।

46 उपदंश

उपदंश लिंग में होने वाली एक व्याधि है; जो कि अधिक मैथुन करने से, अति ब्रह्मचर्य, नख, दन्त, विष तथा शूल लगने से, शिश्न को बांधकर रखने से, चतुष्पद पशु-स्त्री के साथ मैथुन करने से, गन्दे पानी से शिश्न को धोने से, लिङ्ग का पीड़न करने से, शुक्र व मूत्र के वेग को रोकने से, हस्तमैथुन के समय आघात लगने से तथा अनेक कुपथ्य करने से लिंग में हो जाती है। अधिक मैथुन करने से एक से चार दिन तक शिश्न में ग्रन्थि बन लसीका का संग्रह हो जाता है और चारो ओर शोथ एवं रक्ताधिक्य होकर एक या दो दिन में पूय बन जाता है, इसके बाद शोथ विदीर्ण होकर व्रण का रूप ले लेता है, जिसे उपदंश कहते हैं। उपदंश व्रण गुह्यांग के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी होते हैं, पुरुषों में इसका स्थान शिश्नमणि की त्वचा के भीतर तथा बाहर, शिश्नसेवन तथा स्त्रियों में इसका स्थान लघु भगोष्ठ, भगाञ्जलिका, भगशिश्न और भगालिन्द में है। उपदंश के सामान्य लक्षणों में शिश्न में शोथ, वेदना, शिश्न के मणि भाग में व्रण, व्रण से रक्त, कृष्ण, नील, धूसर व्रण का स्राव, जननेन्द्रिय में टेढ़ापन, कठोरता तथा जलन, ज्वर, अत्यधिक तृष्णा, मूर्च्छा व वमन है। वातिक, पैत्तिक, कफज, त्रिदोषज तथा रक्तज के भेद से उपदंश को पाँच प्रकार का माना गया है। उपदंश की सामान्य चिकित्सा में रोगी का स्नेहन-स्वेदन करके मूत्रेन्द्रिय के मध्य भाग में सिरावेधन, रक्तमोक्षण, निरूहन देकर कोष्ठशोधन, व्रणपाक होने पर सिरा, स्नायु, मांस, त्वचा गलने से औषधप्रयोग, व्रण में से पूय निकालकर उस पर घृत-मधु मिश्रित तिलकल्क रखे तथा व्रणप्रक्षालन हेतु नीम, पीपल, कदम्ब, जामुन, गूलर, बरगद, अर्जुन इत्यादि की छाल का क्वाथ दे।

प्रमुख सन्दर्भ—

माधवनिदान अध्याय-47

निदान[1]—

1. अधिक मैथुन करना।
2. अति ब्रह्मचर्य।
3. शिश्न को बांध कर रखने से।
4. लिङ्ग को पीड़न करना।

1. हस्ताभिघातान्नखदन्तपातादधावनाद्रत्यतिसेवनाद्वा।
योनिप्रदोषाच्च भवन्ति शिश्ने पञ्चोपदंशा विविधापचारैः।। (मा. नि. 47/1)

5. शुक्र व मूत्र के वेग को रोकना।
6. हस्तमैथुन के समय आघात लगने से।

सम्प्राप्ति[1]—

मैथुन → 1-4 दिन में शिश्न पर ग्रन्थि → लसीका का संग्रह → चारो ओर शोथ और रक्ताधिक्य → 1-2 दिन में पूय → शोथ विदीर्ण होकर व्रण (उपदंश)।

व्रणस्थान—उपदंश व्रण गुह्य अंग के अतिरिक्त अन्य स्थानों में भी होते हैं, स्तन, ओष्ठ, ग्रीवा, हाथ, पैर व सार्वदैहिक रूप से वर्ण उत्पन्न होते हैं। पुरुषों में इसका स्थान शिश्नमणि त्वचा के भीतर, बाहर, शिरोसेवनी और मणि के भीतरी मूत्रमार्ग में होता है, स्त्रियों में इसका स्थान लघु भगोष्ठ, भगाञ्जलिका, भगाशिश्नि और भगालिन्द में होता है।

सामान्य उपद्रव—

1. शिश्न में शोथ, वेदना।
2. शिश्न के मणि भाग में व्रण।
3. व्रण से रक्त, कृष्ण, नील, धूसर व्रण का स्राव।
4. जननेन्द्रिय में टेढापन, कठोरता तथा जलन।
5. ज्वर, अत्यधिक तृष्णा, मूर्च्छा।

उपद्रव—

- व्रणवृद्धि
- रक्तवाहिनी नली में मल जाने से रक्तस्राव
- शिश्न चर्म में विद्रधि
- शिश्न मणि शोथ।

आरम्भ में ही चिकित्सा न करने से शोथ कृमि, दाह, पाक और विदीर्ण शिश्न होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

उपदंश के भेद

वातिक उपदंश—

1. शिश्न पर कृष्ण वर्ण के स्फोट।
2. तोद भेद स्फुरण।

1. संजातमात्रे न करोति मूढः क्रियां नरो यो विषये प्रसक्तः।
कालेन शोथक्रिमिदाहपाकैर्विशीर्णशिश्नो म्रियते स तेन।। (मा. नि. 47/5)
स्फोटैः सकृष्णै रुधिरं स्रवन्तं रक्तात्मकं पित्तसमानलिङ्गम्।
सकण्डुरैः शोथयुतैर्महद्भिः शुक्लैर्घनैः स्रावयुतैः कफेन।। (मा. नि. 47/3)

3. पारुष्य, त्वक्, स्फुटन।
4. मेढ्र स्तब्ध एवं परूष।

पैतिक उपदंश—

1. शिश्न पर पीत या पक्वोदुम्बर-सदृश स्फोट।
2. शिश्न में शोथ।
3. तीव्र दाह।
4. शीघ्र पाक।
5. क्लेदबाहुल्य।
6. वेदना।

कफज उपदंश—

1. शिश्न में स्फोट, शोथ कण्डू।
2. स्फोट, शुक्लवर्ण तथा उनसे गाढ़ा स्राव होता है।
3. कफज लक्षण।

त्रिदोषज उपदंश—

1. नानाविध स्राव।
2. रुजा।
3. वातादि सभी दोषों के लक्षण।
4. शिश्न में अवदारण।
5. कृमि।
6. अन्त में मरण।

रक्तज उपदंश—

1. शिश्न पर कृष्ण वर्ण के स्फोट।
2. स्फोटों से अधिक रक्तस्राव।
3. ज्वर दाह।
4. मुखशोष।
5. पित्त के लक्षण।

पथ्य—वमन, विरेचन, उपस्थ के मध्य में सिरावेध, प्रक्षालन, प्रलेप, जौ, गेहूँ, घृत, करेला।

अपथ्य—लवण, अम्ल-कटु रस द्रव्य, तैल, मसाला, मैथुन, अग्नि धूप।

चिकित्सा-सूत्र

1. रोगी का स्नेहन, स्वेदन करके मूत्रेन्द्रिय के मध्य भाग स्थित सिरावेधन।
2. रक्तमोक्षण।
3. निरूहण बस्ति देकर कोष्ठ शोधन।
4. व्रणपाक होने पर सिरा, स्नायु, मांस, त्वचा गलने पर हो जाय तो औषध/शस्त्रप्रयोग।
5. व्रण में से पूय निकालकर उस पर घृत-मधु मिश्रित तिलकल्क रखे।

6. व्रणप्रक्षालन-हेतु नीम, पीपल, कदम्ब, जामुन, गूलर-बरगद, अर्जुन इत्यादि की छाल का क्वाथ।

सामान्य चिकित्सा—

1. त्रिफला को अन्तर्धूम जलाकर राख पीसकर मधु मिलाकर लगावें।
2. रसौत, शिरीषबीज और हरीतकी समभाग का चूर्ण मधु मिलाकर लेप।
3. गोरखमुण्डी और उशीर का क्वाथ सवेरे-शाम पिलावे।
4. अनन्तादि घृत/भूनिम्बादि घृत पाँच-पाँच ग्राम की मात्रा दूध में सवेरे शाम दें।
5. चोपचीन्यादि चूर्ण—5-5 ग्राम या चोप चीनी पाक 10-10 ग्राम मधु से सवेरे शाम दे।
6. लेप—जायफल, वायविडंग, तूतिया, लवंग } समभाग लेकर मक्खन में मर्दन कर लेप।
7. अमीररस-250 मि. ग्रा. = 2 मात्रा सने आटे के भीतर गोली बनाकर सवेरे-शाम।

सर्जरस चूर्ण	: 2 ग्राम
गौ घृत	: 10 ग्राम
चमेल पत्र स्वरस	: 25 मि. ली.
	2 बार

सिद्धयोग—सवीर वटी, उपदंश गजकेशरी, भल्लातकावलेह, रसगुग्गुल, रसशेखर, भैरवरस।

व्यवस्था-पत्र—

1. अमीर रस—250 मि. ग्रा. = 2 मात्रा, मुनक्के के भीतर रखकर निगलना (सवेरे-शाम)।
2. सारिवाद्यासव—40 मि. ली. = 2 मात्रा, बराबर जल मिलाकर पीना (भोजन के बाद)।
3. आरोग्यवर्धिनी—1 ग्राम = गोदुग्ध से (रात में सोते समय)।

47 श्लीपद

मनुष्यों में जो ज्वरपूर्वक अत्यधिक पीड़ायुक्त शोथ वंक्षण प्रदेश में उत्पन्न होकर क्रमशः नीचे की ओर पैरों में चला जाता है, उसे श्लीपद कहते हैं। कतिपय विद्वान् हाथ, कान, मूत्रेन्द्रिय, ओष्ठ तथा नासिका में भी इसकी उत्पत्ति मानते हैं। यह रोग मुख्यतः पैरों के ऊपर होता है; इसलिए भी इसे श्लीपद कहते हैं।

'श्लीपद' आधुनिक हस्तिपाद (Filarial elephantiasis) से मिलता-जुलता रोग है। श्लीपद का उल्लेख चरक, सुश्रुत एवं वाग्भट—इन तीनों ही संहिता ग्रन्थों में मिलता है। जिस रोग में पैर शिला के समान स्थूल एवं कठोर हो जाय, उसे श्लीपद कहते हैं—**शिलावत् पदं श्लीपदम्।** मधुकोषकार ने शनैः-शनैः वृद्धि को प्राप्त होने वाले घनशोथ (Solid swelling. i.e. non-pitting) को श्लीपद कहा है—**शनैः शनैर्घनशोफं श्लीपदं तत्प्रचक्षते।** प्रायः लटकने वाले अंग (Dependent parts) में इस रोग की उत्पत्ति होती है, विशेष रूप से पैरों में। यद्यपि हस्तादि अन्य अंगों में भी इसके प्रकोप का उल्लेख है। श्लीपद रोग कफप्रधान व्याधि है और पुराण जल भूयिष्ठ तथा नम ऋतु में शीतल होने वाले (Cold and Humid) देशों में विशेष रूप से होता है।

श्लीपद रोग के हेतु, लक्षण, सम्प्राप्ति आदि के विवेचन से स्पष्ट है कि यह आधुनिक फाइलेरिया (Filariasis) से उत्पन्न शोथ (Lymphoedema) है। नम व शीतल प्रदेश में होना, सज्वर (Febrile) पीड़ायुक्त घनशोथ (Tender non pittingoedema), पैरों में प्रायः हस्तिपाद स्वरूप ग्रहण करना इसके प्रमुख लक्षण हैं, जो फाइलेरियेसिस के अत्यन्त समान हैं। पैरों में विशेष रूप से स्थूल घनशोथ (Elephantiasis) दिखाई पड़ने से ही इसको सम्प्राप्तिपरक न देकर दृश्यात्मक नाम 'श्लीपद' देना प्राचीनों ने उचित समझा।

प्रमुख सन्दर्भ—

1. चरकसंहिता, चिकित्सा स्थान, अध्याय 12
2. सुश्रुतसंहिता, निदान स्थान, अध्याय 12
3. सुश्रुतसंहिता, चिकित्सा स्थान, अध्याय 29
4. अष्टांगहृदय, उत्तर स्थान, अध्याय 19
5. माधव

परिभाषा—मनुष्यों में जो ज्वरपूर्वक अत्यधिक पीड़ायुक्त शोथ वंक्षण प्रदेश में उत्पन्न होकर क्रमशः नीचे की ओर पैरों में चला जाता है, उसे श्लीपद कहते हैं। कतिपय विद्वान् हाथ, कान, मूत्रेन्द्रिय, ओष्ठ तथा नासिका में भी इसकी उत्पत्ति मानते है। यह रोग मुख्यतः पैरों के ऊपर होता है, इसलिए भी इसे श्लीपद कहते हैं।

निरुक्ति—

1. शिला के समान स्थूल एवं कठोर पद वाले रोग को श्लीपद कहते हैं।[1]
2. शनैः-शनैः अर्थात् धीरे-धीरे उत्पन्न होने वाले घनशोथ को श्लीपद कहते हैं।[2]

निदान—

1. देश-काल—आनूप देश-सदा पुराने जल से भरे रहने वाले तथा प्रत्येक ऋतु में शीतल रहने वाले देश यहाँ मच्छरों द्वारा फाइलेरिया के जीवाणुओं के प्रसार की सम्भावना अधिक रहती है।[3]
2. कफवर्धक आहार-विहार व कफप्रकोपक।
3. रक्तदूषक आहार-विहार।

उत्पत्ति—

प्रधान कारण—माइक्रो फाइलेरिया नामक जीवाणु।
उत्पादक कारण—फाइलेरिस बैक्रोफ्टाइ।

पूर्वरूप—वंक्षण सन्धि में शूल व शोथ।

सम्प्राप्ति[4]—

माइक्रो फाइलेरिया बैंक्रोफ्टाई → शरीर में प्रवेश → लसीका-वाहिनी लसीका ग्रन्थियों में अपनी वृद्धि → लसीकावाहिनियों का अवरोध → लसीका संग्रह (संचय) → सूजन/शोथ → शिला/पत्थर समान कठोर रूप → **श्लीपद।**

लसीका ग्रन्थि में सूजन होने से शोथ के परिणामस्वरूप शीत के साथ ज्वर उत्पत्ति।

दोष-दूष्य अधिष्ठान[5]—

दोष—कफ प्रधान।

1. शिलावत् पदं श्लीपदम्।
2. शनैः शनैर्घनशोफश्लीपदं तत्प्रचक्षते।
3. पुराणोदकभूयिष्ठा सर्वर्तुषु च शीतलाः।
ये देशास्तेषु जायन्ते श्लीपदानि विशेषतः।। (सु. नि. 12:24)
4. यः सज्वरो वङ्क्षणजो भृशार्तिः शोथो नृणां पादगतः क्रमेण।
तच्छ्लीपदं स्यात् करकर्णनेत्रशिश्नौष्ठनासास्वपि केचिदाहुः।। (मा. नि. 39/1)
5. त्रीण्यप्येतानि जानीयाच्छ्लीपदानि कफोच्छ्रयात्।
गुरुत्वं च महत्त्वं च यस्मान्नास्ति कफं विना।। (सु. नि. 12/13)

दूष्य—रस।
अधिष्ठान—हस्त पादादिगत लसावाहिनियाँ एवं लसग्रन्थियाँ।

सामान्य लक्षण[1]—

1. जंघाओं, पिण्डलियों और पैर के ऊपरी भाग में शोथ।
2. वंक्षण प्रवेश से पीड़-सहित शोथ।
3. तीव्र वेदना।
4. शीतसहित ज्वर।
5. हाथ-पैर और अण्डकोषों में पीड़ा।

विशेष लक्षण—

वातिक[2]	**पैत्तिक**[3]	**कफज**[4]
श्लीपद वर्ण—कृष्ण रूक्ष, फटा हुआ, अत्यन्त वेदनायुक्त, दरारयुक्त, ज्वरसहित होने वाला, अकारण पीड़ा-सा रहना।	श्लीपद वर्ण—पीत दाहयुक्त मृदु ज्वरयुक्त	श्लीपद वर्ण—श्वेत स्निग्ध शोथ पाण्डुयुक्त गुरु-स्थित

चिकित्सा-सूत्र

1. सिरावेध।
2. कफनाशक सम्पूर्ण चिकित्सा।
3. श्लीपद-पीड़ित स्थानों पर सरसों का तेल लगाना।
4. लंघन।
5. स्वेदन।
6. विरेचन।

1. यः सज्वरो वङ्क्षणजो भृशार्तिः शोथो नृणां पादगतः क्रमेण। (मा. नि. 39/1)
2. वातजं कृष्णरूक्षं च स्फुटितं तीव्रवेदनम्।
अनिमित्तरुजं तस्य बहुशो ज्वर एव च।।
पित्तजं पीतसंकाशं दाहज्वरयुतं मृदु।
श्लैष्मिकं स्निग्धवर्णं च श्वेतं पाण्डु गुरु स्थिरम्।। (मा. नि. 39/2-3)
3. पित्तजं तु पीतावभासमीषन्मृदु ज्वरदाहप्रायं च श्लेष्मजं च श्वेतं स्निग्धावभासं मन्दवेदनं भारिकं महाग्रन्थिकं कण्टकैरुपचितं च। (सु. नि. 12/11)
4. परिपोटयुतं कृष्णनिमितमरुजं खरम्।
रूक्षं च वातात्पित्तातु पीतं दाहज्वरान्वितम्।।
कफाद् गुरु स्निग्धमरुक् चित्तं मांसाङ्कुरैर्बृहत्। (अ. ह. उ. 29/20)

सामान्य चिकित्सा—

1. एक मास तक गोमूत्र-मिश्रित एरण्ड तेल का प्रयोग।
2. त्रिवृत् स्नेह का प्रयोग।
3. शुण्ठी-साधित दुग्ध के साथ भात।
4. मधुयुक्त मूत्रल क्वाथ।
5. गोमूत्र के साथ हरीतकी-प्रयोग।
6. लेप—
   (क) देवदारु तथा चित्रक कल्क-लेप।
   (ख) सर्षप-प्रलेप।
7. सर्षप तेल/पूतिकरंज पत्रों का स्वरस।
8. सामान्य प्रमुख योग—
   (क) आरोग्यवर्धिनी
   (ख) त्रिभुवनकीर्ति रस
   (ग) नित्यानन्द रस

विशिष्ट चिकित्सा—

1. **वातज**—गुल्फ सन्धि के ऊपर वाली सिरा का वेध।
2. **पित्तज**—गुल्फ की अध: सिरा का वेध।
3. **कफज**—क्षिप्र मर्म को बचाते हुए अंगुष्ठ के समीप सिरा का वेध।

व्यवस्था-पत्र—

1. महायोगराज गुग्गुल : 1 ग्राम
   मल्लसिन्दूर : 300 मि. ग्राम
   महालक्ष्मी विलास : 300 मि.ग्राम
   3 मात्रा (मधु से) दिन में तीन बार
2. नित्यानन्दरस : 500 मि.ग्राम
   आरोग्यवर्धिनी : 1 ग्राम
   3 मात्रा 1 छोटी इलायची के चूर्ण और मधु से (प्रात:-सायं-मध्याह्न)
3. लोहासव : 30 मि.ली.
   अमृतारिष्ट : 30 मि.ली.
   2 मात्रा समान जल मिलाकर पीना (भोजनोत्तर 2 बार)
4. पुनर्नवा मण्डूर 1—1 मधु से (प्रात:-सायं)।
5. श्लीपद गजकेशरी—200 मि.ग्रा. गर्म जल से (रात में सोते समय)।

6. धुस्तूरादि लेप/दशाङ्गलेप (सिहोर की छाल का लेप)।
7. शाखोटक कषाय 30 मि.ली. दो बार।

पथ्य—

1. पूर्ण विश्राम।
2. जौ, गेहूँ, कुलथी, मूंग, चना, अरहर।
3. कटु, तिक्त व दीपन, पाचन द्रव्यों का प्रयोग।
4. गोमूत्र-सेवन।
5. एरण्ड तेल-सेवन।
6. कफनाशक आहार-विहार।
7. सर्षप तेल।

अपथ्य—

1. कफवर्धक आहार-विहार।
2. नया चावल, उड़द, तिल।
3. दही, गुड़, रबड़ी, मलाई, मिठाई।
4. अभिष्यन्दी पदार्थ।

8|6|

48 स्नायुक

यह कोई प्राचीन व्याधि नहीं है, इसलिए इसका वर्णन माधवनिदान के द्वितीय खण्ड में उपलब्ध है। यह एक प्रकार के कृमि से उत्पन्न होती है। विसर्प रोग की भाँति इसका शरीर में प्रसरण होता है। पाश्चात्य विद्वानों ने इसे Dracontiasis or Guinea worm disease से मिलता हुआ बताया है। दूषित जल के द्वारा मनुष्य में इसका संक्रमण होता है। वातादि भेद से यह 8 प्रकार का होता है—

1. वातज	4. वात-पित्त	7. वात-पित्त-कफ
2. पित्तज	5. वात-कफ	8. रक्तज
3. कफज	6. पित्त-कफ	

जब यह गिर्नावर्म नामक क्रिमिज शरीर में प्रवेश पा लेता है तब पाकयुक्त भाग के टूटने पर बाहर निकलता है। जब यह पूरा नहीं निकलता तो पुन: वेदना, शोथ तथा पाक होता है। इससे कई रोगी अपने हाथ या पैर की गति खो बैठते हैं। पैरों में विशेषत: पीड़ा होती है। इसकी सामान्य चिकित्सा तीन दिन तक घृतपान कराकर पश्चात् निर्गुण्डी स्वरस देकर करनी चाहिए तथा विशेष चिकित्सा इसके विभिन्न वातादि भेद से यथावृत करनी चाहिए।

प्रमुख ग्रन्थ सन्दर्भ—

1. माधव निदान—परिशिष्ट

निदान[1]**—**

1. अत्यन्त वर्षा आदि कारणों से दूषित जल का अधिक सेवन करने से होता है।

2. उससे उत्पन्न हुए क्षत में वहाँ की ऊष्मायुक्त स्नायु को सुखाकर श्वेत तन्तु के समान गोल जीव को उत्पन्न कर धीरे-धीरे त्वचा से बाहर निकलता है।

सम्प्राप्ति—

दूषित जल का सेवन → प्रकुपित दोष शाखाओं में जाकर स्नायु में स्थानसंश्रय → तीव्र पीड़ादायक शोथ → शोथ पाक → स्नायु सूखकर डोरे के रूप में बाहर।

1. अत्यन्तवृष्ट्यादिनिमित्ततो यदा सेवेत दुष्टं बहुशो जलं ना।
शाखासु दोष: कुपितो विसर्पवच्छोथ तदा तस्य विधाय भिन्द्यात्।। (मा. नि.)
सोष्म स्नायुं तत्क्षते तत्र नूनं संशोष्याथो श्वेततन्तूपमं तु।
वृत्तं जीवं संविदध्याद् बहिश्च स्वैरं नि:सरेत् स क्षताच्च।। (मा. नि.)

REFERENCE ONLY

भेद व लक्षण—

भेद[1]	लक्षण: वर्ण	लक्षण: स्पर्श	लक्षण: वेदना
1. वातज[2]	कृष्ण श्याम	शीत	तीव्र पीड़ायुक्त
2. पित्तज[3]	रक्तपित्त	उष्ण	दाहयुक्त
3. कफज[4]	श्वेत	शीत	मन्द वेदना
4. रक्तज	रक्त	उष्ण	अल्प दाह, अल्प पीड़ा
5. वात-पित्त	वात तथा पित्तमिश्रित लक्षण		
6. वात-कफ	वात तथा कफमिश्रित लक्षण		
7. पित्त-कफ	पित्त तथा कफमिश्रित लक्षण		
8. वात-पित्त-कफ	सन्निपातज लक्षण		

चिकित्सा-सूत्र

सामान्य चिकित्सा—

1. सर्वप्रथम निदान परिवर्जन।
2. स्वच्छ जल।
3. स्नेहन।
4. स्वेदन।
5. लेप।
6. तीन दिन तक घृतपान, पश्चात् निर्गुण्डी स्वरस।
7. बबूल के बीज पीसकर लेप।
8. विसर्पवत् चिकित्सा।

विशेष चिकित्सा—

1. **वातिक स्नायुक**—अहिस्रामूल को गोमूत्र में घोटकर लेप।
2. **कफज स्नायुक**—पञ्चवल्कल कल्क का लेप।
3. **कफज स्नायुक**—काचनार की छाल पीसकर लेप।
4. **रक्तज स्नायुक**—बड़ और आमलकी की छाल का लेप।
5. द्वन्द्वज तथा सन्निपातज स्नायुक में अपने विवेक द्वारा देश, काल, अग्नि आदि से चिकित्सा करनी चाहिए।

1. स स्याद्दोषाणां त्रयेण त्रिलिङ्गश्चैत्यं रोग: स्नायुसंज्ञोऽष्टधा तु।
वैद्यै: प्रोक्त: प्राणहारी विशेषान्नानोपद्रुत्यन्बितोऽयं प्रमादात्।। (मा. नि.)
2. श्वासो रूक्षो वायुना चातिपीड़ायुक्तो नूनं तन्तुक: स प्रदिष्ट:।। (मा. नि.)
3. पित्तेनाथो नीलिमोपेतपीतोऽवश्यं दाहेनान्वितो दृश्यतेऽपि।। (मा. नि.)
4. स्थूल: श्वेत: श्लेष्मणा स्याद्गरीयान् रोगो नाम्ना स्नायुको दुष्टरोगा:। (मा. नि.)